पीएच.डी.

हिन्दी गद्य साहित्य के विकास में निर्मल वर्मा का योगदान

CONTRIBUTION OF NIRMAL VERMA IN THE EVOLUTION OF HINDI PROSE

(पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध)

संदीप कुमार जायसवाल

शोध-निर्देशक

डॉ० रमण प्रसाद सिन्हा

शोधार्थी

संदीप कुमार जायसवाल

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2012

जे.एन.यू. 2012

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
NEW DELHI-110067, INDIA

Dated : / / 2012

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. Thesis entitled **"CONTRIBUTION OF NIRMAL VERMA IN THE EVOLUTION OF HINDI PROSE"** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

SANDEEP KUMAR JAISWAL
(Research Scholar)

DR. RAMAN PRASAD SINHA
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. RAM BUX JAT
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

भूमिका **i-iv**

प्रथम अध्याय : हिंदी गद्य साहित्य का उद्‌भव और विकास **1-49**

(i) हिंदी गद्य की अवधारणा

(ii) हिंदी गद्य का इतिहास

द्वितीय अध्याय : हिंदी गद्य के प्रतिमान **50-93**

(i) अभिव्यक्ति या संप्रेषण

(ii) अनुभूति और गद्य

तृतीय अध्याय : निर्मल वर्मा का गद्य : कहानी **94-165**

(i) निर्मल पूर्व हिंदी कहानी

(ii) निर्मल की कहानियाँ : संवेदना

(iii) निर्मल की कहानियाँ : शिल्प

चतुर्थ अध्याय : निर्मल वर्मा का गद्य : उपन्यास **166-239**

(i) निर्मल पूर्व हिंदी उपन्यास

(ii) निर्मल के उपन्यास : संवेदना

(iii) निर्मल के उपन्यास : शिल्प

पंचम अध्याय : निर्मल वर्मा का गद्य : कथेतर साहित्य
(यात्रा-संस्मरण, निबंध, पत्र एवं डायरी) **240-319**

(i) निर्मल पूर्व हिंदी गद्य का यात्रा संस्मरण, निबंध, पत्र एवं डायरी साहित्य

(ii) निर्मल के यात्रा-संस्मरण, निबंध, पत्र एवं डायरी साहित्य की संवेदना

(iii) निर्मल वर्मा के यात्रा-संस्मरण, निबंध, पत्र एवं डायरी साहित्य का शिल्प

उपसंहार : निर्मल वर्मा का हिंदी गद्य साहित्य के विकास में योगदान **320-329**

संदर्भ-ग्रंथ सूची **330-338**

भूमिका

निर्मल वर्मा हिन्दी साहित्य के महत्वपूर्ण गद्यकार हैं। इनकी विशेष ख्याति नई कहानी के कहानीकार के रूप में ही अधिक है। पर इन्होंने गद्य की कई प्रमुख विधाओं में लिखा है जिनमें उपन्यास, निबंध, यात्रा-संस्मरण, पत्र, डायरी आदि उल्लेखनीय हैं। इन विभिन्न विधाओं के माध्यम से उन्होंने अपनी अनूठी भाव-संवेदना एवं भाषा का परिचय दिया है। विभिन्न आलोचकों-लेखकों ने उनके सृजन-कर्म को अपने-अपने ढंग से उद्‌घाटित किया है। उनके ऊपर कई महत्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं, जिनमें मुख्य हैं - अशोक वाजपेयी द्वारा संपादित 'निर्मल वर्मा', प्रेम सिंह द्वारा संपादित 'निर्मल वर्मा : सृजन और चिंतन', नंद किशोर आचार्य द्वारा संपादित 'अवलोकन', प्रो० जी. गोपीनाथन द्वारा संपादित 'निर्मल विमर्श' और मदन सोनी की 'कथा पुरुष', सुधीश पचौरी की 'निर्मल वर्मा और उत्तर उपनिवेशवाद', सुल्तान अहमद की 'कहानीकार निर्मल वर्मा' आदि। इसके अलावा निर्मल वर्मा पर केन्द्रित कुछ शोध-ग्रन्थ भी मिलते हैं और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उन पर प्रकाशित आलोचनात्मक लेख भी।

इन सभी पुस्तकों और लेखों में प्रायः निर्मल वर्मा के साहित्य के किसी एक पक्ष अथवा विधा को आधार बनाकर अपनी बात कही गई है। उदाहरण के तौर पर सुल्तान अहमद की पुस्तक में निर्मल वर्मा की केवल कहानियों की चर्चा की गयी है। इसी तरह संपादित पुस्तकों में भी लेखकों ने उनके सृजन कर्म के किसी एक बिन्दु को दृष्टिगत रखकर अपने लेख लिखे हैं। जैसे कि अशोक वाजपेयी द्वारा संपादित पुस्तक में मलयज निर्मल की कहानियों में स्मृति तत्व के बारे में लिखते हैं। ध्यान दें - स्मृति तत्व की भूमिका को निर्मल के सम्पूर्ण साहित्य में लक्षित किया जा सकता है। कहानी से लेकर पत्र-साहित्य तक। पर अभी तक मेरी दृष्टि में निर्मल पर केन्द्रित कोई ऐसी पुस्तक नहीं आई है जो उनके सम्पूर्ण रचना-कर्म पर केन्द्रित हो। जो संवेदना के साथ-साथ शिल्प और कथा और कथेतर के अद्वैत को भी उद्‌घाटित करता हो। स्मृति तत्व की ही अगर बात करें तो उसने संवेदना के अतिरिक्त उनके गद्य-शिल्प को कितना प्रभावित किया है, इस बात की चर्चा भी

आलोचकों के किसी लेख में नहीं मिलती। इसी तरह निर्मल के साहित्य में कथा और कथेतर के द्वैत-अद्वैत के प्रश्न को लेकर किसी आलोचना पुस्तक में कोई गंभीर विमर्श नहीं मिलता। निर्मल की वैचारिकी उनके कथा-साहित्य को कहाँ तक प्रभावित कर सकी है अथवा कथा की संवेदना ने वैचारिक गद्य को किस स्तर तक प्रभावित किया है, इन बातों की चर्चा किसी लेख में नहीं मिलती। निबंध साहित्य में निर्मल द्वारा प्रस्तुत किये गये विमर्श जैसेकि भारतीय परम्परा और उसका विशिष्ट काल-बोध, आत्म और अन्य की संकल्पना ही क्या उनके कथा साहित्य में स्मृति तत्व के रूप में और अकेलेपन से मुक्ति की आकांक्षा के रूप में चित्रित है अथवा इनमें कोई अन्तर है। इसी तरह मृत्यु-बोध संबंधी चिंतन नियति-बोध आदि को लेकर कथा-कथेतर के द्वैत-अद्वैत पर कोई विस्तृत आलोचनात्मक लेख नहीं मिलता।

कहा जाता है कि निर्मल का गद्य संगीतात्मक है। क्या यह संगीतात्मकता कहानी में पृष्ठभूमि में पियानो के बजने के कारण ही है या फिर यह भाषा की अपनी आन्तरिक संरचना के कारण पैदा हुई है और संगीतात्मकता की दृष्टि से क्या उनके गद्य की प्रकृति एक जैसी है या निर्मल के सम्पूर्ण गद्य की प्रकृति कैसी है? इसके अलावा उनका विशिष्ट गद्य अपने पूर्ववर्ती और समकालीन गद्यकारों से कैसे अलग है। किस तरह से वह भारतेन्दु, प्रेमचंद आदि की गद्य-परम्परा को तोड़कर अपने लिए एक नई राह चुनते हैं। हिन्दी गद्य को उन्होंने 'नया' क्या दिया है जिसके कारण उनके गद्य को अतिविशिष्ट कहा जाता है। इन सब बिन्दुओं पर यहाँ विस्तार से विचार करने का प्रयास किया गया है।

हिन्दी गद्य का मूल्यांकन प्रायः काव्यशास्त्रीय मानदण्डों के आधार पर ही किया जाता रहा है। गद्य का अपना शास्त्र क्या हो, एक अच्छे गद्य की कसौटी क्या हो? और स्वयं अच्छे गद्य के मानदण्डों के आधार पर निर्मल वर्मा के गद्य का मूल्यांकन कैसे हो, यह वे बहुत से कारण हैं जो निर्मल वर्मा के गद्य का नये सिरे से मूल्यांकन करने को प्रेरित करते हैं। मेरे शोध-निर्देशक ने कहा कि समग्रता के आग्रही इस लेखक को उनके सम्पूर्ण साहित्य के अध्ययन से ही ठीक से समझा जा सकता है, इसलिए उनके सम्पूर्ण गद्य-साहित्य पर काम करना उचित होगा। फिर मैंने निश्चय किया उनके सम्पूर्ण गद्य-साहित्य पर शोध करने का।

निर्मल का गद्य अपने पूर्ववर्ती गद्यकारों से कैसे भिन्न है और उनका हिन्दी गद्य के विकास में क्या योगदान है इस बात को दृष्टिगत रखते हुए इस शोध-प्रबंध की रूपरेखा तय की गयी। यह शोध-प्रबंध निर्मल के सम्पूर्ण गद्य की प्रकृति को समझने की एक छोटी सी कोशिश है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध को पाँच अध्यायों में बांटकर प्रस्तुत किया गया है।

पहला अध्याय 'हिन्दी गद्य साहित्य का उद्‌भव और विकास' है। इसके पहले उप-अध्याय में हिन्दी गद्य की अवधारणा को परिभाषित किया गया है। दूसरे उप-अध्याय में हिन्दी गद्य के उद्‌भव और विकास की संक्षिप्त यात्रा प्रस्तुत की गई है। हिन्दी गद्य की यह विकास यात्रा निर्मल वर्मा तक प्रस्तुत की गई है। निर्मल अपने पूर्ववर्ती गद्यकारों से कैसे अलग हैं, इस बात को दृष्टिगत रखते हुए यहाँ अलग-अलग कालखण्ड में हिन्दी गद्य का परिचय देने की कोशिश की गई है।

दूसरा अध्याय 'हिन्दी गद्य के प्रतिमान' है। इस अध्याय में हिन्दी गद्य के मूल्यांकन के लिए उपयुक्त प्रतिमानों की तलाश की गई है। 'अच्छा गद्य' कैसा होता है इस दृष्टि से संस्कृत काव्यशास्त्रों एवं गद्य परम्परा से लेकर भारतीय आख्यान परम्परा की विशिष्टताओं पर विचार किया गया है। इसके साथ ही अच्छे गद्य की कसौटी को लेकर अभिव्यक्ति, अनुभूति और संप्रेषण के मुद्दे पर विचार किया गया है। इसी संदर्भ में गद्य में शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास, आख्यान की प्रकृति, विभिन्न गद्य-रूपों के संश्लेष, विचार और अनुभूति के संतुलन आदि को लेकर भी बात की गई है।

तीसरा अध्याय 'निर्मल वर्मा का गद्य : कहानी' के पहले उप-अध्याय में निर्मल वर्मा के पूर्व कहानी साहित्य का अध्ययन किया गया है। दूसरे उप-अध्याय में निर्मल वर्मा के कहानियों की मुख्य संवेदना - स्मृति, नियति बोध, अकेलापन आदि का अध्ययन किया गया है। तीसरे उप-अध्याय में निर्मल वर्मा के कहानियों के शिल्प की विशिष्टताओं का अध्ययन किया गया है। हिंदी कहानी शिल्प को नया आयाम देने की दृष्टि से उनकी कहानियों की भाषा, बिंबात्मकता, लयात्मकता, उपमा विधान, सांकेतिकता आदि का अध्ययन किया गया है।

चौथा अध्याय 'निर्मल वर्मा का गद्य-उपन्यास' के पहले उप-अध्याय में निर्मल वर्मा के पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य का संक्षिप्त विश्लेषण किया गया है। उपन्यास साहित्य को एक नया भावबोध देने की दृष्टि से उनके उपन्यास साहित्य की मुख्य संवेदना - अकेलापन, मृत्यु, स्मृति, भय और आतंक का परिवेश आदि का अध्ययन किया गया है। तीसरे उप-अध्याय में निर्मल वर्मा के उपन्यास की संरचना और भाषा पर विचार किया गया है।

पाँचवा अध्याय 'निर्मल वर्मा का गद्य : कथेतर साहित्य (यात्रा-संस्मरण, निबंध, पत्र एवं डायरी) है। इस अध्याय में भी निर्मल वर्मा के पूर्ववर्ती गद्यकारों के यात्रा-संस्मरण, निबंध, पत्र और डायरी साहित्य का संक्षिप्त विश्लेषण किया गया है। निर्मल के कथेतर गद्य की संवेदना में विचार और अनुभूति के संश्लेष को दृष्टिगत रखते हुए उनके निबंध, डायरी साहित्य की वैचारिकी के मुख्य बिन्दुओं - भारत और यूरोप, आत्म और अन्य की संकल्पना, कला की स्वायत्तता का प्रश्न, स्मृति तत्व की भूमिका आदि का अध्ययन किया गया है। इसके साथ ही यात्रा-संस्मरण, पत्र साहित्य की संवेदना का भी अध्ययन किया गया है। कथेतर गद्य के शिल्प का - गद्य की प्रकृति, भाषा, शब्द चयन, निबंध-शैली, वाक्य-विन्यास, लयात्मकता, विभिन्न गद्य-रूपों का संश्लेष आदि विभिन्न सन्दर्भों में अध्ययन किया गया है।

उपसंहार में हिन्दी गद्य साहित्य को अपनी भाषिक सर्जनात्मकता एवं अनूठी भाव संवेदना के द्वारा एक नया आयाम देने की दृष्टि से निर्मल वर्मा के योगदान का संक्षिप्त मूल्यांकन किया गया है।

यह शोध-प्रबंध मैं अपने शोध-निर्देशक डॉ० रमण प्रसाद सिन्हा के कुशल निर्देशन में पूरा कर सका। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

अन्त में अपने परिजनों, मित्रों का हार्दिक आभार जिनकी शुभकामनाओं से यह शोध-कार्य पूर्ण हो सका।

धन्यवाद।

नई दिल्ली

- संदीप कुमार जायसवाल

प्रथम अध्याय

हिंदी गद्य साहित्य का उद्‌भव और विकास

(i) हिंदी गद्य की अवधारणा

पद्य और गद्य किसी भी भाषा साहित्य के दो प्रमुख रूप हैं। साहित्य अपने को इन्हीं दो रूपों में अभिव्यक्त करता है जिसके अन्य अनेक उपभेद हैं। पद्य और गद्य में मुख्य अंतर यह है कि पद्य छदंबद्ध रचना होती है जबकि गद्य छंदमुक्त। गद्य में भी लय हो सकता है पर वह पिंगल शास्त्र के नियमों से बंधी नहीं होती। "गद्य शब्द संस्कृत की 'गद्' धातु से व्युत्पन्न है। जिसका अर्थ है स्पष्टतः कहना अथवा बोलना। पद्य 'पद्' धातु से बना है जो गति की वाचिका है। इस प्रकार धात्वर्थानुसार स्पष्ट अभिव्यक्ति वाला वाङ्मय गद्य है और गति अर्थात् लय से युक्त वाङ्मय पद्य। वास्तव में गद्य पद्य भाषा के दो रूप है, एक बोलचाल वाला स्वच्छंद और स्वाभाविक, दूसरा गति, यति, मात्रा आदि के बंधन में बंधा हुआ और बहुत कुछ कृत्रिम। भाषा के इन रूपों में प्रमुख अंतर गति अर्थात् लय का है। पद्य के लिए लय अनिवार्य है, लय ही उसका मूलतत्व है। यह तत्व गद्य में भी हो सकता है परन्तु गद्य की लय अनियत होती है जबकि पद्य की नियत।"[1]

संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर में गद्य का अर्थ इस प्रकार दिया है -

"वह लेख जिसमें मात्रा और वर्ण की संख्या और स्थान आदि का कोई नियम न हो। वार्तिक। पद्य का उल्टा।

उसी शब्द सागर में पद्य का यह अर्थ दिया है -

जिसमें कविता के पद हो। पिंगल के नियमों के अनुसार मात्रा या वर्ण के चार चरणों वाला छंद / कविता / गद्य का उलटा।"[2]

भगवती चरण वर्मा गद्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं - "शब्द की संज्ञा पारिभाषिक है और शब्दों के समूह को व्याकरण के नियमों से बांधकर पारिभाषिक ज्ञान को वहन करने वाला जो माध्यम है उसे हम गद्य कहते हैं और इन वाक्यों को बौद्धिक तारतम्य में बांधकर जो कुछ लिखा या कहा जाता है उसे गद्य का नाम दिया गया है। वैसे समस्त वाक्य विन्यास ही गद्य के अन्तर्गत आता है, लेकिन लयात्मक गति में बंधे वाक्य विन्यास

को एक अलग नाम दिया गया है – पद्य। और इस पद्य के संदर्भ में गद्य को एक पृथक संज्ञा के रूप में स्वीकार किया गया है।"[3]

अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक सर एडमंड गॉस ने एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में गद्य की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "हर प्रकार की सजग साहित्यिक अभिव्यक्ति जो छंदबद्ध नहीं है, गद्य रचना होती है।"[4]

केदारनाथ अग्रवाल लिखते हैं – "जिस प्रकार पद्य की सबसे बड़ी देन छन्द-शास्त्र है उस प्रकार गद्य की सबसे बड़ी देन व्याकरण शास्त्र है। यह सच है कि पद्य में भी व्याकरण के नियमों का पूर्ण ध्यान रखा जाता है किन्तु उसमें छंद के नियमों का विशेष प्रतिपालन होता है और वही प्रतिपालन पद्य की विशेषता होती है।"[5]

शिवदान सिंह चौहान गद्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं – "जब हम गद्य शब्द का प्रयोग करते हैं तब उसका अर्थ कविता से भिन्न एक विशेष प्रकार की साहित्यिक अभिव्यक्ति से होता है। साहित्यिक अभिव्यक्ति का तात्पर्य है कि शब्द-चयन, वाक्यविन्यास, विचार योजना तथा अर्थसंगति, इन सभी दृष्टियों से वह सुचिंतित, सजग, यत्न-साध्य, संयत और अनुशासित अभिव्यक्ति है न कि शब्दों, विचारों और वस्तुओं की असंबद्ध सूची मात्र। पद्य की तरह गद्य में भी अपनी अंतर्लय होती है, यद्यपि पद्य की तरह गद्य छंदोबद्ध रचना नहीं है। इसी कारण गद्य और पद्य के बीच कोई स्थायी विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं है। कविता की भाषा गद्यात्मक हो सकती है गद्य की भाषा काव्यमय। फिर भी दोनों का नाम भेद केवल सुविधा के लिए ही नहीं है। दोनों की अपनी विशिष्टताएं हैं। गद्य की विशेषता है कि –

(1) उसमें वाक्य छंदबद्ध पद्य की तरह एक से वजन के नहीं होते, अर्थात् पिंगल के नियमों से बंधे नहीं होते।
(2) उसमें जिन विचारों को अभिव्यक्ति दी जाती है उनका क्रमागत संबंध व्याकरण से अनुशासित और तर्कसंगत होता है अर्थात् उसमें विचार परस्पर-संबद्ध होते हैं।

(3) उसमें शैली का गुण अनिवार्य है, यद्यपि हर लेखक की शैली अपनी होती है, अर्थात् दूसरे लेखकों से विशिष्ट होती है।

(4) उसमें वाक्य विन्यास और वाक्य-रचना की विशिष्टता से अभिव्यक्ति में वैविध्य प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है।"[6]

आचार्य श्याम सुंदरदास ने 'साहित्यालोचन' में पद्य-गद्य के संबंध में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है - "पद्य में संगीतात्मकता की छाया अधिक स्पष्ट और प्रभावशालिनी दिख पड़ती है, कल्पना का अधिक अनिवार्य रूप देख पड़ता है और उसकी रसमयता भी अधिक बलवती समझ पड़ती है। पद्य का स्वर अधिकांश में तालबद्ध होता है, भक्तों के पद तो संगीत के ढांचे में ही ढले हुए हैं। गद्य में मनुष्य की बुद्धि की क्रिया अधिक प्रबल रूप में प्रतिफलित होती है, पद्य में उसकी भावना की गति अधिक तीव्र होती है। गद्य में चरण पद्य की भांति नृत्य नहीं करते, यति आदि का नियम नहीं माना जाता।"[7]

श्री रमाकान्त त्रिपाठी 'हिंदी मीमांसा' में लिखते हैं - "गद्य अर्थात् भाषा का वह स्वरूप जिसे छोटे बड़े, शिक्षित और अशिक्षित पुरुष और स्त्रियां प्रतिदिन सांसारिक व्यवहार में हर्ष और शोक, प्रेम और घृणा के भावों को व्यक्त करने में प्रयोग करते हैं।"[8]

पंडित बलदेव उपाध्याय ने गद्य को विचारों के प्रकाशन का मुख्य साधन बताया है। 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में वह लिखते हैं "गद्य तो विचारों को प्रकट करने का मुख्य माध्यम है।"[9]

बाबू गुलाबराय 'काव्य के रूप' शीर्षक पुस्तक में गद्य-पद्य के संबंध में लिखते हैं - "गद्य का संबंध गद् धातु से है, वह बोलचाल की स्वाभाविक भाषा है। पद्य का संबंध पद् से है इसलिए उसमें नृत्त की सी गति रहती है। वह भाव की गति और शक्ति के साथ बहती है।"[10]

श्री सद्गुरु शरण अवस्थी 'हिंदी गद्य गाथा' में लिखते हैं, "यह बात निर्विवाद है कि किसी राष्ट्र अथवा युग के साहित्य की आत्मा से परिचय प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु सदैव

उसके काव्य के उपवन में पर्दापण करते चले आये हैं - किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जनसाधारण में प्रचलित विचार विनियम के साधन अर्थात् गद्य का, साहित्य के सृजनोद्योग में कोई अंश नहीं रहता अपने नित्यप्रति के संभाषणों में जिस कथन प्रणाली को आधार बनाकर हम अपने हृदयगत भाव शोक, हर्ष, रोध आदि प्रकट करते हैं जिसे सभी आबाल वृद्ध स्त्री-पुरुष समान रूप से व्यवहार में लाते हैं उसकी उपादेयता कविता अथवा पद्य के सम्मुख नगण्य नहीं है।"[11]

डॉ० रामचन्द्र तिवारी के अनुसार "पद्य हृदय की संवेदनात्मक वृत्तियों की अभिव्यक्ति है और गद्य मस्तिष्क के तर्क प्रधान चिंतन की अभिव्यक्ति।"[12]

हरबर्ट रीड अपनी पुस्तक इंग्लिश प्रोज स्टाइल में लिखते हैं "कविता सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है - क्रिएटिव एक्सप्रेशन और गद्य निर्माणात्मक अभिव्यक्ति : कन्स्टक्टिव एक्सप्रेशन।"[13] सर्जन एवं निर्माण दोनों के अर्थों में पर्याप्त अन्तर है। इसे स्पष्ट करते हुए डॉ० श्यामवर्मा लिखते हैं - "सर्जन सर्वथा नूतन वस्तुओं का उद्भावन है और निर्माण पहले से प्राप्त वस्तुओं में व्यवस्था कायम कर एक नया स्वरूप प्रदान करना है। इसे समझने के लिए यदि रूपक का सहारा लिया जाए तो कहा जा सकता है कि किसी भवन के निर्माण के पहले इंजीनियर जब अपनी कारयित्री प्रतिभा एवं कल्पना द्वारा भवन का नक्शा तैयार करता है तब वह नूतन वस्तु का उद्भावन करता है तथा उस नक्शे के आधार पर कारीगर जब ईंट चूना, गारा, लोहा, लकड़ी को व्यवस्थित रूपाकार प्रदान कर एक भवन निर्माण कर देता है तब सर्जना नहीं निर्माण कहा जाएगा। हरबर्ट रीड के अनुसार ये दोनों कार्य मस्तिष्क की भिन्न वृत्तियों का परिणाम है। एक वृत्ति प्रभावों को ग्रहण करती है, घनीभूत करती है, एकाग्र करती है तथा रासायनिक क्रिया की भाँति एक नयी वस्तु का उद्भावन करती है। दूसरी वृत्ति प्रभावों एवं तथ्यों का संग्रह करती है और आवश्यकता पड़ने पर स्मृति के भांडार से बाहर निकाल कर उनका वितरण कर देती है। उनमें जो परिवर्तन होता है वह भौतिक क्रिया की भांति होता है। पहली काव्य को जन्म देती है दूसरी गद्य को। इस तरह गद्य पहले से बने बनाये शब्दों का व्यवस्थित रूप है, कविता में शब्दों का जन्म और

पुनर्जन्म होता है। इसलिए गद्य में प्रत्येक शब्द निश्चित रूप आकार एवं अर्थ वाला होना चाहिए जो उसे परम्परा से प्राप्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक शब्द परिचित एवं प्रचलित होना चाहिए। इसके विपरीत कविता में नए एवं अनजाने शब्दों का व्यवहार भी होता है, पुराने शब्द भी नया संदर्भ ग्रहण करते हैं। कविता में व्यवहृत प्रत्येक शब्द स्वयं गतिशील एवं क्रियाशील होता है।"[14]

गद्य और पद्य का एक प्रमुख अंतर यह भी है कि पद्यात्मक अभिव्यक्ति संकेतात्मक होती है और गद्यात्मक अभिव्यक्ति विवरणात्मक। डॉ० श्याम वर्मा के अनुसार "कवि अपने भावों एवं विचारों की और इशारा मात्र करके संतोष पा जाता है किन्तु गद्य लेखक को यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसके पाठक उसकी बात का ठीक वही अर्थ समझें जो वह समझाना चाहता है, इसलिए उसे अपने कथन को बहुत स्पष्ट रूप से व्यक्त करना पड़ता है। ....शब्द काव्य में व्यवहृत होकर अर्थ को ध्वनित करते हैं, गद्य में अर्थ स्पष्ट करते हैं।"[15]

डॉ० रामचन्द्र तिवारी के अनुसार "साहित्य मानव-चेतना की अभिव्यक्ति है। चेतना अनुभूति की सघनता तथा चिंतन के समन्वित आधार पर स्वरूप ग्रहण करती है। अनुभूति का संबंध हृदय की संवेदनशीलता से है और चिंतन वस्तुतत्व के स्थितिबोध के लिए उठने वाली शंकाओं, जिज्ञासाओं तथा प्रश्नों के बौद्धिक समाधान का दूसरा नाम है। ...अनुभूति और चिंतन चेतना की ये दोनों सीमाएँ, सत्तागत भेद के कारण अभिव्यक्तिगत शैली-भेद भी स्थापित कर लेती हैं। हृदय की संवेदनशील वृत्तियाँ विशिष्ट छंद, स्वर, लय, गति, प्रवाह तथा ध्वनि के आधार पर मूर्त्त होकर पदरचना में सौष्ठव ला देती हैं। शब्दों में नादसौंदर्य आ जाता है। ...संवेदनात्मक वृत्तियों की यह अभिव्यक्ति-शैली सामान्यतः पद्य कही गई है। दूसरी ओर चिंतन, जटिल समस्याओं के बौद्धिक समाधान, तर्कों की शृंखला, विचारों के क्रम, नियमों की मर्यादा तथा सूक्ष्मता की सीमाओं में बँधकर मूर्त्त होता है। शब्दरूपों में संयम आ जाता है। वाक्य-रचना में अर्थ-तत्त्वों की स्थिति-बोध के लिए संबंध-तत्त्वों की परम्परा-विहित प्रणाली का अनुसरण किया जाता है। चिंतन की छंदमुक्त इस अभिव्यक्ति शैली को सामान्यतः गद्य कहा गया है।"[16]

गद्य और पद्य में मुख्य अंतर 'लय' का तो होता ही है, "इसके अतिरिक्त गद्य प्रायः तथ्यात्मक होता है जबकि पद्य प्रायः भावात्मक होता है। गद्य में व्याख्या और विवेचन संभव है, जबकि पद्य में बातों को या तो घटाकर या बढ़ा चढ़ाकर कहने की प्रवृत्ति होती है।"[17] चिंतनशीलता और भाव प्रवणता के आधार पर गद्य और पद्य को व्याख्यायित करते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं - "गद्य महज बोलचाल के लिए है और कविता है विशिष्ट क्षणों की अनुभूति। भाव प्रवणता कविता की विशेषता है तो चिंतनशीलता गद्य की और कविता के अनुभव का आस्वाद विशिष्ट जन समुदाय के लिए है जबकि गद्य के वर्णन का संबंध व्यापक जनसमाज से। कुल मिलाकर ये विशेषताएँ गद्य के मूल जनतांत्रिक स्वरूप की ओर संकेत करती है।"[18]

जार्ज लुकाच इस संदर्भ में लिखते हैं - "जहाँ महाकाव्य उस जीवन समग्रता को रूप प्रदान करता है जो अपने भीतर से ही वृत्ताकार होती है, वहाँ उपन्यास रूप का प्रयोग करते हुए छिपी हुई जीवन समग्रता का अनावरण और निर्माण करना चाहता है। महाकाव्य का स्वभाव बच्चे जैसा सरल होता है जबकि उपन्यास इसके ठीक विपरीत परिपक्व और सशक्त होता है।"[19]

काव्य में मितकथन का सौंदर्य होता है। कम से कम शब्दों द्वारा विलक्षण अर्थ प्रतीति होती है। गद्य में वाक्य का सौंदर्य होता है। वर्णन का कौशल होता है। शब्द और अर्थ के संबंध के आधार पर गद्य और पद्य का भेद दिखलाते हुए डॉ० शिवकुमार शाण्डिलय कहते हैं - "गद्य भाषा में अर्थ निर्धारण प्रणेता करता है जबकि काव्य-भाषा में अर्थ-निहिति की दिशा के निर्धारण में प्रणेता के साथ-साथ श्रोता अथवा पाठक सतत प्रयत्नशील रहता है। गद्य भाषा में अर्थ नितान्त रुढ़ होता है, काव्य भाषा में अर्थ की क्षण-क्षण नवीनता अपेक्षित है।"[20]

काव्य में भावनात्मक अभिव्यक्ति प्रमुख होती है, जबकि गद्य में स्पष्ट संप्रेषण की भावना निहित है। उसमें वैचारिक तनाव की भूमिका होती है। भगवती चरण वर्मा के अनुसार "पद्य और गद्य का अंतर इतना है कि जहाँ अपनी लयात्मक गति के कारण पद्य में

भावना की अभिव्यक्ति के अवयव है वहाँ गद्य शुद्ध रूप से बुद्धि को वहन करने का माध्यम है। मनुष्य को समस्त आदान प्रदान बौद्धिक होने के नाते गद्य के माध्यम से होता है। मनुष्य का समस्त भौतिक विकास, जो शुद्ध ज्ञान पर आधारित है गद्य के माध्यम से ही हो सकता है। और इसलिए आज के युग में गद्य ने अत्यधिक महत्ता प्राप्त कर ली है।"[21]

संक्षेप में गद्य भाषा–साहित्य के उस रूप को कहते हैं, जो छंद के नियमों से मुक्त है। पद्य की तरह लयात्मकता इसमें भी हो सकती है पर यह गति, यति, तुक, मात्रा के नियमों से बंधी नहीं होती। इसमें संप्रेषण एवं वैचारिकता की प्रधानता होती है। यह बोलचाल एवं व्यवहार के लिए प्रयुक्त की जाती है। इसमें एक व्यवस्थित वाक्य विन्यास होता है। कहानी, उपन्यास, निबंध, पत्र, डायरी, संस्मरण, यात्रा–वृत्त, रिपोतार्ज, जीवनी, आत्मकथा, आदि इसकी विभिन्न विधाएँ हैं।

(ii) हिंदी गद्य का इतिहास

आधुनिक हिंदी गद्य का विकास विभिन्न देश भाषाओं और बोलियों के मेल से हुआ है। हिंदी का जन्म प्राकृत भाषा के प्रवाह में विकसित अपभ्रंश नाम की भाषा से हुआ। अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय रूपों से कालान्तर में आधुनिक भारतीय भाषाओं एवं बोलियों का विकास हुआ। जिनमें ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मारवाड़ी, खड़ी बोली आदि आती हैं।

खड़ी बोली दिल्ली–मेरठ के आस पास बोली जाने वाली बोली है। इसका जन्म ग्यारहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से वैसे ही हुआ जैसे अन्य हिंदी बोलियों का हुआ। खड़ी बोली ने धीरे–धीरे ब्रज और अवधी को पीछे छोड़कर अखिल भारतीय स्तर पर अपना प्रसार कर लिया और हिंदी भाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई। नाथपंथी जोगियों के माध्यम से यह राजस्थान, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल में फैली। इन प्रदेशों में खड़ी बोली गद्य संस्कृत, ब्रज, अवधी, मैथिली और राजस्थानी का आधार लेकर विकसित हो रही थी। वहीं दूसरी ओर यह दक्षिण में महानुभाव, वारकरी संतों और मुसलमानों के द्वारा विकसित हो रही थी। दक्षिण में खड़ी बोली अरबी और फारसी के मेल से दक्खिनी हिंदी के रूप मे प्रसिद्ध हुई।

इस तरह आधुनिक हिंदी गद्य ने संस्कृत, उर्दू, दक्खिनी, हिंदी, ब्रज, मैथिली, अवधी आदि के सम्मिलित प्रभावों से अपना रूप ग्रहण किया। हालांकि अपने विकास क्रम में वह क्षेत्रीय बोलियों के प्रभाव से मुक्त होती गई पर उस पर संस्कृत और उर्दू का प्रभाव बना रहा जो विभिन्न युगों के गद्य लेखकों की शैलियों में दृष्टिगत होता है।

ब्रजभाषा गद्य

भारतेन्दु पूर्व हिंदी गद्य में सबसे समृद्ध गद्य ब्रजभाषा का रहा है क्योंकि "अपभ्रंश के पश्चात् ब्रज ही देश की अंतरप्रांतीय साहित्य भाषा थी। धार्मिक कारणों से वह समस्त देश में फैल गई थी।"[22] ब्रज भाषा का प्राचीनतम रूप आचार्य शुक्ल ने सं० 1400 ई० के लगभग लिखित नाथपंथियों के ग्रंथों में माना है। अनेक विद्वानों ने इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता के विषय में संदेह जताया है। इस बारे में डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं – "ब्रजभाषा गद्य की प्रामाणिक अखण्ड परम्परा भक्तिकाल के कृष्णभक्तों द्वारा प्रयुक्त गद्य से ही मानना समीचीन होगा।"[23] डॉ० बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे के अनुसार "इस काल में वल्लभ सम्प्रदाय के रचनाकारों ने अपने संप्रदाय के वैष्णवों और महाप्रभुओं की वार्ता या जीवन चरित लिखने का प्रयत्न किया है।"[24] वार्ता साहित्य की दृष्टि से विट्ठलनाथ कृत 'श्रृंगार रस मण्डन', गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' आदि की गणना की जाती है। इसके अलावा नाभादास कृत 'अष्टयाम', बैकुण्ठमणि शुक्ल की 'अगहन माहात्मय' तथा 'वैशाख माहात्मय' सूरति मिश्र की 'बैताल पचीसी' आदि रचनाएँ मिलती है। ब्रजभाषा गद्य में कुछ टीकाओं और अनुदित ग्रन्थों की भी रचनाएँ हुई। जिसमें दनकौर निवासी प्रियादास कृत 'सेवक चरित्र', श्री हीरालाल कृत 'आइने अकइबरी की भाषा वचनिका' लल्लूलाल कृत 'राजनीति' और 'माधोविलास' प्रमुख है। मौलिक ग्रंथ की दृष्टि से भारतेन्दु के पिता गोपाल चन्द कृत 'नहुष' (1859) नाटक भी उल्लेखनीय है।

ब्रजभाषा गद्य के विषय में डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय लिखते हैं – "हिंदी साहित्य में ब्रजभाषा गद्य की कोई निश्चित और पुष्ट परम्परा न होने के कारण आलोच्यकालीन ब्रजभाषा गद्य की भाषा-शैली परिष्कृत और सुगठित नहीं है। भाषा लड़खड़ाती हुई चलती

है। उसमें भावों और विचारों का भार वहन करने की क्षमता दिखाई नहीं पड़ती। ...सामान्यत: भाषा में शिथिलता और खड़ीबोली तथा संस्कृत के तत्सम रूपों - यहाँ तक कि अशुद्ध रूपों तक का मिश्रण है। एक ही प्रकार के वाक्यों और वाक्यांशों की बार-बार आवृत्ति से जी ऊबने लगता है। साथ ही धार्मिक विषयों और काव्य-टीकाओं तक सीमित रहने के कारण ब्रजभाषा गद्य का विषय विस्तार और शब्द भण्डार बहुत विस्तृत न हो सका।"[25]

राजस्थानी गद्य

डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के अनुसार "ब्रजभाषा गद्य परम्परा की भाँति राजस्थानी गद्य परम्परा भी काफी प्राचीन है। राजस्थानी गद्य-परम्परा का सूत्रपात दसवीं शताब्दी के लगभग से माना जाता है। ...प्रारम्भिक राजस्थानी गद्य पर संस्कृत की समास शैली और अपभ्रंश का प्रभाव मिलता है। बाद को वह खड़ी बोली के निकट होने के कारण उसके रूप ग्रहण करता गया।"[26] राजस्थानी में जो कुछ प्राचीन गद्य मिलता है वह वार्ताओं, पट्टे-परवानों, जैन-ग्रंथों तथा इतिहास, राजनीति, ज्योतिष आदि विषयों के बारे में लिखी हुई रचनाओं में मिलता है। राजस्थानी गद्य के प्रारम्भिक विकास में जैन विद्वानों का भी महत्वपूर्ण योगदान है।

मैथिली गद्य

गद्य की प्रवृत्ति मैथिली में बहुत प्राचीन है। हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास भाग-8 में लिखा है - "वर्णनात्मक गद्य 'वर्ण रत्नाकर' में गद्य-पद्य मिश्रित गद्य विद्यापति की 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' में तथा नाटकीय गद्य अंकिया नाटकों तथा नेपाल के रूपकों में उपलब्ध है। 'वर्ण रत्नाकर' कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर की प्राचीनतम गद्य कृति है जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी में हुई। ...विद्यापति की कीर्तिलता का गद्य अवहट्ट में है जिसे उन्होंने 'सबजन मिट्ठी' भाषा कहा है। ....कीर्तिलता के गद्य में संस्कृत निष्ठता अधिक है। इसी प्रकार असमिया, अंकिया तथा नेपाल के रूपकों का गद्य भी संस्कृत का आभास देता है।"[27]

अवधी गद्य

हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास भाग-8 में अवधी गद्य के विषय में लिखा है - "अवधी में गद्य बहुत कम मिलता है। 18वीं और 19वीं शताब्दी में ब्रज और खड़ी बोली मिश्रित अवधी गद्य की कुछ रचनाएँ मिलती हैं जिनमें अयोध्या के महंत रामचरण दास की 'मानस टीका' विशेष महत्वपूर्ण है।"[28]

दक्खिनी का खड़ी बोली गद्य

"दक्खिनी हिंदी उत्तर भारत के मुसलमान शायरों, लेखकों, सैनिकों तथा सूफियों के गुलबर्गा, बीजापुर, गोलकुंडा और औरंगाबाद में आश्रय लेने अथवा बस जाने के कारण स्थानीय बोली के मिश्रण से विकसित हुई।"[29] प्रो० एहतेशाम हुसेन के अनुसार "इस भाषा में पंजाबी, हरियानी, और खड़ीबोली का मेल था, यह ब्रजभाषा के प्रभाव से भी बची नहीं थी। और सबसे बड़ी बात यह थी इसमें फारसी-अरबी के अनेक शब्द भी सम्मिलित हो गये थे।"[30]

दक्खिनी हिंदी के सबसे प्रसिद्ध गद्य लेखक ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज (1322-1427) हैं। इनके रचे अनेक ग्रंथ हैं जिनमें 'मेराजूल आशिकीन' और 'हिदायतनामा' अधिक प्रसिद्ध है। दक्खिनी हिंदी के विकास क्रम में मुल्ला वजही का नाम भी आता है। वजही की प्रख्यात गद्यकृति 'सबरस' (1635) है। इसमें तसव्वुफ के सिद्धान्तों को प्रतीकात्मक शैली में व्यक्त किया गया है। डॉ० रामचन्द्र तिवारी सबरस के विषय में लिखते हैं "सबरस को उर्दू साहित्य की प्रथम गद्य-रचना माना जाता है।... इसके गद्य की एक विशेषता लयात्मकता और वाक्यों की तुकान्तता है। यह प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रंश या पुरानी हिंदी की गद्य रचनाओं में भी पाई जाती है।"[31]

मुल्लावजही के बाद अब्दुस्समद (1651) आबिदशाह अल हसन उल हुसेनी (1670) शाह बुराहनुद्दीन कादरी (1673) मुहमदशाह शरीफ (1700) मुहम्मदवली उल्ला कादरी (1782) आदि गद्य लेखकों की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

खड़ी बोली गद्य (उत्तर भारत)

"दिल्ली आगरे की लोक प्रचलित भाषा को सर्वप्रथम लल्लू जी लाल ने अपने प्रेम सागर की भूमिका में 'खड़ी बोली' कहा है। यह बोली मुसलमानों के आगमन के पश्चात् उनके संसर्ग से अरबी-फारसी के शब्दों को भी अपने में समाविष्ट करने लगी जिससे एक भाषा उर्दू का जन्म हुआ। व्यापारियों, संतों और तीर्थ यात्रियों ने 'खड़ीबोली' को देशभर में फैला दिया और वह धीरे-धीरे अंतरप्रांतीय व्यवहार की भाषा बन गई और उसमें साहित्य रचना की प्रवृत्ति भी बढ़ने लगी।"[32]

आचार्य शुक्ल ने अकबर के समय में गंगकवि द्वारा रचित चंद-छंद बरनन की महिमा (1570 ई०) से खड़ी बोली गद्य का आरम्भ माना है किन्तु अनेक विद्वानों के अनुसार इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। खड़ी बोली के विकास क्रम में राम प्रसाद निरंजनी कृत 'योग वाशिष्ठ' और पं० दौलतराम कृत 'पद्म पुराण' का नाम भी महत्वपूर्ण है।

अनेक विद्वान् आधुनिक साहित्यिक खड़ी बोली का आविष्कार सर्वप्रथम गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में लल्लू लाल तथा सदल मिश्र द्वारा बताते हैं। पर डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय इस मत को भ्रामक सिद्ध करते हैं। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपने ग्रंथ आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका में दिखलाया है कि फोर्ट विलियम कॉलेज से पहले भी खड़ी बोली गद्य की परम्परा थी। डॉ० वार्ष्णेय के अनुसार "दौलतराम ने जैन पद्म पुराण (1761) की रचना की। वे उस प्रदेश के निवासी थे जो आजकल मध्यप्रदेश कहा जाता है और अपनी रचना का निर्माण बिना किसी पाश्चात्य प्रभाव या अँगरेज़ों की अध्यक्षता के किया।"[33] फोर्ट विलियम कॉलेज के बाहर खड़ी बोली गद्य रचना करने वालों में सदा सुखलाल और इंशा अल्ला खां का नाम महत्वपूर्ण है। डॉ० वार्ष्णेय के मत में "अठाहरवीं शताब्दी के लगभग अन्त में ही मुंशी सदासुखलाल ने विष्णु पुराण के आधार पर एक गद्य रचना (सुख सागर) का निर्माण किया जिसका केवल थोड़ा सा अंशमात्र ही उपलब्ध है। ...सदासुखलाल के बाद फिर इंशा, लल्लूलाल और सदल मिश्र का स्थान आता है।"[34] सदासुखलाल की भाषा के विषय में आचार्य शुक्ल लिखते हैं - "अपने समय में उन्होंने हिंदुओं की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा

चारों ओर पूरबी प्रांतों में भी प्रचलित पाई उसी में रचना की। स्थान-स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया।"[35]

इंशा अल्ला खां

हिंदी गद्य साहित्य के विकास की परम्परा में मुंशी सदासुखलाल के बाद लखनऊ के इंशा अल्ला खां का नाम आता है। इंशा अल्ला खां ने 'रानी केतकी की कहानी' सं० 1855 और 1860 के बीच लिखी। इस कहानी द्वारा वे गद्य के एक विशिष्ट आदर्श रूप की स्थापना करना चाहते थें। कहानी के आरम्भ में ही वह अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं - "एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दवी छूट और किसी बोली का पुट न मिले ...बाहर की बोली और गंवारी कुछ उसके बीच में न हो। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।"[36]

इस विषय में शुक्ल जी लिखते हैं - "इससे स्पष्ट है कि इंशा का उद्देश्य ठेठ हिंदी लिखने का था जिसमें हिंदी को छोड़कर और किसी बोली का पुट न रहे। ...इंशा ने अपनी भाषा को तीन प्रकार के शब्दों से मुक्त रखने की प्रतिज्ञा की है - बाहर की बोली = अरबी, फारसी, तुरकी। गंवारी = ब्रजभाषा, अवधी आदि। भाखापन = संस्कृत के शब्दों का मेल।"[37]

इंशा ने अपनी भाषा में लालित्य और सजीवता को प्रधानता दी है। उसमें मुहावरों के प्रयोग और चटकीलेपन ने उसे मनोरंजक बनाया।

फोर्ट विलियम कॉलेज

मार्क्सिस वेलेजली ने 1800 ई० में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। इस कॉलेज में विविध विषयों की शिक्षा दी जाती थी। गिलक्राइस्ट को हिन्दुस्तानी भाषा का प्रोफेसर बनाया गया। कॉलेज में खड़ीबोली के विकास के लिए कई पंडितों की नियुक्ति हुई जिनमें लल्लू लाल, सदल मिश्र, गंगाप्रसाद शुक्ल का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

लल्लू लाल (1763-1835)

यह आगरा के रहने वाले थे। इनका जन्म 1763 ई० में और मृत्यु 1835 ई० में हुई। इन्होंने फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यापक जान गिलक्राइस्ट के आदेश से खड़ीबोली गद्य में 'प्रेम-सागर' लिखा जिसमें भागवत दशम स्कंध की कथा वर्णन की गई है। इनकी अन्य कृतियों में 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'शंकुतला नाटक', 'माधोनल', 'लाल चन्द्रिका' महत्वपूर्ण है। लल्लू जी की रचनाओं में 'प्रेमसागर' को ही विद्वानों ने सबसे महत्वपूर्ण माना है। 'प्रेमसागर' की भाषा के विषय में डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं - "प्रेमसागर की भाषा में ब्रजभाषा का प्रभाव स्पष्ट है। सम्भवत: आगरा निवासी होने के कारण लल्लू लाल जी इससे बच नहीं सकते थे। साथ ही इसमें कवित्व भी पर्याप्त मात्रा में है। ...इसमें ब्रजभाषा के लाक्षणिक प्रयोग भी मिलते हैं। सामान्य कहावतें और मुहावरें भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हुए हैं।"[38]

सदल मिश्र (1768-1848)

यह बिहार के आरा निवासी थे। 'नासिकेतोपाख्यान' इनकी महत्वपूर्ण रचना है। डॉ० बलवन्त लक्ष्मण ने इनकी भाषा के विषय में लिखा है - "इनकी रचनाओं में ब्रजभाषा का प्रभाव नहीं मिलता। उनकी 'नासिकेतोपाख्यान' (1803) और 'रामचरित्र' (1806) महत्व की रचनाएँ हैं। परन्तु वे सीधे संस्कृत से अनूदित होने के कारण उनकी भाषा में एक प्रकार का पंडिताऊपन आया है। मिश्र जी बिहार के आरा निवासी होने के कारण उनकी भाषा में प्रत्यक्ष रूप से बंगला भाषा का प्रभाव दिखाई देता है।"[39]

राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद (1823-1895)

भारतेन्दु के पूर्व हिंदी गद्य के क्षेत्र में राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद का नाम महत्वपूर्ण है। इनकी कई रचनाएँ हैं जिनमें 'आलसियों का कोड़ा', 'राजा भोज का सपना', 'भूगोल हस्तामलक', 'इतिहास तिमिरनाशक', 'उपनिषदसार' प्रमुख है। राजा साहब बनारस में शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर थे। आरम्भ में उनकी भाषा-नीति चलती हुई व्यावहारिक सरल

हिंदी के पक्ष में रही। बात में उनका झुकाव उर्दू की ओर हुआ। इनके विषय में डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं, "राजा साहब नागरी लिपि के पूर्ण समर्थक होते हुए भी हिंदी खड़ी बोली-गद्य के पूर्ण पोषक नहीं थे। वे उर्दू के फैशनेबुल स्वरूप पर मुग्ध थे और उनका यह मोह उत्तरोत्तर बढ़ता गया था। फिर भी प्रतिकूल परिस्थितियों में इनसे जो कुछ हो सका वह कम नहीं है।"[40]

राजा लक्ष्मण सिंह (1826-1896)

इनके तीन अनुवाद ग्रन्थ प्रसिद्ध हुए - शकुंतला (1861), रघुवंश (1878), मेघदूत (1882), इनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ है। आपकी भाषा-नीति राजा शिवप्रसाद से बिल्कुल भिन्न है। इस बारे में डॉ० रामचन्द्रतिवारी लिखते हैं "राजा लक्ष्मण सिंह का भाषा-विषयक आदर्श राजा शिवप्रसाद से सर्वथा विपरीत था। उन्होंने अपने पत्र 'प्रजाहितैषी' में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का पक्ष लिया। ....राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा उर्दू-फारसी शब्दों से रहित होने तथा संस्कृत निष्ठ होने पर भी जनता के अधिक निकट है। उसमें परिमार्जन कम है। 'ब्रजी' का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में है।"[41] राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा के बारे में आचार्य शुक्ल का मत है "यह भाषा ठेठ और सरल होते हुए भी साहित्य में चिरकाल से व्यवहृत संस्कृत के कुछ रससिद्ध शब्द लिए हुए हैं।"[42]

समाचार पत्र

समाचार पत्रों के प्रकाशन ने हिंदी गद्य के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। "सन् 1826 में पं० जुगुल किशोर ने कलकत्ते से 'उदंड मार्तंड' नामक हिंदी का प्रथम समाचार-पत्र प्रकाशित किया था। .... इसमें प्रयुक्त हिंदी गद्य वस्तुतः व्यावहारिक हिंदी गद्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। 1829 ई० में 'बंगदूत' नामक पत्र निकला। ...सन् 1844 ई० में बनारस से राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद की प्रेरणा से 'बनारस अखबार' प्रकाशित हुआ। इसकी भाषा का झुकाव पूर्णतः उर्दू की ओर था।"[43] सन् 1861 में राजा लक्ष्मण सिंह ने 'प्रजाहितैषी पत्र' निकाला जिसका झुकाव संस्कृत निष्ठ हिंदी की ओर रहा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनका युग

भारतेन्दु का जन्म बनारस में सन् 1850 में हुआ। भारतेन्दु आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य के प्रवर्तक माने जाते हैं। भारतेन्दु के पूर्व हिंदी गद्य के मूलतः दो रूप थे। पहला रूप संस्कृत की ओर झुका था दूसरा अरबी-फारसी की ओर। यह भाषा सामान्य जन की भाषा से दूर थी। "भारतेन्दु ने समय के अनुसार भाषा की शैली का आदर्श लोक-रुचि की परख करके लोगों के सामने उपस्थित किया ...उन्होंने अपनी रचनाओं में साधु भाषा का प्रयोग करके सरल, सुबोध तथा परिमार्जित गद्य का रूप लोक रुचि के अनुसार प्रस्तुत किया। ...उन्होंने अपनी रचनाओं में ऐसे गद्य का आदर्श सामने रखा जिसमें प्रचलित अरबी, फारसी, उर्दू, ब्रजभाषा, संस्कृत आदि के भी शब्द हो।"[44]

भारतेन्दु ने 'कविवचन सुधा' और 'हरिश्चन्द्र मैग्जीन' के प्रकाशन द्वारा हिंदी गद्य को एक नयी दिशा दी। भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र मैग्जीन' पत्रिका में लिखा 'हिन्दी नए चाल में ढली (1873 ई०)' इस पत्रिका के द्वारा न सिर्फ गद्य का स्वरूप स्थिर हुआ बल्कि गद्य की अनेक विधाओं का जन्म भी हुआ। इस पत्रिका में नाटक, उपन्यास, आलोचना, कविता, धर्म, व्यंग्य आदि से संबंधित विषयों का प्रकाशन होता था।

भारतेन्दु ने हिंदी गद्य की अभिव्यंजना शक्ति को तो बढ़ाया ही उसके शब्द-भण्डार में भी वृद्धि की। उन्होंने बँगला, उर्दू और अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों को ग्रहण किया। उदाहरण के लिए - स्टेशन, रेल, एडीटर, वाइसराय आदि। आचार्य शुक्ल ने उनकी भाषा शैली के दो रूप लक्षित किये हैं - भावावेश की शैली और तथ्यनिरुपण की। "भावावेश के कथनों में वाक्य प्रायः बहुत छोटे-छोटे होते हैं और पदावली सरल बोलचाल की होती है जिसमें बहुत प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द भी कभी-कभी पर बहुत कम आ जाते हैं ...तथ्यनिरुपण या सिद्धान्तकथन के भीतर संस्कृत शब्दों का कुछ अधिक मेल दिखाई पड़ता है।"[45]

भारतेंदु के गद्य की एक अन्य विशिष्टता उसकी जिंदादिली है। उनके नाटकों - 'अंधेर नगरी', 'भारत दुर्दशा' और निबंधों - 'ईश्वर बड़ा विलक्षण है', 'स्वर्ग में विचार

सभा का अधिवेशन' आदि में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। आचार्य शुक्ल इस विषय में लिखते हैं "हरिश्चन्द्र तथा उनके सामयिक लेखकों में जो एक सामान्य गुण लक्षित होता है वह है सजीव या जिंदादिली। सब में हास्य या विनोद की मात्रा थोड़ी या बहुत पाई जाती है। राजा शिव प्रसाद या राजा लक्ष्मण सिंह भाषा पर अधिकार रखने वाले पर झंझटों से दबे हुए स्थिर प्रकृति के लेखक थे। उनमें वह चपलता, स्वच्छंदता और उमंग नहीं पाई जाती जो हरिश्चन्द्र मंडल के लेखकों में दिखाई पड़ती है।"[46] भारतेन्दु की परिहास प्रियता के बारे में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं "भारतेन्दु अत्यंत परिहास-प्रिय थे। इसमें कुछ बनारस की अपनी जिंदादिली थी, कुछ राधाकृष्ण की गहरी भक्ति से उपजी बेफ़िक्री, और कुछ उनके अपने चरित्र की बनावट।"[47]

भारतेंदु ने अपने जीवनकाल में अनेक गद्य-लेखकों और कवियों का अच्छा मंडल तैयार कर लिया था जिनका हिंदी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। इनमें पं० प्रताप नारायण मिश्र, उपाध्याय बदरी नारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहन सिंह तथा पं० बालकृष्ण भट्ट आदि का नाम प्रमुख है। "इन सभी लेखकों को अपनी परम्परागत भाषा की प्रकृति का पूरा परिचय था। संस्कृत के अप्रचलित शब्दों का प्रयोग ये लोग नहीं करते थे। साथ ही आवश्यकतानुसार अन्य भाषाओं से शब्द लेने में भी इन्हें हिचक न थी। लोक जीवन में प्रचलित सुंदर अभिव्यंजना पूर्ण शब्दों को ग्रहण करने में भी ये लोग हिंदी का हित मानते थे। यह होने पर भी इनकी निजी विशेषताएँ थीं, और इन विशेषताओं ने हिंदी-गद्य के तत्कालीन स्वरूप को बहुत दूर तक प्रभावित किया।"[48]

यहां इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है -

पं० प्रताप नारायण मिश्र (1856-1894 ई०)

यह कानपुर के रहने वाले थे, जन्म 1856 में हुआ। इनके प्रसिद्ध निंबध हैं - 'घूरे क लत्ता बीनै', 'समझदार की मौत है', 'बात', 'मनोयोग', 'वृद्ध'। 'ब्राह्मण' नाम से एक पत्र भी निकाला जिसमें विविध विषयों पर लेख होते थे। इनकी भाषा में विनोदप्रियता बहुत मिलती

है। शुक्ल जी के अनुसार "प्रताप नारायण जी में विनोदप्रियता विशेष थी इससे उनकी वाणी में व्यंजनापूर्ण वक्रता की मात्रा प्राय: रहती है। इसके लिए वे पूरबीपन की परवाह न करके अपने बैसवारे की ग्राम्य कहावतें और शब्द भी बेधड़क रख दिया करते थे।"[49]

बालकृष्ण भट्ट (1844-1914)

भट्ट जी का जन्म इलाहाबाद में सं० 1901 में हुआ। सं० 1933 में 'हिंदी प्रदीप' नाम से एक पत्र निकाला। इनके 'आंख', 'कान', 'नाक' नामक निबंध बहुत प्रसिद्ध हुए। इन्होंने 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'चन्द्रसेन' नामक नाटक भी लिखे। भट्ट जी के गद्य के विषय में आचार्य शुक्ल का कथन है - "व्यंग्य और वक्रता उनके लेखों में भरी रहती है और वाक्य भी कुछ बड़े-बड़े होते हैं। ठीक खड़ी बोली के आदर्श का निर्वाह भट्ट जी ने कभी नहीं किया है। पूरबी प्रयोग बराबर मिलते हैं।"[50]

भट्ट जी की भाषा में भी मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग की प्रवृत्ति मिलती है। व्याकरणिक अशुद्धियां इनमें भी है। इनके गद्य का एक नमूना प्रस्तुत है -

"अनुमान करते करते हैरान गौतम से मुनि 'गोतम' हो गया। कणाद तिनका खा खाकर किनका बीनने लगे पर मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया।"[51]

बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन (1855-1923)

प्रेमघन का जन्म मिरजापुर में सं० 1912 को हुआ। इन्होंने कई नाटक लिखे हैं जिनमें 'भारत सौभाग्य', 'प्रयाग सभा गमन', 'वीरांगना रहस्य महानाटक' प्रसिद्ध है। यह समालोचना भी लिखते थे। 'कादंबिनी' पत्रिका में लाला श्रीनिवास दास के संयोगिता स्वयंवर की आलोचना लिखी।

प्रेमघन जी के भाषा के संबंध में डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं - "चौधरी जी का भाषा विषयक आदर्श मिश्र तथा भट्ट जी से थोड़ा भिन्न था। अरबी-फारसी या अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग के पक्ष में आप नहीं थे। आप केवल तत्सम एवं तद्भव शब्दों के प्रयोग में ही

भाषा सौंदर्य देखते थे। ...चौधरी जी की भाषा की बड़ी विशेषता उसकी कलात्मकता है। ...आपकी कलात्मक रुचि ने भाषा में रंगीनी लाकर हिंदी गद्य को अलंकृत एवं काव्यमय बना दिया।"[52] आप के गद्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है -

"सुंदर हरित पत्रावलियों से भरित तरुगनों की सुहावनी लतायें लिपट-लिपट मानों मुग्ध मयंक-मुखियों को अपने प्रियतमों के अनुरागालिंगन की विधि बतलातीं।"[53]

ठाकुर जगमोहन सिंह (1857-1899 ई०)

इनका 1885 में लिखा 'श्यामा स्वप्न' उपन्यास प्रसिद्ध हुआ। उपन्यास की भाषा में संस्कृत की शैली का निर्वाह हुआ है। उसमें माधुर्य गुण की प्रधानता मिलती है। आचार्य शुक्ल ने इनकी भाषा के विषय में लिखा है - "ठाकुर जगमोहन सिंह की शैली शब्द-शोधन और अनुप्रास की प्रवृत्ति के कारण चौधरी बदरीनारायण की शैली से मिलती-जुलती है, पर उसमें लम्बे-लम्बे वाक्यों की जटिलता नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में जीवन की मधुर भारतीय रंगस्थलियों को मार्मिक ढंग से हृदय में जमाने वाले प्यारे शब्दों का चयन अपनी अलग विशेषता रखता है।"[54]

इनकी भाषा का एक उदाहरण प्रस्तुत है - "ग्राम की सीमांत के झाड़ जहां झुंड के झुंड कौवे और बगुले बसेरा लेते हैं, गँवइ की शोभा बताते हैं। पौ फटते और गोधूली के समय गैयों के खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानो कुहिरा गिरता हो।"[55]

लाला श्रीनिवास दास

इनका जन्म सं० 1908 में और मृत्यु सं० 1944 में हुई। इनका लिखा 'परीक्षा गुरु' (1882 ई०) हिंदी का पहला उपन्यास माना जाता है। हिन्दी के पहले दु:खान्त नाटक के रूप में इनकी कृति 'रणधीर सिंह प्रेम मोहिनी' (1878) प्रसिद्ध हुई। आपकी भाषा के बारे में आचार्य शुक्ल का मत है - "लाला श्रीनिवास दास व्यवहार में दक्ष और संसार का ऊँचा नीचा समझने वाले पुरुष थे। अत: उनकी भाषा संयत और साफ-सुथरी तथा रचना बहुत कुछ सोद्देश्य होती थी।"[56] 'परीक्षा गुरु' से इनकी भाषा का एक नमूना प्रस्तुत है -

"देखिए परोपकार की इच्छा अत्यंत उपकारी है परंतु हद से आगे बढ़ने पर वह भी फिजूलखर्ची समझी जाएगी और अपने कुटुंब-परिवारादि का सुख नष्ट हो जाएगा।"[57]

भारतेन्दु युग के अन्य गद्य लेखकों में पं० राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, राधा कृष्णदास, कार्तिक प्रसाद खत्री और पं० अंबिकादत्त व्यास का नाम भी महत्वपूर्ण है।

भारतेन्दु युग का गद्य भी ब्रजभाषा के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाया है। स्वयं भारतेन्दु वैष्णव थे अत: उनकी भाषा पर ब्रज का प्रभाव है। फिर भी भारतेन्दु युगीन गद्य में खड़ी बोली के प्रति आग्रह बढ़ता जा रहा था। इस युग की भाषा न तो बिल्कुल ही संस्कृत निष्ठ है और न ही अरबी-फारसी युक्त। वह बोलचाल के लहजे को अपनाती है। व्यंग्य और परिहास वृत्ति इसका निजी गुण है। मुहावरों के प्रयोग से इस युग का गद्य भावाभिव्यक्ति में समर्थ हुआ है। इसने अन्य भाषाओं के शब्दों को नि:संकोच ग्रहण किया है। इस बारे में डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं - "दो एक को छोड़कर अधिकांश गद्य-लेखक आवश्यकतानुसार अरबी-फारसी तथा अंग्रेजी के शब्द-ग्रहण करने में संकोच नहीं करते थे।"[58]

भारतेन्दु युगीन गद्य के विषय में डॉ० शिवदान सिंह चौहान लिखते हैं - "उनकी भाषा पर प्राय: ब्रजभाषा का प्रभाव दिखाई देता है। और उनमें व्याकरण संबंधी अशुद्धियां भी मिलती हैं। ये सारे लेखक मेरठ-दिल्ली क्षेत्र के नहीं थे, खड़ी बोली जहाँ की मातृ भाषा है, बल्कि अधिकतर बनारस, आगरा, प्रयाग, पटना आदि के थे, जहाँ की बोलियाँ खड़ी बोली से भिन्न हैं। इसलिए वे लोग खड़ी बोली हिंदी में अकसर मनमाने ढंग से अपनी-अपनी मातृ भाषाओं के ठेठ शब्दों का भी प्रयोग करते चलते थे, जिससे हिंदी गद्य की भाषा का उन दिनों कोई सामान्य रूप स्थिर नहीं हो सका। ...न व्याकरण की दृष्टि से और न शब्द भंडार की दृष्टि से ही। ....फिर भी उनके गद्य में प्रारंभिक उत्थान का उत्साह छलकता है, उमंग में भरकर मनमौजी ढंग से उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें एक विचित्र सरलता और आत्मीयता है, जो आज के गद्य में दुर्लभ होती जा रही है।"[59]

भारतेन्दु युगीन गद्य की व्याकरणिक अशुद्धियों को दूर करने और उसे क्षेत्रीय भाषाओं के प्रभाव से मुक्त कर खड़ी बोली के निकट लाने का कार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके युग के अन्य गद्य लेखकों ने किया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग (1900-1920 ई०)

महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म दौलतपुर (रायबरेली) में 1864 को हुआ। 'सम्पत्ति शास्त्र' नाम का इनका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। हिंदी गद्य को व्यवस्थित रूप देने का कार्य द्विवेदी जी ने किया। 1893 ई० में काशी में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई जिससे हिंदी गद्य के विकास के लिए नई प्रेरणा मिली। इसके कुछ ही वर्षों बाद 1900 ई० में प्रयाग से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रारम्भ हुआ। सन् 1903 में द्विवेदी जी ने सरस्वती के संपादन का भार संभाला। इस पत्रिका ने हिंदी गद्य की भाषा को सुधारने का महत्वपूर्ण काम किया। द्विवेदी जी सरस्वती पत्रिका में छपने वाली रचनाओं को सुधारकर प्रकाशित करते थे तथा अन्य लेखकों को भी भाषा के परिमार्जन के लिए प्रेरित करते थे। इस पत्रिका के माध्यम से कहानी, निबंध, समालोचना आदि गद्य साहिय की विभिन्न विधाओं का भी विकास हुआ।

द्विवेदी युग के पूर्व के लेखकों में अपने भावों को स्वच्छंदता पूर्ण शैली में प्रकाशित करने की प्रकृति मिलती है। परन्तु "भाषा के मर्यादीकरण की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। सर्वत्र उच्चारण सम्मत भाषा का प्रयोग किया जाता था और व्याकरण की दृष्टि से भाषा की अशुद्धता पर ध्यान नहीं दिया जाता।"[60] द्विवेदी जी ने गद्य की इन कमियों को दूर करने के लिए कई महत्वपूर्ण प्रयास किये। उनके भाषा-सुधार को रेखांकित करते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं - "महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने गद्य-अभियान में एक ओर व्याकरण की दृष्टि से लिंग-वचन के भारतेंदु युगीन पूर्वी प्रयोगों को हटाया तो दूसरी ओर ब्रजभाषा के पूर्व प्रचलित प्रयोगों को भी अनुचित ठहराया। इसी प्रकार से सभी मूल की तत्सम बहुलता को उन्होंने निरुत्साहित किया, और व्यवस्थित वाक्य-विन्यास पर बल दिया।"[61]

द्विवेदी जी के महत्व को स्वीकारते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं – "व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्त्तक द्विवेदी जी ही थे। 'सरस्वती' संपादक के रूप में उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियों दिखाकर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया।"[62]

द्विवेदी जी की भाषा-शैली पर संस्कृत और मराठी के गद्य का प्रभाव है। संस्कृत गद्य के घुमा-फिराकर बात कहने का ढंग उनके गद्य में देखा जा सकता है। इस बारे में आचार्य शुक्ल लिखते हैं "द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है। एक एक सीधी बात कुछ हेर-फेर कहीं-कहीं केवल शब्दों के साथ पांच छह तरह के पांच छह वाक्यों में कही हुई मिलती है। उनकी यह प्रवृत्ति उनकी गद्य शैली निर्धारित करती है। उनके लेखों में छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग अधिक मिलता है। नपे-तुले वाक्य को कई बार शब्दों के कुछ हेर-फेर के साथ कहने का ढंग वही है जो वाद या संवाद में बहुत शांत होकर समझाने बुझाने के काम में लाया जाता है।"[63]

द्विवेदी युग के अन्य गद्य लेखकों – बाबू बाल मुकुन्द गुप्त, पं० माधव प्रसाद मिश्र, अध्यापक पूर्ण सिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्याम सुंदर दास, गोविंद नारायण मिश्र ने भी भाषा के परिमार्जन में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

पं० माधव प्रसाद मिश्र के गद्य में भावात्मकता और संस्कृत के गद्य का प्रभाव है। शुक्ल जी के अनुसार "उनके निबंध अधिकतर भावात्मक होते थे और धाराशैली पर चलते थे।"[64] इनके गद्य का एक उदाहरण दिया जा रहा है –

"आर्य वंश के धर्म, कर्म और भक्ति भाव का वह प्रबल प्रवाह जिसने एक दिन जगत् के बड़े बड़े सन्मार्ग विरोधी भूधरों का दर्पदलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वंश का वह विश्वव्यापक प्रकाश जिसने एक समय जगत् में अंधकार का नाम तक न छोड़ा था, अब कहाँ है?"[65]

बाबू बालमुकुन्द गुप्त (1865-1907) पंजाब के रोहतक जिले के निवासी थे। बंगवासी के संपादक हुए। 'शिवशम्भू का चिट्ठा' प्रसिद्ध निबंध है। शुक्ल जी के अनुसार "गुप्त जी की भाषा बहुत चलती, सजीव और विनोदपूर्ण होती थी।"[66] गुप्त जी की भाषा में उर्दू की रवानी है उसके सरल शब्द भी मिलते हैं पर उर्दू शब्दों का अतिरेक नहीं है। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के अनुसार "आपके गद्य में ओजस्विता एवं प्रखरता है। ....सामान्यत: आपकी भाषा हिन्दी-उर्दू मिश्रित है, किन्तु अनावश्यक एवं अप्रचलित उर्दू-शब्दों का प्रयोग आपने नहीं किया है।"[67]

पं० गोविंद नारायण मिश्र के गद्य में संस्कृत की गद्य शैली का स्पष्ट प्रभाव दिखता है। द्विवेदी युग में संस्कृत का जो प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ने लगा था उसका एक अच्छा उदाहरण इनका गद्य है। इन्होंने अपनी भाषा में आम बोलचाल के शब्दों की जगह संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग करना शुरु किया जिससे उनके गद्य में ओज और गम्भीरता दिखती है। शुक्ल जी के शब्दों में "मृदुता, कुटिलता, सुकरता, समीपता, ऋजुता आदि के स्थान पर मार्दव, कौटिल्य, सौकर्ष, सामीय, आर्जव आदि ऐसे ही लोगों की प्रवृत्ति से लाए जाने लगे।"[68] समास अनुप्रास युक्त उनके गद्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है -

"परंतु मंदमति अरसिकों के अयोग्य, मलिन अथवा कुशाग्रबुद्धि चतुरों के स्वच्छ मलहीन मन को यथोचित शिक्षा से उपयुक्त बना लिए।"[69]

बाबू श्यामसुंदर दास (1875-1945) की भाषा में भी द्विवेदी जी की तरह बात को फैलाकर कहने का ढंग दिखता है। श्रोता को लक्ष्य करके कहा गया है गद्य उनका। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के अनुसार "(उनमें) सरलता और स्पष्टता है किन्तु विस्तार भी है। वे अपनी सभी बातें उसी तरह समझाते चलते हैं जैसे कोई वक्ता श्रोताओं की जिज्ञासा वृत्ति को जगाकर अपना प्रभाव डालना चाहता है।"[70] अरबी-फारसी के शब्दों से परहेज आपके गद्य में भी देखने को मिलता है। शुक्ल जी के अनुसार "आपकी भाषा इस विशेषता के लिए बहुत दिनों से प्रसिद्ध है कि उसमें अरबी, फारसी के विदेशी शब्द नहीं मिलते।"[71]

चन्द्रधर गुलेरी (1883-1920) का जन्म जयपुर में हुआ। 'समालोचक' के सम्पादक रहे। 'कछुआ धर्म', 'मारेसि मोहि कुठाऊं', 'उसने कहा था', आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। आपकी भाषा में सरलता और प्रवाह है। व्यंग्य का भी प्रयोग मिलता है। शब्दावली में संस्कृत की छाप जरूर मिलती है। डॉ० बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे के अनुसार "उनकी शब्दावली में संस्कृत की छाप स्पष्ट है। उनकी भाषा शैली में वाक्यविन्यास का आकर्षण तथा भावप्रवण की सहजता मिलती है।"[72] एक उदाहरण -

"उखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिए हुए 'कारवां' मुंजवत हिंदकुश के एक मित्र दर्रे खैबर में होकर सिंधु की एक घाटी में उतरा। पीछे से श्वान, भ्राज, अंभारि, बंभारि, हस्त, सुहस्त, कृशन, शंड, मर्क मारते चले आते थे।"[73]

अध्यापक पूर्ण सिंह (1881-1931) ने 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता' आदि निबंध लिखे। उनके गद्य में लाक्षणिकता की प्रवृत्ति मिलती है। शुक्ल जी के अनुसार "उनकी लाक्षणिकता हिंदी गद्य साहित्य में एक नई चीज थी। भाषा की बहुत कुछ उड़ान, उसकी बहुत कुछ शक्ति, 'लाक्षणिकता' में देखी जाती है। भाषा और भाव की एक नई विभूति उन्होंने सामने रखी।"[74]

बाबू गुलाब राय, चंडी प्रसाद हृदयेश, गणेश शंकर विद्यार्थी के गद्य में भी संस्कृत की शब्दावली, ओजस्विता और काव्यात्मकता का प्रभाव दिखता है। उदाहरण के तौर पर गणेश शंकर विद्यार्थी के गद्य का एक नमूना प्रस्तुत हैं -

"महान् पुरुष! निःसंदेह महान पुरुष! भारतीय इतिहास के किस रत्न में इतनी चमक है? स्वतन्त्रता के लिए किसने इतनी कठिन परीक्षा दी? जननी जन्म भूमि के लिए किसने इतनी तपस्या की?"[75]

भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के संधिकाल पर खड़े कुछ गद्य लेखकों की भी यहाँ चर्चा अपेक्षित है। इनमें अयोध्या सिंह उपाध्याय का नाम महत्वपूर्ण है। इन्होंने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (1899) और 'अधखिला फूल' (1907) नामक दो उपन्यास लिखे। इनके गद्य में

काव्यात्मकता और क्षेत्रीय भाषाओं का पुट है। इस समय के अन्य लेखकों में – "देवकी नन्दन खत्री तथा किशोरी लाल गोस्वामी सरल उर्दू-मिश्रित हिन्दी में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे। लज्जाराम मेहता ब्रज की बोलचाल की भाषा मिलाकर सरल हिन्दी का प्रयोग कर रहे थे।"[76]

द्विवेदी युगीन गद्य की सामान्य विशेषता

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने गद्य-भाषा में शुद्धता और व्याकरण का आदर्श लेखकों के सामने रखा जिसका प्रभाव उनकी गद्य शैली पर पड़ा। इससे उनकी भाषा में इतिवृत्तात्मकता और अनुशासन की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। अनावश्यक अलंकरण को छोड़ लेखकों ने साधारणता और सादगी पर बल दिया। व्याकरण की अवहेलना करके अपनी-अपनी शैली में स्वच्छंद भाव से गद्य लिखने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगा। क्षेत्रीय भाषाओं का प्रभाव कम हुआ। लेखकों का झुकाव संस्कृत की शैली और उसके शब्द चयन की ओर हुआ। इस सबके पीछे तत्कालीन सुधार आंदोलनों का भी प्रभाव है। आर्यसमाज की भाषा-नीति संस्कृत की ओर झुकी थी। वह भाषा और आचरण दोनों में ही नैतिकता को प्रधानता देती थी। जिसका प्रभाव द्विवेदी युग के लेखकों पर पड़ा। जिसके कारण उनकी भाषा में एक तरह का संयम दिखता है। यद्यपि कुछ लेखक उर्दू के शब्दों और मुहावरों का प्रयोग कर रहे थे। पर उनमें अरबी-फारसी के प्रति अतिरिक्त मोह नहीं था। उन्होंने सामान्य बोलचाल में प्रयुक्त शब्दों को ही अपनाया।

1920-1936 तक का काल

इस काल में हिन्दी गद्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। हिन्दी गद्य ने द्विवेदी-युगीन नीरसता, इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति छोड़कर भावात्मकता, लालित्य और रवानी की ओर रुख किया। प्रसाद, प्रेमचंद और आचार्य शुक्ल के द्वारा हिंदी गद्य ने अपना बहुआयामी प्रसार किया। प्रसाद ने हिंदी गद्य को काव्यात्मक बनाया तो प्रेमचंद ने उसे बोलचाल की लय दी। वहीं आचार्य शुक्ल ने गंभीर चिंतन को सर्जनात्मक भाषा में ढालकर प्रस्तुत किया।

इस काल के बहुत से लेखकों के गद्य में काव्यात्मकता की प्रवृत्ति मिलती है। जिसमें जयशंकर प्रसाद, हृदयेश, रायकृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री, वियोगी हरि का नाम प्रमुख है। इस बारे में डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं – "द्विवेदी युग के परिमार्जन एवं प्रौढ़ता के पश्चात् हिन्दी–गद्य कलात्मकता एवं काव्यात्मकता की ओर झुकने लगा था। द्विवेदी युग का जीवन–विषयक दृष्टिकोण ही नैतिकता प्रधान था। फलतः युग चेतना का भार वहन करने वाले गद्य–साहित्य का गम्भीर एवं शुष्क हो जाना स्वाभाविक था। व्याकरण के नियमों से अधिक बंध जाने के कारण भाषा में नीरसता का आना अवश्यम्भावी था।"[77]

द्विवेदीयुगीन गद्य की शुष्कता को दूर करने वालों में जयशंकर प्रसाद का नाम सर्वप्रमुख है। प्रसाद के गद्य पर संस्कृत की अलंकृत गद्य शैली और बंगला गद्य के भावात्मक शैली का प्रभाव है। भावात्मकता और कलात्मकता उनके गद्य की विशेषता है। प्रसाद के गद्य में संस्कृत की अलंकृत गद्य–शैली के अलावा कहानी की बोलचाल वाली लय भी मिलती है। जैसे कि 'मधुआ' और 'गुण्डा' कहानी। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार "ऐतिहासिक नाटकों के तत्समग्राही अलंकृत गद्य से लेकर 'मधुआ' जैसी कहानी की बोलचाल तक प्रसाद की रचना–भाषा का विस्तार है।"[78]

प्रसाद के नाटकों – 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'अजात शत्रु', 'ध्रुव स्वामिनी' आदि की भाषा में तत्सम शब्दों की प्रधानता है। वह अत्यंत ही अलंकृत–काव्यमयी भाषा में लिखी गई है। इसी तरह 'आकाशदीप', 'समुद्र संतरण' कहानी में भी काव्यात्मक, भावदीप्त भाषा का प्रयोग हुआ है।

'समुद्र संतरण' कहानी से एक उदाहरण देखिए –

"धीवर–बाला ने कहा – आओगे?

लहरों को चीरते हुए सुदर्शन ने पूछा–कहां चलोगी? पृथ्वी से दूर जल–राज्य में, जहाँ कठोरता नहीं केवल शीतल कोमल और तरल आलिंगन है, प्रवंचना नहीं सीधा आत्मविश्वास है, वैभव नहीं सरल सौंदर्य है।"[79]

प्रसाद की भाषा-शैली की विशेषता उपमाओं और बिंबों के अभिनव प्रयोगों में है। पदविन्यास के लालित्य में है। उनके गद्य में वाक्यों का क्रम इस तरह से रखा गया है कि वह काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। उनमें नाटकीय भंगिमा भी देखने को मिलती है। 'आकाशदीप' का गद्य इसी तरह का है। प्रसाद ने सहज और बोलचाल की भाषा में भी गद्य लिखा है। बनारस की बोली-बानी की छटा उनके 'गुण्डा' कहानी में देखिए -

"दुलारी ने कहा - वाह बाबू साहब! आप ही के लिए तो मैं यहाँ आ बैठी हूँ, सुनिए न! आप तो कभी ऊपर .... मौलवी जल उठा। उसने कड़ककर कहा - चोबदार! अभी वह सूअर की बच्ची उतरी नहीं।"[80]

प्रसाद के गद्य ने हिंदी गद्य को भावात्मक रूप दिया जिसकी परम्परा को रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुर सेन शास्त्री आदि ने आगे बढ़ाया। इस बारे में डॉ० बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे लिखते हैं - "हिंदी गद्य की भावात्मक शैली को लेकर रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, डॉ० रघुवीर सिंह आदि गद्य - लेखकों ने अपनी रचनाओं का निर्माण किया। इन रचनाओं के कारण गद्य के शुष्क रूप में एक प्रकार की सरसता आयी।"[81] इन लेखकों की भाषा में संस्कृत की कोमलकांत पदावली, सानुप्रासिकता, लालित्य का दर्शन होता है। भावात्मक शैली में लिखे गये, वियोगी हरि की भाषा का एक नमूना प्रस्तुत है -

"अपने हृदय-मंदिर पर मैंने एक लालसा-लता चढ़ाई थी। आँसुओं से सींच-सींचकर उसे बढ़ाया था। उसके फूल कहीं फेंक न देना, तुम्हारे ही चरणों पर आज चढ़ा देता। पर मन की मन ही में रहीं।"[82]

इस काल में प्रेमचंद के द्वारा भाषा की यथार्थवादी परम्परा का सूत्रपात होता है। उनकी कथा-भाषा मानव जीवन का यथार्थ चित्र खींचती है। मनुष्य और समाज के यथार्थ को बड़े ही स्वाभाविक और मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करती है उनकी कथा-भाषा। उसमें जीवन की सहज लय है, बातचीत की लय। प्रेमचंद के यहां गद्य सामाजिक होता है।

बर्हिमुखता उसकी विशेषता है। वह समूह को लक्ष्य करके कहा गया गद्य है। अर्न्तमुखता उसका स्वभाव नहीं। वह किस्सागोई का गद्य है। किस्सागोई और वर्णन उसका प्रधान गुण है। वे वर्णन की कला में सिद्धहस्त हैं। उनका वर्णन अनावश्यक विस्तार से कहीं भी बोझिल नहीं है। वह थोड़े से ब्यौरों से पूरा यथार्थ उभार कर रख देते हैं। राम स्वरूप चतुर्वेदी ने प्रेमचंद के इस रचनाविधान को 'भाषा का सत पूरी तरह निचोड़ लेने की कला' कहा है। उनके अनुसार "किफायतसारी का आदर्श जैसा प्रेमचंद के यथार्थ-चित्रण में है उससे और गहरे धरातल पर उनके भाषिक विधान में है। भाषा का सत अपनी रचना में वे पूरी तरह से निचोड़ लेते हैं।"[83]

अभावग्रस्त किसान का 'पूस की रात' में क्या हाल होता है? इसे प्रेमचंद ने बिना किसी लफ्फाजी के छोटे-छोटे वाक्यों के माध्यम से उभार कर रख दिया है -

"पूस की अँधेरी रात! आकाश पर तारे भी ठिठुरते हुए मालूम होते थे। हल्कू अपने खेत के किनारे ऊख के पत्तों की एक छतरी के नीचे बाँस के खटोले पर अपनी पुरानी गाढ़े की चादर ओढ़े पड़ा कांप रहा था। खाट के नीचे उसका संगी कुत्ता जबरा पेट में मुँह डाले सर्दी से कूं-कूं कर रहा था। दो में एक को भी नींद न आती थी।"[84]

इस उद्धरण में कथा-भाषा जितनी वर्णनात्मक है उससे ज्यादा बिंबात्मक, अर्थवान और संकेतगर्भित। किसान-जीवन का यथार्थ ठिठुरते हुए तारे और कूं-कूं करते जबरा के बिंबो की पृष्ठभूमि में अर्थ सघन हो उठा है। कहीं भी भाषा में अनावश्यक विस्तार नहीं है। भाषा जितनी ही सीधी सरल है उतनी ही अर्थमय। यह प्रेमचंद के समग्र कथा-भाषा की विशेषता है।

प्रेमचंद उर्दू से हिंदी में आये थे। अत: उनकी कथा-भाषा ने उर्दू की 'रवानी' को ग्रहण कर लिया है। उनकी कथा-भाषा का प्रधान गुण है - रवानी - सहज प्रवाह। लेकिन प्रेमचंद में उर्दू का प्रभाव सिर्फ भाषा की रवानी तक ही है। उनका शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास मुहावरे सब हिंदी की जातीय प्रकृति के ही अनुरूप है। उनकी भाषा उर्दू के

सामान्य बोलचाल के शब्दों को ही ग्रहण करती है। प्रेमचंद की कथा-भाषा की 'रवानी' का एक उदाहरण प्रस्तुत है - "घर कहाँ है हुजूर, जहाँ पड़ रहूँ, वही घर है। जब घर था तब था। अब तो बेघर, बेजर, बेदर हूं और सबसे बड़ी बात यह है कि बेपर हूँ। तकदीर ने पर काट लिये। लंडूरा बनाकर छोड़ दिया।"[85] ('तगादा' कहानी से)

प्रेमचंद की कथा-भाषा का एक और प्रधानगुण है - "पात्र या चरित्र की भंगिमा भाषा में ले आने की कला।"[86] प्रेमचंद ने अपने चरित्रों की भंगिमाओं और उनकी मन:स्थितियों को भाषा द्वारा यथार्थ रूप दिया है। पात्रों की भाषिक-भंगिमा कहीं से भी बनावटी नहीं लगती। उदाहरण के लिए 'गोदान' में झुनिया और सोना के बीच का यह संवाद देखिए जिसमें स्त्रियों की परिहास वृत्ति कैसे जीवंत हो उठी है -

"और जो किसी बूढ़े के साथ ब्याह हो गया?
सोना हँसी - मैं उसके लिए नरम-नरम रोटियाँ पकाऊँगी,
उसकी दवाइयां कूटूँ छानूँगी, उसे हाथ पकड़कर उठाऊँगी,
जब मर जाएगा, तो मुँह ढाँपकर रोऊँगी
और जो किसी जवान के साथ हुआ?
तब तुम्हारा सिर, हाँ नहीं तो।"[87]

यहाँ अंतिम वाक्य 'तब तुम्हारा सिर, हाँ नहीं तो' सोना की खीज, लज्जा की मिली जुली भंगिमा को सजीव कर देता है। मनोभावों के चढ़ाव-उतार को कथा-भाषा में सजीव कर देने की कला में प्रेमचंद सिद्धहस्त हैं। 'कफन', 'शतंरज के खिलाड़ी', 'गोदान', 'गबन', 'पंच-परमेश्वर' किसी भी रचना में यह उदाहरण ढूंढा जा सकता है। प्रेमचंद के गद्य की अन्य विशेषताओं में उसकी सूक्तिपरकता और व्यंग्यात्मकता है। उनके कथा-साहित्य में अनगिनत सूक्तियां मिल जाएँगी, जिससे उनकी चिंतन क्षमता का पता चलता है।

संक्षेप में प्रेमचंद के गद्य में "किस्सागोई, वर्णनात्मकता, सपाटता और बिम्बात्मकता या दृश्यात्मकता, बोलचाल की स्वाभाविक व्यंजकता और लोकभाषा का स्पर्श, तार्किकता और विमर्श क्षमता एक सम्पूर्ण संरचना को रूप देने वाली विशेषताएँ हैं।"[88]

प्रेमचंद के साथ के अन्य महत्वपूर्ण कथाकारों में हैं - सुदर्शन, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, चतुरसेन शास्त्री, राधिकारमण प्रसाद सिंह। इनकी कथा-भाषा भी सादगी, सहजता और बोलचाल की लय को लेकर चलती है।

इस काल के गद्यकारों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विशिष्ट स्थान है। 'चिंतामणि' भाग-1,2,3, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', 'रस मीमांसा', 'जायसी ग्रन्थावली की भूमिका', 'तुलसी ग्रन्थावली की भूमिका', 'भ्रमरगीत सार की भूमिका' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। शुक्ल जी ने अपने निबंध एवं आलोचना साहित्य द्वारा हिंदी गद्य को एक विशिष्ट रूप दिया। उनके सार गर्भित, तार्किक और प्रखर गद्य ने विचार प्रधान गद्य की एक नई परम्परा का सूत्रपात किया। शुक्ल जी के गद्य की यह विशेषता है कि वह जितने ही चिंतनपरक हैं, उतने ही भावपरक भी। भाव और विचार का सुंदर समन्वय है उनका गद्य। इन्होंने हिन्दी आलोचना को कितने ही विचार-सूत्र दिए। पारिभाषिक शब्द और उनकी सहज, सुस्पष्ट व्याख्या आपके गद्य की विशेषता है। वह अपने गद्य में पहले एक सूत्र देते हैं फिर लक्षण सहित उसकी अनेकशः व्याख्याएँ करते हैं। उदाहरण के तौर पर "लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम 'रस-दशा' है।"[89] की व्याख्या, अलग-अलग संदर्भों में वह इस तरह देते चलते हैं कि पाठक के अन्तःस्थल में 'रस-लोक-हृदय-कविता' आदि के अर्न्तसंबंध खुलते चले जाते हैं। बड़े ही सहज, सरल, अनलंकृत ढंग से। एक ओर प्रखर गंभीर चिंतन जैसाकि - 'विश्व प्रपंच की भूमिका' का गद्य। दूसरी ओर 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' का भावमय गद्य। इन सबके बीच व्यंग्य की भंगिमा इनके गद्य को अतिरिक्त आकर्षण देती है। देखें -

"अपनी कहानी का आरम्भ ही उन्होंने (इंशा अल्ला खां ने) इस ढंग से किया है जैसे लखनऊ के भांड घोड़ा कुदाते हुए महफिल में आते हैं।"[90] (रानी केतकी की कहानी के शैली वैशिष्ट्य पर)

"मैंने कुत्ते के कई शौकीनों को अपने कुत्ते की बदतमीजी पर शरमाते देखा है।"[91] ('लज्जा और ग्लानि' निबंध)

शुक्ल जी ने अपनी भाषा में तत्सम प्रधान शब्दों को ही रखा है। पर वह संस्कृत से आक्रांत नहीं है। उसमें हिंदी की अपनी निजी प्रकृति गढ़ने का आग्रह है। उदाहरण के तौर पर यह अवतरण देखें - "कुशल यही है कि जिनका दिल सही-सलामत है, जिनका हृदय मारा नहीं गया है, उनकी दृष्टि अतीत की ओर जाती है। क्यों जाती है, क्या करने जाती है, यह बताते नहीं बनता। अतीत कल्पना का लोक है, एक प्रकार का स्वप्नलोक है, इसमें संदेह नहीं।"[92]

शुक्ल जी के विचारों में सघनता है। उन्होंने अपने निबंध अधिकतर समास शैली में लिखे हैं। इस कारण उनके विचारों में कहीं भी शिथिलता और वि शृंखलता नहीं है। सामासिक शैली के कारण विचार सघन होकर सूत्र बन गए हैं -

"'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।'"[93]

"'बैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।'"[94]

"'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।'"[95]

आचार्य शुक्ल के गद्य की विशेषता को रेखांकित करते हुए डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं - "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी-गद्य को प्रौढ़ता ही नहीं गम्भीरता, संयम, समासतत्त्व तथा शक्तिमता भी प्रदान की। उनकी पंक्तियां ऐसी प्रतीत होती हैं मानो किसी अध्ययनशील व्यक्ति के गहनचिंतन की रेखाएं धीरे-धीरे उभरती आ रही हों। देखिए - 'दु:ख की श्रेणी में परिणाम के विचार से करुणा का उल्टा होता है क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है।"[96]

1936-50 की अवधि का गद्य

सन् 1936 के बाद हिंदी गद्य में काफी विविधता देखने को मिलती है। एक ओर प्रगतिशील लेखकों - यशपाल, राहुल सांस्कृत्यायन, रांगेय राघव, उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतराय

का यथार्थवादी गद्य। वहीं दूसरी ओर अर्न्तजगत की गुत्थियों का खोलता जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, हजारी प्रसाद द्विवेदी का भावात्मक-काव्यात्मक गद्य।

प्रगतिशील गद्य लेखकों में यशपाल का नाम सर्वप्रमुख है। यशपाल का गद्य छायावादी काव्यात्मक अलंकृत गद्य से भिन्न रूप लिए हुए है। उनका गद्य यथार्थधर्मी है। सहज, सरल और व्यावहारिक गद्य। उनके गद्य की विशिष्टता उसकी वर्णन कला में है। परिवेश, काल, व्यक्ति, यात्रा, घटना सब का सजीव और रोचक वर्णन। उदाहरण के तौर पर 'परदा' कहानी से चौधरी खानदान की पारिवारिक स्थिति का वर्णन देखिए -

"तीसरी पीढ़ी के ब्याह-शादी होने लगे। आखिर चौधरी खानदान की औलाद को हवेली छोड़ दूसरी जगहें तलाश करनी पड़ी। चौधरी इलाहीबक्श के बड़े साहबजादे एन्ट्रेन्स पासकर डाकखाने में बीस रुपये की क्लर्की पा गये। दूसरे साहबजादे मिडिल पासकर अस्पताल में कम्पाउण्डर बन गये। ....तीसरे बेटे होनहार थे, उन्होंने वजीफा पाया।"[97] हालांकि आगे चलकर झूठा-सच (1958) में उनकी यह वर्णन-कला कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार के कारण बोझिल भी हो गई है। पर सर्वत्र ऐसा नहीं है।

यशपाल ने अपनी भाषा को सन्दर्भ के अनुरूप रखा है। 'दिव्या' जैसे ऐतिहासिक उपन्यास में भाषा तत्सम प्रधान है तो 'दादा कॉमरेड', 'देशद्रोही' जैसे सामाजिक-राजनीतिक उपन्यासों में यथार्थ धर्मी, सहज, साधारण बोलचाल की लय में। यशपाल की गद्य-शैली के विषय में डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं - "विचारों की स्पष्टता, अनुभव की विविधता, भावों की सरलता, चित्रों की रम्यता, व्यंग्य की तीव्रता, हास्य की मधुरता तथा विवरण की विशदता और भव्यता ने मिलकर आपकी गद्य-शैली को बड़ा ही आकर्षक एवं प्रभावशाली बना दिया है।"[98]

यथार्थवादी परम्परा के गद्य लेखकों में वर्णन और रवानी अवश्य मिलती है। उनकी भाषा बोलचाल की लय के निकट है। वह दार्शनिक विवेचन से कहीं भी शिथिल और निगूढ़ नहीं होती। इन गद्य - लेखकों की भाषा के विषय में डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते

हैं- "भगवती चरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर आदि के गद्य में मध्यवर्गीय सामाजिक जीवन के विविध पक्षों को अभिव्यक्ति देने और व्यक्ति एवं समाज के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इनके गद्य के आकर्षण का आधार उसकी प्रवाहमयी वर्णनात्मकता ही है।"[99]

इस परम्परा के गद्य-लेखकों ने अपनी भाषा को तत्सम-बहुलता से बचाया है। इनके गद्य में उर्दू की गद्य शैली की प्रमुख विशेषता 'रवानी' अवश्य मिलती है। शब्द-चयन रोजमर्रा के जीवन से किये हैं। खासकर मध्यवर्गीय जीवन की अभिव्यक्ति करते शब्दों, मुहावरों का प्रयोग किया है।

इस काल-खण्ड में जैनेन्द्र का कथा-साहित्य हिन्दी-गद्य को एक नया आयाम देता है। जैनेन्द्र ने अपने कथा साहित्य में मानव मन की अतल गहराई में उतरने की कोशिश की है। वह उसके अन्तर्जगत की गुत्थियों को खोलते हैं। जैसाकि रामस्वरूप चतुर्वेदी इस बारे में कहते भी हैं - "प्रेमचंद कहानी कहते हैं - जैनेन्द्र खोलते हैं।"[100] मनुष्य के अर्न्तजगत को अभिव्यक्ति देने के कारण उनके गद्य में सांकेतिकता और सूक्ष्मता का दर्शन होता है। फिर भी उनके गद्य में उलझाव नहीं है। वह बोलचाल की ही सहज-सरल शैली का प्रयोग करते हैं। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के अनुसार "इसमें संदेह नहीं कि जैनेन्द्र कहते कम हैं, संकेतित अधिक करते हैं। वे छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करते हुए, बात-चीत के लहजे में बिना किसी प्रकार के आवेग या उष्मा का परिचय दिए अत्यन्त विश्वसनीय मुद्रा में धीरे-धीरे स्थिति का बोध कराते हैं।"[101] 'त्यागपत्र' से इस तरह के गद्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

"मैंने कहा, "बुआ, आज क्या बात है?

बोलीं, मैं बुआ हूं! बुआ मुझे अच्छा नहीं लगता। प्रमोद, तू मुझे जीजी कहा कर जीजी! शीला मुझे जीजी कहती है।"

मैंने कहा, "मेरी तो बुआ हो।"

"मैं नहीं बुआ होना चाहती। बुआ! छी: देख, चिड़िया कितनी ऊंची उड़ जाती है। मैं चिड़िया होना चाहती हूं।"[102]

इस अवतरण में 'बुआ' के मुक्त होने की आकांक्षा चिड़िया के बिंब में संकेतित है।

जैनेन्द्र की कथा-भाषा मानव-मन के सत्य का साक्षात्कार करती है। यह भाषा स्त्री-पुरुष के संबंधों, मनुष्य के समाज से संबंधों को अभिव्यक्त करने में समर्थ हुई है। यह उनकी महत्वपूर्ण उपलब्धि है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में "कहानी पहले पशुओं-मनुष्यों-दानवों के किसी दिलचस्प कथा-क्रम से कोई नैतिक सीख देना चाहती थी - अब वही कहानी सामान्य बोली-बानी में से किसी गहरे सत्य का साक्षात्कार करने के लिए यत्नशील है। इस लंबे विकासक्रम में जैनेन्द्र की कथा-भाषा का महत्वपूर्ण योगदान है।"[103]

मानव-मन की गहराइयों को खोलने का प्रयास इलाचन्द्र जोशी ने भी अपने 'आहुति' (1945), 'खण्डहर की आत्माएँ' (1948) कहानी संग्रह, 'सन्यासी (1940), 'निर्वासित', (1946), 'प्रेत और छाया' (1944) आदि उपन्यासों में किया है। लेकिन मनोविज्ञान में ही उलझे रह जाने के कारण उनका गद्य दुरुह बन गया है। इस बारे में डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं - "मानव मन की अतल गहराई में स्थित एक अबूझ रहस्यमय और स्वतन्त्र जगत् की सत्ता की स्वीकृति एवं उसके उद्घाटन की प्रेरणा से रचित इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों का गद्य अधिक प्रभावी नहीं बन सका है। वस्तुतः फ्रायड और एडलर के मनोविश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर पात्रों एवं स्थितियों की सायास कल्पना के कारण आपके गद्य की सहजता समाप्त हो गई है।"[104]

अज्ञेय के उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' (1941) के द्वारा हिन्दी गद्य में एक नया मोड़ आता है। अनुभूति और चिंतन के मेल से सिरजी उनकी कथा-भाषा अपनी गहन रागात्मकता के कारण सहज आकर्षित करती है। इस भाषा में तत्सम रूपों की ओर झुकाव अवश्य है पर वह इतनी दुर्बोध भी नहीं कि किसी को अपना अंतरंग न बना सके। स्थितियों, चरित्रों को वह अपने संवेदनात्मक स्पर्श से मूर्त्त कर देते हैं हल्के-हल्के। लेकिन अपने प्रभाव में वह कहीं भी शिथिल नहीं होती। सघन और घनीभूत गद्य। ऐन्द्रिक-बिंबों का प्रयोग उसे प्रभावशाली बनाने में सहायक हुआ है। गहरे भाव-संवेदन से रची गयी कथा-भाषा का एक उदाहरण 'रोज' कहानी से प्रस्तुत है -

"मालती ने भीतर जाकर आम उठाये और अपने आंचल में डाल लिये। जिस कागज में वे लिपटे हुए थे, वह किसी पुराने अखबार का टुकड़ा था। मालती चलती-चलती सन्धया के उस क्षीण प्रकाश में उसी को पढ़ती जा रही थी। ....वह नल के पास जाकर खड़ी हो उसे पढ़ती रही। जब दोनों और पढ़ चुकी तब एक लम्बी सांस लेकर उसे फेंककर आम धोने लगी।"[105]

अज्ञेय मौन के कवि है। वह कहते नहीं इशारा करते हैं। इस अवतरण में देखिए अज्ञेय ने बिना कुछ कहे कैसे मालती के जीवन की 'नीरसता' को व्यंजित कर दिया है। भाषा बिल्कुल ही सहज, सरल है। छोटे-छोटे वाक्य सीधे मन में उतरते जाते हैं।

अज्ञेय की कथा-भाषा में कई रंग है। सूक्ष्म और संश्लिष्ट बिंबो, प्रतीकों से रची गयी कथा-भाषा, बोलचाल के सहज लहजे वाली कथा-भाषा और संस्कृत की गद्य-शैली से प्रभावित कथा-भाषा। 'शेखर एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' की भाषा में जहां तत्समबहुलता और अलंकृति है वहीं 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा बिल्कुल अनलंकृत। बोलचाल की लय में। एक उदाहरण देखें -

"उसे देखते-देखते मेरा मन होता है कि ज़ोर से चीखूँ कि जलती हुई लकड़ी उठाकर उसकी कलाइयों पर दे मारुँ जिससे उसका आग को असीसने का दुस्साहस करने वाला हाथ नीचे गिर जाए - एकाएक जिसके सदमे से उसकी हृदयगति बंद हो जाए।"[106]

जितनी विविधता उनकी गद्य-शैली में है, उतना ही शब्द-चयन में। वह संस्कृत, अंग्रेजी, क्षेत्रीय बोलियों के शब्दों को नि:संकोच अपनी भाषा में प्रयोग करते हैं। शब्द-चयन के पीछे उनका आग्रह भाषा को अधिक जीवंत बनाने की ओर रहता है।

अज्ञेय के गद्य के विषय में परमानंद श्रीवास्तव लिखते हैं - "अज्ञेय प्राय: गहरे भाव संवेदन से गद्य को अनोखी दीप्ति देते हैं। विचारधारा या जीवन दृष्टि को लेकर उनसे हमारी असहमति हो सकती है पर उनके गद्य की सृजनशीलता, उसमें निहित गहरी रागात्मक सम्पृक्ति की अपेक्षा नहीं की जा सकती।"[107]

इस काल में संस्कृत की गद्य-शैली से बहुत से रचनाकार प्रभावित हुए थे। इन रचनाकारों में मनुष्य की जययात्रा के उद्घोषक हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम अन्यतम है। उन्होंने संस्कृत की कोमलकांत पदावली - लालित्यपूर्ण भाषा को अपने गद्य में अन्तर्भुक्त कर हिन्दी-गद्य साहित्य को नयी भावदीप्ति दी। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में "बाणभट्ट के गद्य की समास-गुम्फित अलंकृत शैली को हिन्दी में अवतरित करने का आपका प्रयास स्तुत्य है।"[108]

द्विवेदी जी के निबंध संग्रह - 'अशोक के फूल' (1948), 'कल्पलता' (1951), उपन्यास - 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946) आदि की भाषा का लालित्य सहज ही आकर्षित करता है। आपके गद्य की शक्ति शास्त्रधर्मी और लोकधर्मी भाषा के समन्वय में है। वह जितना ही अलंकृत है उतना ही सहज और आत्मीय भी। उसके भीतर की रागात्मकता बहुत ही मर्मस्पर्शी है। 'अशोक के फूल' से एक उदाहरण प्रस्तुत है -

"अशोक के फूल ही नहीं, किसलय भी हृदय को कुरेद रहे हैं। कालिदास जैसे कल्पकवि ने अशोक के पुष्प को ही नहीं, किसलयों को भी मदमत्त करने वाला बताया था .... अवश्य ही शर्त यह थी कि वह दयिता (प्रिया) के कानों में झूम रहा हो।"[109]

द्विवेदी जी के गद्य की एक अन्य विशेषता उसकी विनोद प्रियता है। यह भारतेन्दु युगीन हँसमुख गद्य का नया संस्करण है। विदग्धता और विनोद प्रियता उनके गद्य के सौंदर्य की वृद्धि करते हैं। उनके निबंध-साहित्य में हल्के विनोद-भाव की छाया जरूर मिलेगी। विशिष्ट बात यह है कि वह विनोद सिर्फ मनुष्य से ही नहीं करते सम्पूर्ण चराचर को अपने विनोद-भाव का आलंबन बनाते हैं। यथा -

"परसाल भी मैंने वसंत पञ्चमी के पहले आम्र-मुकुल देखे थे। पर बड़ी जल्दी वे मुरझा गए। उसी आम को दुबारा फूलना पड़ा। मुझे बड़ा अद्भुत लगा। आगे-आगे क्यों फूलते हो बाबा, जरा रूकके ही फूलते! कौन ऐसी यात्रा बिगड़ी जाती थी। मेरे एक मित्र ने कहा था कि मुझे ऐसा लगता है कि नव वधू के समान यह बिचारी आम्रमञ्जरी

जरा-सा झाँकने बाहर निकली और सामने हमारे - जैसे मनहूसों को देखकर लजा गयी।"[110]

वह तत्सम प्रधान शब्दों के साथ ठेठ देशी शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। तत्सम बहुलता के बीच ठेठ देशी शब्द वाक्य को एक नाटकीय भंगिमा देते हैं। उनके 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में ऐसे बहुत से शब्द, मुहावरें मिल जायेंगे। यथा - निउनिया, बंड, फक्कड़, बच्चू, आवारा, मस्तानी चाल, लो गुरु आदि। इस तरह के प्रयोगों द्वारा वह शास्त्रीय भाषा को लोक के निकट लाने का काम करते हैं।

महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र' (1941), 'स्मृति की रेखाएं' (1943), 'शृंखला की कड़ियाँ' (1942) आदि गद्य-रचनाओं के माध्यम से हिंदी गद्य को मानवीय करुणा, हार्दिकता, चित्रमयता, रागधर्मिता का स्पर्श प्राप्त होता है। महादेवी वर्मा हिंदी की विशिष्ट गद्यकारों में हैं। उनके रेखाचित्र, संस्मरण अपनी हृदयस्पर्शी भाषा के कारण बहुत प्रसिद्ध हुए। उनका गद्य अपनी तत्समबहुलता के बाद भी बेहद आत्मीय है। इस बारे में रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं - "महादेवी की भाषा सामान्यतः तत्सम शब्द प्रधान है, इसमें संदेह नहीं। गद्य में वाक्य विन्यास भी अपेक्षाकृत लंबा और जटिल है, फिर भी वह निर्मल और आत्मीय है, यह अपने में एक विलक्षण बात ही कही जाएगी।"[111]

तत्सम शब्दों और लम्बे-लम्बे वाक्यों से युक्त उनके आत्मीय गद्य का एक अंश देखिए -

"वर्तमान की कौन सी अज्ञात प्रेरणा हमारे अतीत की किसी भूली हुई कथा को संपूर्ण मार्मिकता के साथ दोहरा जाती है, यह जान लेना सहज होता तो मैं भी आज गांव के उस मलिन सहमे नन्हें - से विद्यार्थी की सहसा याद आ जाने का कारण बता सकती जो एक छोटी लहर के समान ही मेरे जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छूकर अनन्त जल राशि में विलीन हो गया है। (घीसा)"[112]

महादेवी ने अकाल्पनिक गद्य ही लिखा है - रेखाचित्र, संस्मरण यात्रा वृत्त, निबंध। पर वह किसी भी तरह काल्पनिक गद्य साहित्य से कम नहीं है। उसके रचना-विधान में कथा का सा आनन्द है। उन्होंने इसे अपने सर्जनात्मक स्पर्श से प्रभावशाली बनाया है। महादेवी के इस महत्व को स्वीकारते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं - "पर यहाँ विलक्षण बात यह है कि बिना उपन्यास - कहानी-नाटक लिखे महादेवी श्रेष्ठ गद्यकार होती हैं। यह हिंदी गद्य के विन्यास और विकास का एक अत्यंत प्रीतिकर अध्याय है।"[113]

छायावादी कवियों में पंत और निराला का गद्य भी संस्कृत की गद्य शैली से प्रभावित है। पंत में तत्सम बहुलता बहुत अधिक है। निराला का गद्य यथार्थधर्मी होने के कारण व्यंग्य की प्रवृत्ति और लोकजीवन के शब्दों, मुहावरों को लेकर चलता है। 'अप्सरा' (1931), 'अलका' (1933) उपन्यासों में कलात्मकता मिलती है, तो कुल्लीभाट (1939), 'बिल्लेसुर बकरिहा' (1941), 'चतुरी चमार' (1945) में देशजता।

(1950-1965 की अवधि का गद्य)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सन् 1950 से 65 तक का हिन्दी गद्य संक्रमणकालीन यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए अपने लिए नयी कथा-भाषा का आविष्कार करता है। इस गद्य में पारम्परिक वर्णन-कला से मुक्ति है। घटनाबहुलता क्रमशः तिरोहित होती गई है। उसका स्थान संवेदना ने ले लिया है। अपने समय के जटिलतर और संक्रमणकालीन यथार्थ को व्यंजित करने के लिए कथाकारों ने प्रतीकों और बिंबों का सहारा लिया है। कथा इस कारण चित्रात्मक भी हुई है। भाषा में सूक्ष्मता भी बढ़ती गई है। नई कहानीकारों की एक पूरी पीढ़ी इस सूक्ष्म-संवेदनधर्मी भाषा को अपनाती है। इस काल-खण्ड में आंचलिक कथाकारों की भी एक पीढ़ी सामने आती है जिनके द्वारा हिन्दी गद्य को आंचलिक भाषा के रूप में एक नयी भंगिमा प्राप्त होती है। आंचलिक भाषा ने हिन्दी गद्य को नये-नये मुहावरे और शब्द प्रयोग दिये। इनके माध्यम से हिन्दी गद्य का स्वरूप लोकधर्मी होता है। फणीश्वर नाथ रेणु, नागार्जुन, शैलेश मटियानी, और मार्कण्डेय जैसे आंचलिक कथा-लेखकों के गद्य में ग्रामीण अंचल की विभिन्न ऐन्द्रिय बिंबों के रूप में जीवंत उपस्थिति विशेष रूप से आकर्षित करती है।

आंचलिक कथाकारों में रेणु अपने विशिष्ट भाषा-प्रयोग के कारण अलग से पहचाने जाते हैं। 'मैला आंचल' (1954), 'ठुमरी' (1958) का गद्य अपनी संगीतधर्मिता के कारण बहुत प्रसिद्ध हुआ। रेणु के गद्य की विशिष्टता उसकी संगीतधर्मिता में है। रेणु की कथा में (मैला आँचल विशेष) बिखराव का शिल्प मिलता है जिसे जोड़ने का कार्य पार्श्व में बजता हुआ संगीत करता है। संगीत और राग कथा को एक सूत्रता देते हैं। इसके अलावा ग्राम्य जीवन के सूक्ष्म ऐंद्रिंक बिंब पूरे परिवेश को चित्र रूप में जीवंत कर देते हैं। रेणु ऐंद्रिय बिंबों के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं। ध्वनि, वर्ण, गंध के अनगिनत बिंब उनके कथा-साहित्य में मिल जायेंगे। 'मैला आँचल' में ही रह-रहकर ग्राम जीवन की विभिन्न ध्वनियां उठती रहती हैं जो कथा को सजीवता प्रदान करती हैं। विभिन्न उत्सवों पर गूँजने वाली गीतों की कड़ियां, संथालों के वाद्य यन्त्रों की ध्वनियां 'मैला आंचल' में भरी पड़ी हैं। ऐसी ही राग धर्मिता उनकी कहानियों में भी है।

डॉ० रामचन्द्र तिवारी के अनुसार "रेणु का बिम्बधर्मी गद्य अपनी ध्वन्यांकन शैली और काव्यात्मक संवेदनशीलता में बेजोड़ है।"[114] रेणु ने यथार्थ की भाषा को भी उत्सवधर्मी भाषा बनाकर प्रयोग किया है। यह उनके गद्य की सबसे बड़ी विशिष्टता है। 'मैला आँचल' से एक उदाहरण देखें -

"सन्थाल टोली में दो दिनों से रात-दिन मादल बजता रहता है। डा डिग्गा, डा डिग्गा! औरतें गाती हैं। नाचती हैं - झुमुर-झुमुर! ...दरख्स्त नामंजूर हो गई! जमींदार जमीन छीन लेगा! कोठी के जंगल में, जामुन और गूलर में बहुत फल लगे हैं - इस बार। ....हल के फाल को तोड़कर तीर बनाओ।"[115]

रेणु से भिन्न गद्य नागार्जुन का है। उनके गद्य में वर्णन की प्रवृत्ति मिलती है। वह अपने अंचल के चरित्रों, दृश्यों, घटनाओं के स्थूल वर्णन में अधिक रुचि लेते हैं। उनके यहाँ रेणु की तरह की उत्सवधर्मी भाषा नहीं मिलेगी। भाषा में एक तरह की सादगी है। 'रतिनाथ की चाची' (1948) से एक उदाहरण प्रस्तुत है -

"सड़क कुएं से दो बीघा दूर थी। गाड़ीवान सोया हुआ था। बैल बेचारे लीक पकड़कर चले जा रहे थे। बायीं ओर जो जुता था, वह सिलेविया (संवलिया) था, दायीं और धौला। डील-डौल, चाल-ढाल, रंग-रूप सभी दृष्टि से सिलेविया अव्वल था। उसकी तुलना में धौला काफी हल्का था। सिलेविया की गरदन में घंटी बंधी थी।"[116]

आंचलिक कथाकारों में मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, शैलेश मटियानी का गद्य भी हिंदी गद्य की अभिवृद्धि करने में समर्थ हुआ है।

इस काल खण्ड में सबसे महत्वपूर्ण है नये कहानीकारों का गद्य। स्वतन्त्रता के बाद देश का परिदृश्य तेजी से बदला। प्रथम - द्वितीय विश्व युद्ध की छायाओं, महानगरीय जीवन के संत्रास, मूल्यों के विघटन, बढ़ती बेरोजगारी, स्त्री-पुरुष के जटिल संबंधों आदि ने समकालीन कथा में अपनी उपस्थिति दर्ज की। यथार्थ जटिल से जटिलतर हो गया। इसकी अभिव्यक्ति के लिए नये कथाकारों ने नई कथा-भाषा चुनी। जिसमें पारस्परिक वर्णन कला से मुक्ति का आग्रह था। स्थूलता का स्थान सूक्ष्मता ने ले लिया।

सांकेतिकता, बिम्बात्मकता, प्रतीकात्मकता उनकी कथा-भाषा के महत्वपूर्ण उपादान हुए। भाषा की तत्समबहुलता कम हुई। उसने रोजमर्रा के जीवन के शब्दों को नि:संकोच अपनाना शुरु किया। मधुरेश के अनुसार "नयी कहानी में बिंब विधान के प्रति लेखकों का आकर्षण भी उसकी अंतर्वस्तु की जटिलता की एक अनिवार्य मांग के रूप में देखा जाना चाहिए। अपने पात्रों के भावों और मनोदशाओं को वर्णनों और ब्यौरों द्वारा उतने प्रभावी ढंग से अंकित नहीं किया जा सकता था। इस भावात्मक जटिलता को बिंबों द्वारा व्यक्त करने की सजगता इस दौर के प्राय: सभी कहानीकारों में दिखाई देती है।"[117]

नई कहानी के प्रमुख कथाकारों में मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, धर्मवीर भारती, कृष्णा सोबती, ऊषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी आदि का नाम उल्लेखनीय है। नई कहानी की बिंबधर्मी, प्रतीकात्मक और बोलचाल की शब्दावली से पूर्ण भाषा का एक उदाहरण कमलेश्वर की कहानी 'दिल्ली में एक मौत' से प्रस्तुत है -

"वे रुहें चुपचाप धुंध के समुद्र में बढ़ती जा रही हैं - बसों में भीड़ है। लोग ठण्डी सीटों पर सिकुड़े बैठे हैं और कुछ लोग बीच में ही ईसा की तरह सलीब पर लटके हुए हैं - बाँहें पसारे उनकी हथेलियों में कीले नहीं, बस की बर्फीली चमकदार छड़े हैं।"[118]

इस छोटे से अवतरण के माध्यम से कथाकार ने मध्यवर्गीय जीवन की यांत्रिकता, अकेलेपन, संत्रास को बिना तफसील में गये छोटे-छोटे वाक्यों के सहारे व्यंजित कर दिया है। भाषा का यह सहज, सरल रूप जो समकालीन यथार्थ जीवन से अपने बिंबों, शब्दों, मुहावरों को उठाता है, प्रायः सभी कथाकारों में मिल जाता है।

इस दौर के विशिष्टतम गद्यकारों में हैं निर्मल वर्मा इनके गद्य से हिंदी गद्य को एक नई ऊंचाई प्राप्त होती है। इनका गद्य पूर्ववर्ती गद्यकारों से बिल्कुल अलग राह चुनता है। भारतेन्दु युग से लेकर नई कहानी के काल तक हिन्दी गद्य के प्रायः दो रूप दिखाई देते हैं - पहला रूप संस्कृत की तत्सम प्रधान भावात्मक शैली को लेकर चलता है जिसमें ठाकुर जगमोहन सिंह, प्रसाद, महादेवी वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय आदि आते हैं। दूसरा रूप उर्दू की रवानी, बोलचाल की शब्दावली, वर्णन की कला को लेकर चलता है। जिसमें भारतेन्दु, प्रेमचंद, यशपाल, नागार्जुन आदि आते हैं। इन सबसे भिन्न रूप है निर्मल वर्मा का गद्य। यह न तत्समता का भावात्मक गद्य है न वर्णन का विचारपूर्ण गद्य। यह संगीतात्मक गद्य है। लयात्मकता और आत्मीयता इसका प्रधान गुण है।

यह उनके गद्य की आत्मीयता ही है कि पाठक भी उनके साथ 'दूसरी दुनिया' की यात्रा करने लगता है। वह 'दूसरी दुनिया' जो कहीं बाहर नहीं अपने ही भीतर है। अपने ही भीतर खोये हुए की तलाश-स्मृति, देश, काल, संबंध, आत्म आदि की। पाठक उनकी इस 'दूसरी दुनिया' के आत्मीय गद्य से संवाद स्थापित कर लेता है। उसके और कथा के बीच कोई द्वैत नहीं रह जाता। निर्मल के कहने का ढंग भी ऐसा है कि जैसे कोई बहुत आत्मीय उनके पास बैठा है और वो बहुत धीरे से उसके कानों में फुसफुसाते हुए कुछ कह रहे हों। सुनने वाले को भी ऐसा लगता है जैसे यह बात केवल उसी से कही जा रही है। निर्मल वर्मा के गद्य में ऐसे अंतरंग और आत्मीय क्षण बहुत से मिल जायेंगे। यथा -

"खामोश वह अब भी रहती थी, किन्तु अब पहले-सी दूरी मिट चली थी। कभी-कभी लगता था कि वह मुझे भी अपनी खामोशी के उन छिपे, धुँधले कोनों तक ले जाती थी। जहाँ वह मुझसे अलग, अकेले में इतने बरस तक रही थी। उन दिनों मुझे पहली बार पता चला था कि हमारी भूख केवल भविष्य के क्षणों में संग जी लेने की चाह नहीं थी, वह उस अतीत की ओर भी जाती थी जहाँ हम दोनों अकेले थे और जिसे हम दोबारा एक-दूसरे के संग जी लेना चाहते थे...।"[119] (तीसरा गवाह)

इसी तरह 'जलती झाड़ी' कहानी में बहते हुए पानी को देखकर वह सोचते हैं "बहते पानी को देखना शायद बहुत अजीब है। ज्यादा देर तक एकटक देखते रहो तो लगता है, हममें से भी कुछ टूट-टूटकर उसके संग बह रहा है। हमारे भीतर दूरी के जो हिस्से हैं, जिन्हें कभी-कभार सोते हुए नींद की चन्द लहरें भिगोकर वापस लौट जाती हैं, जो हमारी आधी अंधेरी ज़िन्दगी का हिस्सा हैं, लगता है, जैसे वे स्याह, गहरे पानी के भीतर से उन पर झाँक रहे हों, हमें देख रहे हों।"[120] यह अवतरण पाठक को भी अपने साथ-साथ पानी के भीतर से झाँकती हुई दुनिया में बहा ले जाता है।

निर्मल अपने गद्य में बहुत धीमे बोलते हैं जैसा कि किसी अपने आत्मीय से बात करते हुए आवाज़ का लहजा होता है। बिल्कुल धीमा और शांत। यहीं पर उनका गद्य कविता की शक्ति अर्जित कर लेता है। अच्छी कविता का यह गुण है कि वह बोलती कम है, इशारा अधिक करती है। ऐसी कविता को ध्यान से सुनना पड़ता है, उसके पास जाना पड़ता है। उसके स्वभाव जैसा होना पड़ता है। कविता अगर चीखने लगे तो वक्तव्य बन जाती है। उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है।

निर्मल अपने किसी संवेदन को बिना किसी शोर के शब्दों में सीधे उतार देते हैं यहीं पर उनका गद्य कविता जैसा प्रभाव छोड़ने में समर्थ होता है। उदाहरण के तौर पर 'अकेलेपन' की व्यंजना देखिए 'एक दिन का मेहमान' से - "लड़की अपने बचपन की बेसमेण्ट में जाकर ही पिता से मिल पाती थी ...लेकिन कभी-कभी उसे छोड़कर दूसरे कमरों में चली जाती थी, जिनके बारे में आदमी को कुछ भी मालूम नहीं था।"[121]

यहाँ निर्मल ने लड़की के अकेलेपन और भटकाव को कम से कम शब्दों में बिना किसी अलंकृति के व्यंजित कर दिया है। यह है उनकी काव्यात्मकता। इस संबंध में निर्मल के गद्य की संगीतधर्मिता पर भी कुछ चर्चा अपेक्षित है। निर्मल के गद्य में संगीत के उपकरणों, पियानों, मोजार्ट, गिरजे की बजती घंटियों की आवाज़, किसी रिकार्ड के बजने के जिक्र के कारण उसे संगीत धर्मी कह दिया जाता है। यह केवल स्थूल बातें हैं। सतह की बातें हैं।

निर्मल के गद्य का संगीत उसकी भीतरी संरचना में है। संवेदना के राग में है। वह संवेदना के सुर को जगाते हैं। वह अपने गद्य में संवेदना के राग को इस तरह उभारते हैं कि वह संगीत सा प्रभाव छोड़ने लगती है। उनकी भाषा उदासी, अकेलेपन, मन की पीड़ा, आत्मनिर्वासन की पीड़ा, मृत्यु की पीड़ा के विभिन्न रागों को घनीभूत करती है। यह राग उन्होंने शब्दों के उचित चयन और संयोजन के द्वारा पैदा किया है। निर्मल अपनी भाषा में उन्हीं शब्दों को चुनते हैं जो राग को ठीक-ठाक व्यंजित कर सकें। शब्द की सही पकड़ द्वारा ही उन्होंने गद्य में रागात्मकता पैदा की है। उनका शब्द चयन भावानुरूप है। कोई भी शब्द आरोपित नहीं लगता। सहज, और तरल शब्द। शब्दों के उचित चयन एवं उनका वाक्य में संयोजन, इन विधियों द्वारा ही उन्होंने गद्य में संगीत का प्रभाव उत्पन्न किया है। संगीतात्मकता की दृष्टि से जो महत्व काव्य में पंत का है वही गद्य में निर्मल का। पंत ने शब्दों के उचित चयन एवं वाक्य-विन्यास द्वारा ही अपनी कविता में संगीत की सृष्टि की थी। शब्दों, ध्वनियों की आवृत्ति, वाक्य में आरोह-अवरोह, एक वाक्य का दूसरे वाक्य से सम्बन्ध यह सब निर्मल की संगीतात्मक प्रभाव पैदा करने की युक्तियाँ हैं। उनके यहाँ वाक्य संरचना भी विशिष्ट है। उनके गद्य में वाक्य की प्रकृति एक जैसी नहीं मिलेगी। वाक्य छोटे-बड़े। फिर छोटे-बड़े। और कभी छोटे से लगातार बड़े होते जा रहे हैं। इन युक्तियों के द्वारा उन्होंने अपने गद्य में मोहक संगीत की सृष्टि की है। वाक्य की विविधता का एक उदाहरण देखें - "हम धूप में ऊँघने लगे हैं। हवा चलती है और अजीब कोमल-सी सरसराहट होती है कानों के पास। घास, तितलियाँ - या महज़ हवा। थोर्गियेर दूरबीन से बन्दरगाह की ओर देख रहे हैं। सोते हुए भी मुझे लहरों का स्वर सुनाई देता है ...जैसे कोई

रो रहा है। लेकिन मैं जानता हूँ, यहाँ कोई नहीं है - सिर्फ़ हवा में सरसराती घास है और ऊपर बादल हैं और समुद्र बहुत दूर है ...अचानक थोर्गियर मेरा कन्धा हिलाते हैं, "देखो... उस तरफ़", वह ऊँगली से इशारा करते हैं और दूरबीन मेरे हाथ में पकड़ा देते हैं।"[122]

संगीत का प्रभाव अपने चरम पर तब होता है जब वाक्य जीवन की किसी विडम्बना को व्यंजित कर रहे होते हैं। इन वाक्यों में वह शब्दों द्वारा दर्द की हल्की-हल्की सी लकीरें उभारते हैं जिनकी ध्वनियाँ क्रमशः तीव्रतर होती जाती हैं। उदाहरण के लिए पहाड़ के पीछे से उड़कर आ रहे परिन्दों को देखकर लतिका का यह सोचना "...हर साल सर्दी की छुट्टियों से पहले ये परिन्दे मैदानों की ओर उड़ते हैं, कुछ दिनों के लिए बीच के इस पहाड़ी स्टेशन पर बसेरा करते हैं, प्रतीक्षा करते हैं बर्फ के दिनों की, जब वे नीचे अजनबी, अनजाने देशों में उड़ जाएँगे...

क्या वे सब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं? वह, डॉक्टर मुकर्जी, मि० हयूबर्ट - लेकिन कहां के लिए, हम कहाँ जाएँगे?"[123]

यह पंक्तियाँ लतिका की 'नियति' के प्रति हमारा ध्यान बरबस ही खींच लेती हैं। लतिका के सवाल को हम अनसुना नहीं कर पाते। 'हम कहां जाएँगे' की प्रश्नाकुल ध्वनि देर तक हमारे भीतर गूँजती रहती है।

निर्मल के गद्य में काव्यात्मकता उसकी बिंबधर्मिता में भी है। उनके यहाँ जितने सघन ऐंद्रिय बिंब मिलते हैं वह हिंदी गद्य में दुर्लभ है। स्पर्श, वर्ण, गंध, ध्वनि के अनगिनत बिंब। यह निर्मल ही हैं जो कमरे की बेसमेंट की गंध तक को पहचान लेते हैं। अंधेरे कमरे में 'प्रकाश की पतली-सी रेखा फर्श पर तेजी से लपकती हुई सामने की दीवार पर चढ़ती हुई देख लेते हैं। इसी तरह उनके उपमान प्रयोग भी हैं जो समकालीन कथा-भाषा में दुर्लभ है। यथा - 'पीले करारे पत्ते', 'फटी-फटी सी कराहट', 'मैली पीली धूप', 'ठण्डी सी विरक्ति', 'पगली सी आकांक्षा', 'भय की गंध' आदि।

काव्यात्मकता एवं संगीतधर्मी भाषा निर्मल से पूर्व भी रही है।, पर उनमें और निर्मल की भाषा में मूलभूत अंतर यह है कि उनके यहाँ काव्यात्मकता आरोपित नहीं है। वह राग-धर्म के रूप में सृजित है। वह भावों के अनुरूप ही प्रयुक्त हुआ है। रागधर्मिता, तरलता, आत्मीयता उनके गद्य का स्वभाव है। उनमें प्रसाद, अज्ञेय, जैनेन्द्र जैसी अन्तर्मुखता और निगूढ़ता नहीं है। उनके गद्य में विचार भी तरलीकृत हो जाते हैं। अर्थात् विचार और संवेदन में कोई फर्क नहीं रह जाता है। कह सकते हैं कि उनकी भाषा विचार की गांठों से मुक्त है। सही मायने में निर्मल वर्मा का गद्य "खरगोश के रोयों सा मुलायम गद्य" है।

'हिंदी गद्य का विकास' के क्रम में यहाँ निर्मल वर्मा के गद्य की विशिष्टताओं की संक्षिप्त चर्चा की गई है। अगले अध्यायों के भाषा-शिल्प संबंधी भाग में उनके गद्य का विस्तृत विवेचन किया जाएगा।

संदर्भ

1. हिंदी गद्य का विकास, डॉ० प्रेम प्रकाश गौतम, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर, सं० 1966, पृ० 29
2. समय समय पर, केदारनाथ अग्रवाल, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 1970, पृ० 27 से उद्धृत
3. साहित्य के सिद्धान्त तथा रूप, भगवती चरण वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1976, पृ० 148
4. आलोचना के मान, शिवदान सिंह चौहान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2002, पृ० 122
5. समय समय पर, केदारनाथ अग्रवाल, वही, पृ० 32
6. आलोचना के मान, वही, पृ० 122
7. हिंदी गद्य का विकास, डॉ० प्रेम प्रकाश गौतम, वही, पृ० 31 से उद्धृत
8. वही, पृ० 31 से उद्धृत
9. वही, पृ० 31 से उद्धृत
10. काव्य के रूप, गुलाब राय, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, सं० 1970, पृ० 18
11. हिंदी गद्य का विकास, डॉ० प्रेम प्रकाश गौतम, वही, पृ० 31 से उद्धृत
12. आधुनिक हिंदी गद्य शैली का विकास, डॉ० श्याम वर्मा, ग्रन्थम, कानपुर, सं० 1971, पृ० 17 से उद्धृत
13. वही, पृ० 24
14. वही, पृ० 24
15. वही, पृ० 26
16. हिंदी का गद्य साहित्य, डॉ० रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं० 1992, पृ० 1
17. गद्य की पगडण्डियाँ, डॉ० भारतभूषण अग्रवाल, कपूर पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृ० 9
18. हिंदी गद्य : विन्यास और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2006, पृ० 11
19. उपन्यास सिद्धांत विवेचना, 6वाँ खंड, सं० जबरीमल्ल पारीख, इंदिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली, सं० 2002, पृ० 57
20. हिन्दी भाषा और संप्रेषण प्रक्रिया, डॉ० शिवकुमार शाण्डिलय, मंगला प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1984, पृ० 9
21. साहित्य के सिद्धान्त तथा रूप, वही, पृ० 144
22. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-8, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० 2029 वि०, पृ० 50

23. हिंदी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 7
24. हिन्दी गद्य के विविध साहित्य रूपों का उद्‌भव और विकास, डॉ० बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे, किताब महल, इलाहाबाद, सं० 1958, पृ० 4
25. आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका (1757-1857) लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, लोकभारती, इलाहाबाद, सं० 1971, पृ० 259
26. वही, पृ० 264
27. हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-8, वही, पृ० 54-55
28. वही, पृ० 52
29. वही, पृ० 55
30. हिंदी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 9 से उद्‌धृत
31. वही, पृ० 10
32. हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-8, वही, पृ० 58
33. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (1757-1857), वही, पृ० 268
34. वही, पृ० 271
35. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2057 वि०, पृ० 228
36. वही, पृ० 229 से उद्‌धृत
37. वही, पृ० 229
38. हिंदी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 18
39. हिंदी गद्य के विविध साहित्य रूपों का उद्‌भव और विकास, वही, पृ० 19
40. हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, वही, पृ० 27
41. वही, पृ० 28
42. वही, पृ० 28
43. वही, पृ० 25
44. हिंदी गद्य के विविध साहित्य रूपों का उद्‌भव और विकास, वही, पृ० 37
45. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वही, पृ० 247
46. वही, पृ० 247
47. हिंदी गद्य : विन्यास और विकास, वही, पृ० 80
48. हिंदी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 30
49. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वही, पृ० 254
50. वही, पृ० 255
51. वही, पृ० 255
52. हिंदी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 32-33

53. वही, पृ० 33
54. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वही, पृ० 247
55. वही, पृ० 260
56. वही, पृ० 258
57. वही, पृ० 258 से उद्धृत
58. हिंदी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 34
59. आलोचना के मान, वही, पृ० 126
60. हिंदी गद्य के विविध साहित्य रूपों का उद्भव और विकास, वही, पृ० 51
61. हिंदी गद्य : विन्यास और विकास, वही, पृ० 96
62. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वही, पृ० 268
63. वही, पृ० 278
64. वही, पृ० 280
65. वही, पृ० 280 से उद्धृत
66. वही, पृ० 281
67. हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, वही, पृ० 34
68. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वही, पृ० 283
69. वही, पृ० 282 से उद्धृत
70. हिंदी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 37
71. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वही, पृ० 283
72. हिंदी गद्य के विविध साहित्य रूपों का उद्भव और विकास, वही, पृ० 54
73. हिंदी साहित्य का इतिहास, वही, पृ० 284 से उद्धृत
74. वही, पृ० 286
75. हिंदी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 37 से उद्धृत
76. वही, पृ० 35
77. वही, पृ० 38
78. हिंदी गद्य : विन्यास और विकास, वही, पृ० 241
79. हिंदी गद्य के विविध साहित्य रूपों का उद्भव और विकास, वही, पृ० 61 से उद्धृत
80. कथा भूमि, सं० चित्तरंजन मिश्र, गणेश प्रसाद पांडे, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1999, पृ० 24
81. हिंदी गद्य के विविध साहित्य रूपों का उद्भव और विकास, वही, पृ० 64
82. वही, पृ० 66 से उद्धृत
83. हिंदी गद्य : विन्यास और विकास, वही, पृ० 252
84. कथा भूमि, वही, पृ० 34

85. हिंदी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 402 से उद्धृत
86. गोदान एक पुनर्विचार, सं० परमानंद श्रीवास्तव, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 1999, पृ० 145
87. वही, पृ० 145 से उद्धृत
88. वही, पृ० 147
89. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं० 1994, पृ० 50 से उद्धृत
90. हिंदी साहित्य का इतिहास, वही, पृ० 299
91. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वही, पृ० 44 से उद्धृत
92. रामचन्द्र शुक्ल संचयन, सं० नामवर सिंह, साहित्य अकादमी, दिल्ली, सं० 1993, पृ० 100
93. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वही, पृ० 45 से उद्धृत
94. वही, पृ० 45 से उद्धृत
95. वही, पृ० 45 से उद्धृत
96. हिंदी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 37
97. कथा भूमि, वही, पृ० 58
98. हिंदी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 546
99. वही, पृ० 46
100. हिंदी गद्य : विन्यास और विकास, वही, पृ० 122
101. हिंदी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 45
102. जैनेन्द्र रचनावली, खण्ड-1, सं० निर्मला जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2008, पृ० 315
103. हिंदी गद्य : विकास और विकास, वही, पृ० 255
104. हिंदी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 45
105. कथा भूमि, वही, पृ० 75
106. अपने अपने अजनबी, अज्ञेय, भरतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2007, पृ० 31
107. हिंदी गद्य मधु संचय, परमानंद श्रीवास्तव, भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता, सं० 1990, पृ० (परिशिष्ट से)
108. हिन्दी का गद्य साहित्य, वही, पृ० 46
109. निबन्ध श्री, सं० प्रो० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, नीलगिरि प्रकाशन, गोरखपुर, सं० 1995, पृ० 40
110. हजारी प्रसाद द्विवेदी, चुने हुए निबंध, सं० मुकुन्द द्विवेदी, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1996, पृ० 31-32
111. हिंदी गद्य : विन्यास और विकास, वही, पृ० 247
112. महादेवी साहित्य, खण्ड 3, सं० निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2007, पृ० 46

113. हिंदी गद्य : विन्यास और विकास, वही, पृ० 249
114. हिन्दी का गद्य - साहित्य, वही, पृ० 47
115. रेणु रचनावली-2, सं० भारत यायावर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1995, पृ० 170
116. नागार्जुन : सम्पूर्ण उपन्यास खण्ड-2, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1999, पृ० 147
117. हिन्दी कहानी का विकास, मधुरेश, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2000, पृ० 67
118. कथा भूमि, वही, पृ० 116
119. परिन्दे, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं० 2008, पृ० 48
120. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं० 2008, पृ० 94-95
121. कव्वे और काला पानी, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं० 2007, पृ० 203
122. चीड़ों पर चाँदनी, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं० 2007, पृ० 56
123. परिन्दे, वही, पृ० 135

द्वितीय अध्याय

हिंदी गद्य के प्रतिमान

भारतेन्दु युग के पर्दापण के साथ हिंदी नई चाल में ढली, ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया। पद्य के साथ-साथ गद्य रचना की प्रवृत्ति विकसित ही नहीं हुई अपितु वह इतनी प्रबल एवं प्रमुख हुई कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल को हिंदी साहित्य के आधुनिक काल को गद्यकाल की संज्ञा देनी पड़ी। आधुनिक काल में सशक्त विचाराभिव्यक्ति के लिए गद्य का सहारा तो लिया ही गया उसके अनेक रूपों को भी विकसित किया गया जिनमें निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र आदि उल्लेखनीय हैं। पर इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि जहाँ गद्य आधुनिक काल के साहित्य की प्रमुख विधा है, वहीं उसके व्याख्या एवं मूल्यांकन का अब तक कोई सुनिश्चित मापदण्ड नहीं बन सका है। वह अपने मूल्यांकन के लिए काव्यशास्त्रीय मापदण्डों पर ही निर्भर है। हिंदी काव्य की व्याख्या और आलोचना के लिए एक ओर जहाँ संस्कृत के प्रतिमान विरासत के रूप में मौजूद थे वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य काव्य शास्त्र ने भी उसे समृद्ध किया है और काव्य आलोचना के प्रति एक दृष्टि दी है। स्वयं हिंदी के आलोचकों ने भी काव्यसमीक्षा के कई प्रतिमान प्रस्तुत किये हैं। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० नंददुलारे वाजपेयी, अज्ञेय, नामवर सिंह के काव्य प्रतिमान प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत किये गये कुछ प्रमुख सिद्धांत हैं - लोकमंगल की अवधारणा, साधारणीकरण, रससिद्धांत, अनुभूति की प्रामाणिकता, नाटकीयता, बिम्बात्मकता, विंसगति, विडम्बना आदि। हिंदी गद्य की आलोचना भी प्रायः इन्हीं उपकरणों के सहारे चल रही है। आम तौर पर गद्य शैली को काव्यात्मक, लाक्षणिक, बिम्बात्मक आदि कहकर इतिश्री कर ली जाती है पर वे कौन से प्रतिमान हैं जो एक गद्य को श्रेष्ठ गद्य बनाते हैं इन पर विचार किया जाना अभी शेष है।

संस्कृत साहित्य में गद्य के प्रतिमान

संस्कृत के विद्वानों ने गद्य रचना, पद्य रचना से अधिक जटिल मानी है। नवीं शती के प्रसिद्ध संस्कृत काव्यशास्त्री वामन की मान्यता है गद्य रचना पद्य रचना की अपेक्षा कठिन होती है। इसलिए गद्य को कवियों की कसौटी कहा है। यह मन्तव्य भारतीय

वाङ्मय की आरम्भिक अवस्था का द्योतक है जब साहित्य मुख्यतः पद्यमय ही था। पद्य जब अभिव्यक्ति का सहज माध्यम था, और गद्य प्रयत्न साध्य। वामन ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में काव्य के भेदों का निरूपण करते हुए कहा है –

"काव्यं गद्यं पद्यञ्च
गद्यस्य पूर्वनिर्देशो दुर्लक्ष्यविशेषत्वेन दुर्बन्धत्वात् तथाहुः
गद्यं कवीनां निकषः वदन्ति।"[1]

अर्थात् काव्य गद्य और पद्य रूप से दो प्रकार का होता है। काव्य के इन दोनों भेदों में से गद्य का पहले निर्देश उसकी विशेषताओं के दुर्जेय और उसकी रचना के कठिन होने के कारण किया गया है। जैसा कि कहा है – गद्य को कवियों की प्रतिभा की कसौटी कहते हैं। आगे चलकर बाणभट्ट, दण्डी आदि ने गद्य रचनाओं का जो आदर्श प्रस्तुत किया उसे देखते हुए वामन की उक्ति सत्य प्रतीत होती है। इस संदर्भ में प्रो० हरिनारायण दीक्षित का कहना है– "पद्यकाव्य में तो छन्द की ध्वन्यात्मकता, अनुरणनात्मकता और लयात्मकता का कुछ ऐसा समां सा बंध जाता है कि उसमें काव्य की किरकिरी का आभास जल्दी नहीं मिलता। पर गद्य काव्य में ऐसा नहीं है। उसकी किरकिरी को छिपाने के लिए छन्द नाम का कोई कवच नहीं होता है। इसलिए उसे अपने आप में काव्य की इन सभी अपेक्षित विशेषताओं को बड़े अच्छे ढंग से संजोए रखना पड़ता है, ताकि पाठकों का मन उखड़े नहीं। गद्यकाव्य के इसी पहलू को लेकर 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ती' जैसी कहावत भी चल पड़ी है।"[2]

संस्कृत में गद्य काव्य के प्रख्यात त्रिमूर्ति सुबंधु, बाणभट्ट एवं दण्डी हैं जिनका रचनाकाल 600–700 ई० है। इन तीनों लेखकों ने संस्कृत गद्य–काव्य को अपनी उत्कृष्ट गद्य–काव्यात्मक रचनाओं से चरम उन्नति प्रदान की।

सुबंधु संस्कृत के प्रथम गद्यकार माने जाते हैं। बाणभट्ट के द्वारा प्रशंसित किये जाने के कारण विद्वानों ने उन्हें बाण का पूर्ववर्ती माना है। इनका स्थितिकाल बाण के पूर्व छठीं शती ईसवी का उत्तरार्द्ध माना गया है। सुबन्धु की ख्याति उनकी एकमात्र उपलब्ध रचना

'वासवदत्ता' नामक गद्य काव्य पर आश्रित है। इसमें राजकुमार कन्दर्पकेतु और राजकुमारी वासवदत्ता के प्रेम की कथा, वियोग तथा पुनःमिलन की कहानी है। वासवदत्ता लघुकथानक एवं वर्णन विस्तार से पूर्ण रचना है। सुबंधु ने अपनी गद्य शैली में श्लेष को प्रधानता दी है। इन्होंने सभंग और अभंग उभय प्रकार के श्लेषों का विन्यास कर अपने काव्य को विचित्र मार्ग का एक उत्कृष्ट उदाहरण बनाया है। इस बारे में आचार्य जयशंकर त्रिपाठी लिखते हैं - "सुबंधु ने विरोध, उपमा, उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों से सम्मिश्र श्लेषालंकार-गद्यबन्ध को ही अपनी गद्य रचना का आदर्श माना है।"[3]

अपने बारे में सुबन्धु स्वयं यह कहते हैं -

"प्रत्यक्षरश्लेषमयविन्यासवैदग्ध्यनिधि

अर्थात् वे प्रत्येक अक्षर के श्लेषमय विन्यास के लिए अपेक्षित दक्षता के निधि हैं।"[4] सुबंधु की गद्य शैली अतिश्योक्तिपूर्ण, अनुप्रास के संगीत से युक्त समासबहुला गौड़ी शैली है। इनमें ओज गुण का प्राधान्य मिलता है।

संस्कृत गद्य-काव्य का चरमोत्कर्ष हर्षवर्धन के आश्रित कवि बाणभट्ट की कादम्बरी में दिखायी पड़ता है। बाणभट्ट ने दो गद्य-काव्यों की रचना की हर्षचरित और कादम्बरी। "हर्षवर्धन के सभापण्डित होने से बाण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है। हर्ष का राज्यकाल 606 ई० से 648 ई० है।"[5]

'हर्षचरित' बाणभट्ट की प्रथम गद्यकृति है। इसकी रचना उस युग के गद्य की विशेषता 'ओजः समास भूयस्त्वम्' के आधार पर की गयी है। "समास संस्कृत भाषा का प्राण है। उसने अधिक से अधिक अर्थ को कम से कम शब्दों में अभिव्यक्त करने की योग्यता उसे प्रदान की है। ओज गुण के कारण संस्कृत गद्य में विचित्र प्रकार की भाव ग्रहिता तथा गाढ़ बन्धता का संचार होता है।"[6] ओज गुण का प्रधान लक्षण है - समास की बहुलता। और यही ओज बाणभट्ट के गद्य का प्राण है।

बाणभट्ट ने हर्षचरित की रचना ओजगुणयुक्त समासबहुला शैली में ही की है।

बाणभट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में अपनी आदर्श गद्य संबंधी मान्यताओं को भी प्रस्तुत किया है। वह लिखते हैं –

"नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषः स्पष्टः स्फुटो रसः
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।।"[7]

अर्थात् "अर्थ की नवीनता, सुरुचिपूर्ण स्वभावोक्ति, श्लेष की स्पष्टता, रस की स्फुटता तथा दृढ़बन्ध पदावली का एक साथ रहना दुर्लभ है। कहना न होगा बाण भट्ट की कादम्बरी आदर्श ग्रन्थ की इस कसौटी पर पूरी तरह खरी उतरती है।"[8]

कादम्बरी की प्रवाहपूर्ण भाषा, सुललित समास योजना, स्पष्ट श्लेष प्रयोग स्फुट रसाभिव्यक्ति, अलंकारों का सुंदर प्रयोग, सभी ने मिलकर बाण की गद्य शैली को उत्कृष्ट बना दिया है। बाणभट्ट ने पांचाली शैली में अपनी रचनाएं प्रस्तुत की हैं। राजशेखर के मत में बाण की शैली पांचाली रीति का भव्य निदर्शन है –

"शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।
शिला भट्टारिका वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि।।"[9]

आचार्य बलदेव उपाध्याय बाणभट्ट के गद्य शैली की प्रशंसा करते हुए कहते हैं –

"पांचाली शैली का प्राण है – वर्ण्य विषय के अनुरूप पदों का विन्यास। जैसा अर्थ वैसा शब्द। यदि वर्ण्य विषय घनघोर अरण्यानी है तो कवि की वाणी उत्कट पदावली से मण्डित है। यदि वह कामिनी के रूपलावण्य का चित्रण है, तो कवि का पदविन्यास नितान्त ललित तथा कमनीय है। शब्द के ऊपर अखण्ड साम्राज्य बाण की अन्यतम विशिष्टता है।"[10]

डॉ० वचनदेव कुमार बाणभट्ट की गद्य शैली के विषय में लिखते हैं – "गाढ़बन्धता संस्कृत गद्य की निजी विशेषता है.... संधि और समास के द्वारा जहाँ संस्कृत गद्य में जटिलता आती है वहीं उनके कारण भाषा में संक्षिप्तता, सारगर्भिता एवं भाव

संग्राहकता भी आती है। संस्कृत गद्य के सम्राट बाणभट्ट ने इस मूल्यांकन को अपनी रचनाओं में उपयोगी रूप से अपनाया है।"[11]

दण्डी का स्थितिकाल सातवीं शती है। इस बारे में डॉ० शिवमूर्ति शर्मा लिखते हैं – "इनकी स्थिति शैवधर्म के उन्नायक पल्लवराज नरसिंह वर्मा के राज्यकाल में मानी जाती है। इनका समय 690–715 ई० माना जाता है। अतः इनके सभा–कवि दण्डी का भी यही समय होना चाहिए।"[12]

दण्डी के तीन ग्रंथ उपलब्ध हैं – काव्यादर्श, दशकुमार चरित और अवन्ति सुन्दरी कथा। 'दशकुमार चरित' एक सुंदर गद्यकाव्य है। इसकी मुख्य कहानी मगध के राजकुमार राजवाहन और मालव की राजकुमारी अवन्तिसुन्दरी का परिणय है। इसकी पूरी कथा राजवाहन के साथी राजकुमारों के रोचक आख्यानों से बड़ी ही सजीव बन पड़ी है। इसमें व्यंग्य और विनोदपूर्ण शैली में तत्कालीन समाज एवं संस्कृति का सुंदर चित्रण है।

दण्डी का गद्य शैली अत्यंत सरल सुबोध एवं भाषा की प्रवाहमयता से युक्त है। दण्डी ने अपने गद्य में भाषा को बोलचाल के निकट छोटे–छोटे समास युक्त रखा है। जयकृष्ण प्रसाद खण्डेलवाल के शब्दों में "दशकुमार चरित की भाषा ललित, मधुर तथा श्लेषादि अलंकारों के चमत्कार से बोझिल नहीं हुई है।"[13]

दण्डी का गद्य न तो सुबंधु के गद्य के समान श्लेषमंडित है और न ही बाण के समान गाढ़बंधता और समासों से लदी हुई। दण्डी के गद्य शैली के विषय में डॉ० शिवमूर्ति शर्मा लिखते हैं – "छोटे–छोटे समासों तथा सरल पद–विन्यास से युक्त दण्डी के वाक्य अत्यंत पुष्ट और सहृदयों का हृदयावर्जन करने वाले हैं। परंपरा के अन्य गद्यकारों से परे दण्डी अपने नवीन मार्ग के उद्भावक हैं। इनका यह मार्ग गद्य शैली का अत्यंत सुकुमार मार्ग है, अर्थ की स्पष्टता, सुंदर रसाभिव्यक्ति, ललित पदों की आयोजना तथा भाषा का दैनंदिन प्रयोगों के निकट होना आदि इनके इस नवीन मार्ग की विशेषताएं हैं। इनके गद्य में पदों की आयोजना इतनी ललित एवं मनोरम है कि पंडित वर्ग ने 'दण्डिनः पदलालित्यम्' कहकर इसकी सराहना की है।"[14]

दण्डी की गद्य शैली में भाषा की प्रवाहमयता और सहजता के कारण प्रसाद गुण की प्रमुखता मिलती है। कह सकते हैं कि प्रासादिकता ही दण्डी के गद्य शैली की निजी विशेषता है।

संस्कृत के परवर्ती गद्यकारों में धनपाल, वादीभ सिंह, वामन भट्ट बाण, अम्बिकादत्त व्यास आदि हैं।

धनपाल का काल 10वीं शती है। यह राजा मुंज के सभासद थे। धनपाल ने 'तिलक मंजरी' नामक गद्यकाव्य की रचना की। इन्होंने बाणभट्ट के गद्य का अनुकरण करते हुए अत्यंत प्रवाह एवं ओजमयी भाषा में अपनी कृति की रचना की है। धनपाल पर यद्यपि बाणभट्ट का प्रभाव है पर इन्होंने अपनी गद्य शैली को श्लेष की बहुलता से मुक्त रखकर उसे एक नया मोड़ दिया है। धनपाल ने अपनी गद्य शैली को श्लेष और दीर्घ समास से मुक्त रखा। गद्य शैली के बारे में उनकी मान्यता है –

"नाति श्लेषघना श्लाघां कृतिर्लिपिरिवाश्नुते।"

अर्थात् अधिक श्लेषों के कारण गाढ़बन्धवाली रचना (कादम्बरी जैसी) श्लाघा को प्राप्त नहीं करती।"[15]

वादीभ सिंह का समय 10–11वीं शती के बीच माना गया है। वादीभ सिंह ने 'गद्य चिंतामणि' नामक एक काव्य अलंकृत शैली में लिखा। यह व्यंजना प्रधान अलंकृत–काव्य शैली में निर्मित एक उत्कृष्ट गद्य काव्य है। इस गद्यकाव्य में उन्होंने जिनसेन के महापुराण में वर्णित जीवन्धर की कथा का वर्णन किया है।

वामन भट्ट बाण का समय 15वीं शती है। इन्होंने बाणभट्ट के 'हर्षचरित' का अनुकरण करते हुए अपने आश्रयदाता राजा वेमभूपाल का चरित 'वेमभूपाल चरित' नाम से लिखा। इनकी गद्य शैली के बारे में वचनदेव कुमार लिखते हैं "वामनभट्ट बाण गद्यकार के साथ–साथ एक अच्छे कवि भी थे। इसलिए इनका गद्य माधुर्यपूरित है।"[16]

20वीं शताब्दी के अम्बिकादत्त व्यास का 'शिवराजविजय' नामक गद्यकाव्य कादम्बरी की परम्परा में निर्मित एक उपन्यास है। इसमें छत्रपति शिवाजी की विजयगाथा का बड़ा ही ओजपूर्ण वर्णन हुआ है। इन पर बाणभट्ट की शैली का प्रभाव दिखता है। "इनकी भाषा भावानुसारिणी है। शृंगार, करुण और वीररस के प्रसंगों में तदनुकूल पदावली प्रयुक्त है, जो पाठक या श्रोता में तदनुकूल भावों का संचार कर देती है।"[17] इन्होंने कहीं बाणभट्ट की सी दीर्घसमास वाली समस्त पदावली प्रयुक्त की है तो कहीं प्रवाहमयी, सरल और अल्पसमास वाली पदावली भी। जयकृष्ण प्रसाद खण्डेलवाल ने इनके गद्य शैली की सबसे बड़ी विशेषता कथ्य को शब्द-चित्रों के द्वारा मूर्त्त कर देना बताया है। उनके अनुसार "व्यास जी की शैली की सबसे बड़ी विशेषता है उनके शब्द-चित्रों के अंकन में हैं। पढ़ते-पढ़ते ही नेत्रों के समक्ष दृश्य का चित्र सजीव सा होकर उपस्थित हो जाता है।"[18]

आधुनिक काल के गद्य-काव्यकारों में श्रीनिवास शास्त्री, हृषीकेश शास्त्री, हरिदास सिद्धान्तवागीश तथा पंडित क्षमाराव के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इनकी क्रमशः 'चन्द्रमहीपति', 'निबंध-मंजरी', 'सरला' तथा 'कथामणिमाला' रचनाएं संस्कृत गद्यकाव्य के नये आयामों को प्रस्तुत करती हैं।

काव्यशास्त्रीय विवेचना की दृष्टि से कथा (गद्य) साहित्य कविता और नाटक की तुलना में प्रायः उपेक्षित रहा है। यह मान लिया गया है कि रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, अलंकार आदि सिद्धांत गद्य साहित्य पर भी समान रूप प्रयोज्य हैं।

ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन कथाओं की कुछ कोटियों - कथा, परिकथा, सरलकथा की चर्चा करते हैं लेकिन इन कोटियों के निहितार्थों को स्पष्ट करने का प्रयास न तो आनन्दवर्धन और न ही उनके उत्तरवर्तियों ने किया। आधुनिक काल में 'के० अयप्पा पणिक्कर'[19] ने भारतीय कथा साहित्य के विशिष्ट लक्षणों को दस प्रकारों में विभाजित किया है -

1. आभ्यान्तरीकरण – Interiorisation
2. क्रमीकरण – Serialisation
3. फंतासीकरण – Fantasisation
4. चक्रीकरण – Cyclicalisation
5. रूपकीकरण – Allegorisation
6. अपौरुषेयीकरण – Anonymisation
7. काल का नमनीयकरण – Elasticisation of Time
8. अवकाशीकरण – Spatialisation
9. शैलीकरण – Stylisation
10. आशुकरण – Improvisation

1. **आभ्यान्तरीकरण** – आभ्यान्तरीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी रचना के ऊपरी ढाँचे और उसके आन्तरिक सार-तत्व के मध्य विद्यमान विभेद, वैशिष्ट्य अथवा विरोध को उजागर किया जा सके। कुछ रचनाओं में बाहरी और आंतरिक ढाँचा परस्पर समानान्तर अथवा विरोधी हो सकते हैं, हो सकता है कि बाहरी ढाँचे का इस्तेमाल पाठक का ध्यान आंतरिक सारभाग से हटाने के लिए किया जाए। एक अनवधान पाठक बाहरी ढाँचे के आकर्षण में पड़कर विभ्रम का शिकार हो जाता है और यह संभव है कि रचना की वास्तविक अर्थवत्ता उसकी दृष्टि से ओझल रह जाए। एक रचना में प्रायः अर्थों की कई परतें होती हैं। इसकी भी पूरी संभावना है कि एक रचना जितनी ही सरल दिखे उसका मूल सारभाग उतना ही विरोधाभासी हो। इस प्रकार की जटिलता तथाकथित बालकथाओं में भी पायी जा सकती है जो बाल साहित्य के बारे में बँधी, बँधायी धारणा वाले पाठक को अचंभे में डाल सकती है।

एक गहन एवं अपेक्षाकृत जटिल लक्ष्य को सन्नद्ध करने के लिहाज से बाहरी ढाँचे का सरलीकरण एक बुद्धिमतापूर्ण युक्ति है। लोककथाएँ किसी गहन तत्व के सफलतापूर्ण आभ्यान्तरीकरण का एक अच्छा उदाहरण है। कुछ पाठक सारभाग को समझने के प्रति

उदासीन हो सकते हैं। भारतीय कथाकारों ने कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः यह कोशिश की है उसके पाठकों को रचना के सूक्ष्म एवं गहन सार-भाग में सिर न खपाना पड़े। हो सकता है कि रचना अर्थभेदन की दृष्टि से नारियल की भांति बाहर से कठोर हो लेकिन उसका अन्तः भाग मृदु एवं मधुर हो। वहीं उस रचना को अंगूर की भांति कहा जा सकता है, जहाँ बाहरी ढांचा आंतरिक ढाँचे के विपरीत न होकर समान रूप से सर्वतः मधुर हो।

एक कथाकार जितना ही कुशल होता है रचना की आंतरिक बुनावट उतनी ही जटिल किन्तु बाहरी ढाँचा उतना ही सरल होता है। कथा के विविध स्तरों के बीच इस प्रकार का द्वन्द्वात्मक संबंध भारतीय कथा साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है। इस प्रकार के आभ्यान्तरीकरण का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण वाल्मीकि रामायण है। रामकथा की मुख्य योजना के भीतर सूर्यवंशी राम और निशाचर रावण के बीच प्रतीकात्मक संबंध इस कथा की हमारी समझ को जटिल बनाता है। राम की कथा के भीतर ही वाल्मीकि द्वारा रामायण को रचने की कथा भी अर्न्तगुम्फित है और फिर उसके भी भीतर ही एक शिकारी के रूप में वाल्मीकि के पूर्व जीवन की कथा भी है। इस प्रकार आभ्यान्तरीकरण की एक लंबी प्रक्रिया चलती है। अध्यात्म-रामायण में शिव पार्वती को राम की कथा सुनाते हैं। रामायण के मूल वाल्मीकि कृत संस्करण में संपूर्ण महाकाव्य वस्तुतः वाल्मीकि की आदर्श पुरुष के संबंध में की गयी पृच्छा का उत्तर है। और आदर्श प्रकृति को कथा योजना के हर मोड़ पर परखा गया है।

इस प्रकार के आभ्यान्तरीकरण की प्रक्रिया लगभग सभी प्रकार की कहानियों में देखी जाती है।

2. धारावाहिकता (क्रमीकरण) - धारावाहिकता भारतीय कथा साहित्य का एक विशिष्ट लक्षण है जो मुख्य कथा-सूत्र से सम्बद्ध अनंत कथा-प्रसंगों की शृंखला है जो प्रधान नायक अथवा नायिका के इर्द-गिर्द घूमता है। भारतीय महाकाव्य जिन कथावृत्तों/कथानकों से मिलकर बने हैं, उनमें से कुछ ऐसे हैं जो मूल कथा की संरचना में बिना कोई व्यतिक्रम पैदा किए मूल कथा से पृथक दिखाई देते हैं। जैसे महाभारत में नल

अथवा शकुंतला से जुड़े उपाख्यान जो मूल कथा से पृथक होते हुए भी उसे विस्तार प्रदान करते हैं। लंबे उपाख्यानों की भारतीय परम्परा मंदिरों एवं महलों के स्थापत्य की याद दिलाती है, जहाँ बहुत सारे द्वार, उपद्वार एवं स्तंभ होते हैं।

3. **फंतासीकरण** – भारतीय मनीषा इतिहास के प्रारंभ से ही इस प्रश्न से जूझती रही है कि सत्ता का स्वरूप क्या है? इन्होंने प्रतीतिगम्य वस्तुजगत को दृश्यातीत एवं इन्द्रियागोचर मिथकों में रूपान्तरित करने में पर्याप्त रूचि दिखाई है।

कल्पना के हृदयावर्जक ताने बाने से निर्मित मिथक संसार ने भारतीय आख्यान परंपरा में फंतासी की प्रधानता को बढ़ावा दिया है। फंतासी के माध्यम से वाह्य जगत का कटु यथार्थ भी लेखक अथवा पाठक के मन को परितुष्ट करने वाला बन जाता है। इस प्रकार फंतासीकरण भारतीय आख्यान परंपरा की एक विशिष्ट प्रवृत्ति रही है। वेद, पुराण, महाकाव्य, परीकथा एवं लोककथा ये सभी प्राथमिक रूप से कल्पना व्यापार के परिणाम हैं और गौणरूप से ही इन्हें तार्किक मस्तिष्क की उपज कहा जा सकता है।

मानवीय कल्पना की अत्यन्त उच्च आत्मनिष्ठ प्रकृति को भारतीय काव्य मनीषा ने बहुत पहले पहचान लिया था। उनके अनुसार ब्रह्मा ने न केवल विश्व में एवं उसमें अवस्थित प्राणियों की सृष्टि की बल्कि कविता एवं नाटक जैसी सौंदर्यात्मक निर्मितियाँ भी उस परमसर्जक की देन है। इस विचार ने भारतीय मानस में इतनी भीतर तक पैठ बना ली है कि कोई निरीश्वरवादी भी सृजनात्मक शक्तियों के दैवीय उत्स के लोक व्याप्त धारणा का मूलोच्छेदन न कर सका। मनुष्य ने अपनी बहुविध कल्पनाओं से न केवल ईश्वर को रूपायित किया, साथ ही साथ अपने चतुर्दिक विद्यमान प्राकृतिक उपादानों में दिव्यता का आधान किया। आप चाहे इसे अंधविश्वास कह लें किन्तु भारतीय मानस अपने सम्पर्क में आने वाली किसी भी वस्तु को ईश्वरत्व का दर्जा देने में प्रमुदित होता रहा है और इस तरह वस्तुनिष्ठ जगत को सामूहिक मानुषी-कल्पना की आत्मनिष्ठता के अनुरूप ढाल लिया गया है।

भारतीय कथा-कला में मिथकों की महत्ता को जनमानस की उन मिली-जुली मान्यताओं के रूप में समझा जा सकता है जिसमें धरती, प्रकृति और इस विस्तृत ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पक्ष को कल्पनाओं के संश्लेष से निर्मित एक व्यापक मिथकीय रूपरेखा के भीतर समझने का प्रयास किया गया है, जहाँ तार्किकता नहीं वरन काल्पनिकता का प्राधान्य परिलक्षित होता है। इस विशेषता को महज हिंदू, बौद्ध अथवा जैन धर्म से संबंद्ध न करके परिवीक्षित यथार्थ के बरअक्स अनुभूत यथार्थ के प्रति समेकित दृष्टिकोण के तौर पर लिया जाना चाहिए। भारत में प्रचलित समस्त आख्यान रूपों शास्त्रीय, लोक प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक नृत्य नाटक में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। सम्प्रेषण की समग्र संरचना ही बहुत गहरे में कल्पना के ताने-बाने से ही निर्मित हुई है। यहाँ दैनंदिन तार्किक जगत के तथाकथित यथार्थ में असम्भव जान पड़ने वाली चीजों को संभव बना दिया गया है। मसलन गजदेव, वानरदेव, जलदेव, नागदेव इत्यादि भारतीय आख्यानों के महत्वपूर्ण चरित्र रहे हैं। कालिदास एक प्रेमी के द्वारा बादल को अपनी प्रेमिका के पास संदेशवाहक बनाकर भेज सकते हैं। गंगा महज एक नदी या जल का प्रवाह नहीं बल्कि एक देवी है। शिव की प्रिया, भीष्म की माँ, जीवन और मरण के विभ्रम की चिरन्तन साक्षिणी है।

4. **चक्रीकरण** - भारतीय कथा संसार में गति के पुरोवर्ती और पश्चवर्ती धारणा के संबंध में काफी लचीलापन देखने को मिलता है। एक चक्रीयता में दिन के बाद रात और रात के बाद दिन और इसी प्रकार ऋतुओं की सतत् चक्रीय पुनरावर्तन, आकाशीय पिण्डों का चक्रीय परिभ्रमण इन सबको अपनी अन्तर्दृष्टि में समाहित करते हुए भारतीय कथासंसार चक्रीयता का अनुसरण करता है। भारतीय कथाकारों ने जन्म, विकास और मृत्यु को दोहराये जाने वाला जीवन का सतत क्रम माना है। अवतारों एवं जनम-जनमांतरों तक विस्तृत कथा शृंखलाएँ इसी बात के परिचायक हैं। बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाओं को समेटे हुए जातक, पालिग्रन्थ चक्रीय आख्यान परम्परा का एक उदाहरण है। सुनिश्चित मूलभूत रूप से चाहे यह धार्मिक विश्वासों या दार्शनिक अवधारणाओं के चलते हो, भारतीय कथाकार कितनी भी कहानियों को एक निश्चित रूपरेखा में सूत्रबद्ध करने में समर्थ होते हैं।

जातक की पहली कथा की प्रारंभिक पंक्तियों में ही चक्रीयता की इस धारणा की छाप दिखाई देती है। जो इस प्रकार है – "एक बार की बात है जब काशी पर ब्रह्मदत्त नामक राजा का शासन था। उन दिनों बोधिसत्व ने एक व्यापारी के घर जन्म लिया और पले-बढ़े। वह व्यापारिक यात्रा के लिए पाँच सौ बैलगाड़ियों के साथ कभी पूरब से पश्चिम तो कभी पश्चिम से पूरब जाया करते थे।"

दूसरी कथा की शुरूआत भी कुछ इसी प्रकार होती है, जिससे कथा की चक्रीय प्रकृति का पता चलता है। "एक बार की बात है जब ब्रह्मदत्त काशी का राजा हुआ करता था, बोधिसत्व ने व्यापारी के घर जन्म लिया। बड़ा होने पर वह पाँच सौ गाड़ियों के साथ यात्रा पर जाते थे....।"

हर एक कथा को जातक कहा जाता है जैसे आरण्यक जातक, सेरिवाणिज जातक आदि। इन कथाओं को लोक स्मृतियों से सम्बद्ध देखा जा सकता है। एक कथा विशेष का कथाओं की एक शृंखला में आबद्ध होना भारतीय आख्यान शैली की एक स्वाभाविक विशेषता रही है। आज के दौर के उत्तर-आधुनिक उपन्यासों और कहानियों में भी हम पाते हैं कि कथाकार के लिए कहानी मानो, कहानी कहने की कहानी का ही एक हिस्सा मानते देखते हैं और इस विशेषता से आख्यान कला की सूक्ष्मता का पता चलता है। प्रायः बाल कथाओं के शुरूआती पंक्तियों में एक ढाँचागत समानता दिखाई देती है यह संभवतः इस बात की तरफ भी इशारा करता है कि यह किसी लोक प्रचलित कथा के तमाम ढंगों में से एक ढंग है और शायद कोई दूसरा उसी कहानी को एक दूसरे रूप में ढालकर पेश करे।

रॉबर्ट ग्रेव्स का कहना समीचीन है – 'कहानी एक है केवल एक कहानी' बाकी सब तो पुनर्चक्रीयता के विषय हैं। उन्होंने शायद यूनानी पुराकथाओं को अनेक रूपों में ढाला जाता देखकर इस विचार को ग्रहण किया हो। देवी भागवत में देवी अनेक दानवों को युद्ध में परास्त कर उनका संहार करती है। लेकिन युद्ध और संहार के ये सारे उदाहरण एक ही मूल कथावस्तु की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। मधु, कैटभ, महिष, धुमलोचन, चण्ड, मुण्ड,

रक्तबीज, शुम्भ और निशुम्भ ये सभी युद्ध में परास्त होते हैं और देवी दुर्गा के हाथों उनका वध होता है। इन सभी में युद्ध का वृत्तान्त लगभग एक समान पाया जाता है।

5. **रूपकीकरण** – रूपकों अथवा प्रतीकों का प्रयोग एक व्यापक प्रभाव या महत्ता को दिखाने की दृष्टि से अमूर्तन विधान की प्रेरणा से सम्बद्ध है। यह एक सार्वभौमिक विशेषता है। भारतीय कथा-परंपरा के अलावा हमें विशिष्ट प्रकार के चीनी एवं यूरोपीय रूपकों का उदाहरण प्राप्त होता है।

सार्वजनीनता के चलते ही पंचतंत्र विश्वभर में प्रसिद्ध रहा है। अचेतन वस्तुओं और मानवेत्तर प्राणियों को विचार भावना और भाषा की क्षमता से युक्त दिखाना सभी वस्तुओं को चेतनावान मानने की प्राचीनकालीन धारणा के अनुरूप है। अधिकांश जन्तु-कथाओं के साथ यह धारणा बद्धमूल है कि पक्षी अथवा पशु चरित्रों के माध्यम से नैतिक विचारों को अधिक प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। नैतिक एवं बौद्धिक संवाद की दृष्टि से भारतीय कथाकारों ने जन्तु कथाओं की संभावनाओं का यथासंभव दोहन किया है। पशुचरित्रों के माध्यम से नैतिक मूल्यों पर जोर दिया जाना और विद्रूपताओं पर कटाक्ष करना पंचतंत्र में रूपकीकरण का तत्व है। बंदर, सियार, कौवा, घड़ियाल, सारस, खरगोश, उल्लू आदि कथाओं को एक विशिष्ट चरित्र प्रारूप प्रदान करते हैं।

6. **अपौरुषेय** – अपौरुषेय की धारणा ने तमाम भारतीय कथाओं के स्वरूप को प्रभावित किया है। जिनका मूल सुदूर अतीत में खो जाने के कारण ज्ञात नहीं है। यहाँ तक कि ऐतिहासिककाल में भी जब कथाकारों के नाम और व्यक्तित्व से लोक परिचित था, अधिकांश कथाकार अपने विषय में मौन रहे। ताकि कथाकार की अपनी वैयक्तिक इयत्ता पाठकों की समष्टि में विलीन हो जाए। यही कारण रहा कि अनेक कृतियों के रचनाकार व्यासादि उपाधिसूचक नामों से ही जाने जाते रहे। इसके पीछे यह धारणा कार्य करती रही कि रचनाकार महज एक व्यक्ति नहीं है बल्कि वह भाषा के माध्यम से समष्टि चेतना का प्रतिनिधित्व करने वाला है। न केवल महाभारत बल्कि अठारह पुराण, आध्यात्म रामायण तथा अनेक अन्य ग्रंथों का रचयिता वेदव्यास को माना जाता है जो कि प्रायः कथाओं के

एक भीतरी पात्र के रूप में दिखाई देते हैं। इसे मूलत: अज्ञातनाम बने रहने की आकाँक्षा के एक प्रतीक के तौर पर लिया जाना चाहिए जहाँ पाठक पढ़ते समय अपनी तरफ से कुछ जोड़ने-घटाने या सुधारने के लिए स्वतंत्र रहता है। पाठक किसी कृति से वही ग्रहण करता है जो उसे अभिप्रेत है। इसलिए भारतीय संदर्भ में सुनिश्चित संस्करण की बात बेमानी साबित होती है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक रूप से पहुँचने के कारण कृति के मूल स्वरूप में हेर-फेर की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। यह कहा जा सकता है कि नाम, तिथि अथवा स्थान की पहचान से कृति की वास्तविक गुणवत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भारत में कई प्रकार के रामायण पाये जाते हैं और उन सभी का स्थान परंपरा में अक्षुण्ण बना हुआ है। कुछ पंक्तियों को जोड़ दिया या किसी चरित्र का नाम ही बदल जाना कोई बड़ी बात नहीं है। रामायण के कुछ संस्करणों में सीता को रावण की पुत्री बताया गया है। वहीं कुछ संस्करणों में रावण को सीता का संभावित वर बताया गया है। कथा विवरणों में इस प्रकार की परिवतर्नशीलता लेखक के अज्ञातनामा स्थिति की ही तरफ इशारा करती है।

7. **काल का नमनीयकरण** - कथाक्रम की इस परिवर्तनशीलता का संबंध कथा की संरचना के भीतर पाये जाने वाली काल की नमनीयता से जोड़ा जा सकता है। भारतीय परंपरा में कथा काल तार्किक होने के बजाय मनोवैज्ञानिक अधिक है और यह 19वीं सदी के पश्चिमी कथा साहित्य और पारंपरिक भारतीय कथा साहित्य के बीच बहुत बड़ा अंतर पैदा करता है। 20वीं सदी के प्रयोगवादी पश्चिमी कहानी में काल की धारणा इतनी रूढ़ नहीं थी। मार्सेल-प्रूस्त, जेम्स ज्वायस और वर्जीनिया वुल्फ के यहाँ कथाकाल चार्ल्स डिकेन्स या विलियम थेकरे या टासम हार्डी की तुलना में अधिक नमनीय है। किसी कृति के लेखन तिथि को भले ही कुछ निश्चितता के साथ निर्धारित कर लिया जाए किन्तु कल्पना प्रसूत घटनाओं का तिथि निर्धारित करना आसान काम नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि पुराणों में वर्णित घटनाओं के काल को साधारण आनुभविक काल के परे रखा गया है। "एक बार की बात है" वाला काल निर्दशन का ढाँचा अपने समस्त संभावित अर्थ-छवियों के साथ यह बतलाता है कि अमुक घटना 100 ई०पू० में हुई अथवा 100 ई० में इससे

कोई अंतर नहीं पड़ता। एक प्रकार की अनैतिहासिकता वांछित रही है जो कृति की निवैयक्तिकता और लेखक के अज्ञातनामा होने से संगत है। किसी साहित्य कृति में मिसाल के तौर पर शेक्सपियर के नाटकों में पंचाँगबद्ध काल महत्वपूर्ण न होकर मनोवैज्ञानिक काल महत्वपूर्ण होता है। कथा में सुनिश्चित घटनाओं का क्रम होता है जहाँ ऐतिहासिक अवस्थिति के बजाय अवधि महत्वपूर्ण होती है। भारतीय कथा साहित्य में काल खगोलीय मानकों दिन और रात, चन्द्रमा की विभिन्न अवस्थाओं, ऋतु-चक्र, नक्षत्रों की स्थितियों पर आधारित, युग एवं अयन द्वारा निर्धारित किया गया है। काल के इस प्रकार के दूरवीक्षण का सहारा 19वीं शताब्दी के यथार्थवादी उपन्यासों में भी लिया गया है। जहाँ नायक के जीवन के हर एक क्षण का विवरण देने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। कथा परिभाषा से ही चयन आशुकरण और सघनीकरण को निर्दिष्ट करता है और यह प्रक्रिया सर्वाधिक काल-विधान में व्यक्त होती है।

8. अवकाशीकरण - भारतीय कथाओं में दिक् का विशेष महत्व है। कथा का आरंभ स्थान के प्रति इस कदर आग्रहशील होता है कि काल-संबंधी विवरण उतना महत्वपूर्ण नहीं होता। जैसे पंचतंत्र की पहली कहानी इस प्रकार शुरू होती है - "एक बार की बात है दक्षिण देश में महिलरोप्य नामक सुंदर नगर अपने समृद्धि के शिखर पर था तथा अपनी भव्यता में देवों की नगरी अमरावती से प्रतिस्पर्धा करता था। जातक कथाओं की शुरूआत भी कुछ इसी तरह से होती है। केरल में संस्कृत नाटकों के पारंपरिक प्रस्तुति कुट्टियट्टम में अभिनेता एक कथा प्रारंभ करने के क्रम में एक अनिश्चित अतीत की ओर इशारा करता है। लेकिन उसके द्वारा दिया गया दैशिक ब्यौरा पर्याप्त विस्तार लिए होता है। इसलिए भारतीय कथा को एक अर्थ में दिक् केन्द्रित कहा जा सकता है। कथा सूत्र को उद्घाटित करने में काल की तुलना में दृश्य महत्वपूर्ण होता है। कथा में कालिक आयाम की बजाय दैशिक आयाम बढ़े-चढ़े भूमिका में होता है। कालतत्व की यह उपेक्षा कहीं न कहीं आभ्यांतरीकरण, फंतासीकरण, रूपकीकरण और अपौरुषेयीकरण से मेल खाता है। पुराणों में वर्णित विष्णु के दस अवतारों का क्रम बताने में किसी निश्चित कालानुक्रम का अनुसरण नहीं किया गया है।

9-10. शैलीकरण एवं आशुकरण - भारतीय कथा साहित्य के अंतिम दो लक्षण परस्पर अन्तर्सम्बद्ध हैं। शैलीकरण किसी लेखक या कथाकार पर सीमाएँ थोपता है। जबकि आशुकरण उसके लिए एक मुक्तिवाहक तत्व है।

सभी कहानियाँ कुछ निश्चित पूर्व निर्धारित प्रतीकों एवं रूढ़ियों का अनुसरण करती हैं। दर्शकों अथवा पाठकों में कुछ सुनिश्चित अपेक्षाओं को उद्‌बुद्ध करती हैं और उन्हीं अपेक्षित दिशाओं की ओर अनुगमन करने के लिए उन्हें मानसिक रूप से तैयार करती है। कथाकार उन अपेक्षाओं पर खरा उतरने के लिए कुछ विशेष कौशल को धारण करता है। नहीं तो उसका कथा-कर्म कोई असर नहीं छोड़ पायेगा। इसके विपरीत आशुकरण के द्वारा कथाकार शैलीकरण द्वारा आपातित सीमाओं का अतिक्रमण करता है। यह पाठकों में विस्मय का भाव जगाने में मदद करता है। शैलीकरण अंकुश देता है और आशुकरण स्वतंत्रता। भारतीय आख्यानकला के ये दो लक्षण भारतीय नाट्य परंपरा में भी पाये जाते हैं।

संपूर्ण शैलीकरण दमघोंटू और असृजनात्मक हो जाता है, वहीं संपूर्ण आशुकरण अव्यवस्था पैदा करता है। भारतीय कथा परंपरा इन दो विपरीत ध्रुवों के बीच संतुलन स्थापित करती है।

हिंदी साहित्य में गद्य के प्रतिमान

गद्य पर काव्यात्मक प्रभाव को प्रायः एक प्रतिमान के रूप में देखा गया है। गद्य की कोई भी विधा हो, अगर वह काव्यात्मकता से युक्त है तो उसे अच्छा गद्य माना गया है। यहाँ काव्यात्मकता से तात्पर्य है - लयात्मकता, सांकेतिकता, बिंबात्मकता आदि।

गद्य में सपाट वर्णन की प्रवृत्ति उसे सूचनापरक बनाती है। वहीं दूसरी ओर उसमें काव्यात्मकता का अत्यधिक प्रभाव उसे गद्य-कविता में रूपांतरित कर देता है। जैसाकि रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं - "अखबार का सूचनात्मक गद्य जैसे रचना के क्षेत्र पर छाया हुआ है (द्रष्टव्यः यशपाल का बहुचर्चित उपन्यास - 'झूठा-सच') या फिर एक दूसरे तरह का गद्य लालित्य के छौंक से बनता है, जिसे साधारण तौर पर ललित निबंध कहा जाता है।

फीके इतिवृत्त और बलात् लालित्य के बीच साधारण, सामान्य अच्छा गद्य दुर्लभ है, जिसके लिए अज्ञेय जैसे सिद्ध लेखक कहते हैं, "अच्छा गद्य पढ़ने में मुझे अनिर्वचनीय आनंद मिलता है।"[20] गद्य का वास्तविक सौंदर्य वर्णन और लालित्य के सामंजस्य में है। अर्थात् ऐसा गद्य जिसमें सूचना निहित हो पर कलात्मक ढंग से। वह निरा इतिवृत्त बनकर न रह जाय। गद्य में यह कलात्मकता निष्पन्न होती है काव्यात्मक प्रभाव से। गद्य में काव्यात्मक प्रभाव से तात्पर्य भाषा की व्यंजना से है। उसकी लाक्षणिकता से है। ऐसी भाषा में सृजनात्मक कल्पना का भारी महत्व होता है। कल्पना के वैभव से उसमें प्रतीकात्मकता, उपमाएँ, रूपक पग-पग पर दिखाई देते हैं। लय इस भाषा की आंतरिक प्रकृति होती है। काव्यात्मक भाषा की सबसे बड़ी विशेषता बिंबों के निर्माण में प्रकट होती है। आधुनिक कथाकारों ने अपनी कथा-भाषा में लयात्मकता, बिंबात्मकता का प्रयोग कर कविता की शक्ति को गद्य में रूपांतरित कर दिया है। इस दृष्टि से रेणु, अज्ञेय, निर्मल वर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचंद, यशपाल में वृत्तान्त शैली की प्रधानता है। वह ब्यौरों पर अधिक ध्यान देते हैं। प्रेमचंद के 'गोदान' में और यशपाल के 'झूठा सच' में वर्णन की यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसके विपरीत रेणु ने मैला आँचल में ग्राम जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ को रूपात्मक भाषा में मूर्त्त कर दिया है। मैला आँचल का गद्य अपने विशिष्ट नाद-सौंदर्य और बिंब-विधान के कारण हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि बन गया है। ग्राम जीवन की एक-एक धड़कन को, उसकी उत्सवधर्मिता को बहुत ही बारीक रूपों, रंगों और रेखाओं के माध्यम से जीवंत किया है रेणु ने। कथा के पार्श्व में बजता अन्त:संगीत और शब्दों की लयात्मकता उसे काव्यात्मक उपन्यास का दर्जा देती है। निर्मल वर्मा की कथा-भाषा बिंब विधान के कारण ही कविता जैसी भाव-सघनता उत्पन्न कर पाने में सक्षम है। उनकी कहानी 'मायादर्पण' में बंजर मैदान, टीले, ढूह और उड़ती हुई धूल के ऊपर फैली पीली, मटमैली उदास धूप तरन के मन की उदासी और त्रासदी को जितनी सघनता से अभिव्यक्त करती है उसे किसी और रूप में अभिव्यक्त कर पाना शायद संभव ही नहीं था।

कथा-भाषा में बिंब-विधान का महत्व वातावरण के निर्माण और मन:स्थितियों को मूर्त करने में भी है। नये कथाकारों ने इसका सार्थक प्रयोग किया है। बिंब प्रकृति से लेकर गांव और शहरी जीवन तक के। ध्वनि बिंब से लेकर वर्ण बिंब तक। उदाहरण के लिए संगीत का बिंब देखा जा सकता है। निर्मल वर्मा ने अपनी कथा में संगीत के बिंबों द्वरा पूरे परिवेश को जीवंत कर दिया है। नामवर सिंह के अनुसार "संगीत की जैसी सूक्ष्म संवेदना निर्मल ने व्यंजित की है, वह नयी कहानी की बहुत बड़ी उपलब्धि है। 'परिन्दे' कहानी में पियानो के संगीत के सुर रूई के छुई-मुई रेशों से अब तक मस्तिष्क की थकी-माँदी नसों पर फड़फड़ा रहे हैं। ...'दहलीज' में ग्रामोफोन के घूमते हुए तवे पर फूल पत्तियाँ उठ आती हैं, एक आवाज उन्हें अपने नर्म-नंगे हाथों से पकड़कर हवा में बिखेर देती है, संगीत के सुर झाड़ियों में हवा से खेलते हैं। ...ऐसे सजीव बिम्बों द्वारा ही निर्मल की कहानियाँ मन में वे संवेदनाएं जगा जाती हैं, जिन तक दूसरे कथाकारों के चरित्र और कथानक भी कभी-कभी नहीं पहुँच पाते।"[21]

गद्य में लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता के प्रयोग से जहाँ उसकी सर्जनात्मक क्षमता में वृद्धि होती है वहीं दूसरी ओर उससे संप्रेषण के बाधित होने का खतरा भी रहता है। नामवर सिंह के अनुसार "प्रतीक-संकेत की पद्धति से भाषा में जहाँ एक ओर सूक्ष्म अर्थवत्ता आयी है, वहीं दूसरी ओर उस पर अनावश्यक काव्यात्मकता का लदाव भी हुआ है।"[22] नयी कहानी में प्रतीकों और संकेतों का चलन काफी बढ़ा है। नामवर सिंह कहानी में बढ़ती सांकेतिकता की प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए कहते हैं - "संकेत इतना भी बारीक हो सकता है कि पाठक ताकता ही रह जाय, कभी कहानी की ओर और कभी लेखक के अदृश्य मुंह की ओर। ऐसी स्थिति में कहानी के सर्वथा विचार शून्य हो जाने का भारी खतरा है।"[23] दुर्भाग्य से उत्तर आधुनिक कथाकारों ने ऐसी ही भाषा का प्रयोग करना शुरू किया है। उनकी पूरी कथा संकेतों और प्रतीकों से इस कदर दुरुह हो उठी है कि उसका वास्तविक निहितार्थ सिर्फ वही समझ सकते हैं।

कथा-भाषा में अमूर्तन और सांकेतिकता की प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए वीर भारत तलवार लिखते हैं - "हमारे विचार से काव्यात्मक भाषा कहानी के लिए उचित नहीं। कहानी गद्य की चीज है और गद्य अपना काम दूसरे ढंग से करता है। गद्य विवेचन की भाषा है, यथार्थ को अनावृत्त करने की भाषा है, वस्तुपरकता की भाषा है। --- कविता अनुभव सत्य को दूसरे ढंग से प्रकट करती है। --- काव्यात्मक भाषा में कहानी लिखने से कहानी का विकास सही दिशा में नहीं होगा। उससे कहानी में अमूर्तन बढ़ेगा, रहस्यीकरण और कल्पना का चमत्कार बढ़ेगा।"[24]

लेकिन क्या काव्यात्मकता से गद्य की शक्ति क्षीण ही होती है? कविता से गद्य की इतिवृत्तात्मकता, रूखापन खंडित भी तो होता है। फिर आज के बहुआयामी और जटिल यथार्थ को सीधे सपाट भाषा में क्या प्रस्तुत किया जा सकता है? परीक्षा गुरु का गद्य 'अपने अपने अजनबी' के जटिल यथार्थ को क्या व्यक्त कर सकता है? इस सवाल का उत्तर निर्मल वर्मा के शब्दों में देखिए - "अजीब संयोग की बात है कि हिंदी गद्य के मरुस्थल में जहाँ कहीं हरी घास के टुकड़े दिखायी देते हैं, वहाँ उन लोगों के हाथ दिखायी देते हैं जो कविता के अधिक नजदीक रहे हैं - जिनका 'प्रोफेशनल' गद्यकारों की अखाड़ेबाजी से ज्यादा लेना देना नहीं था जिन्होंने कविता के हाशिये पर अपने निबंध या लेख लिखे थे। उनकी ताजगी, मर्मज्ञता और दो टूक पैनापन अपने में एक अजीब आनन्द देता है।"[25] और जैसाकि अज्ञेय भी कहते हैं - "कवि लोग कहानियाँ ज्यादा अच्छी लिख सकते हैं क्योंकि कवि दृष्टि यथार्थ में ज्यादा गहराई तक उतरती है। वह अधिक संश्लिष्ट होती है।"[26] समकालीन गद्यकारों ने अपनी भाषा में काव्य-सुलभ व्यंजना को प्रमुखता दी है जिससे हिंदी गद्य का परिदृश्य निखर उठा है। आज के जटिल यथार्थ को हिंदी गद्य अभिव्यक्त कर पाने में पहले से कहीं अधिक सक्षम है। इस संदर्भ में नेमिचन्द्र जैन की टिप्पणी है - "निरे इतिवृत्तात्मक वर्णन के बजाय, काव्य सुलभ व्यंजना प्रधानता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति हिंदी के सर्जनात्मक गद्य की अधिक सक्षमता की ओर प्रगति का सूचक है।"[27]

आधुनिक कथाकारों ने जीवन के यथार्थ को चित्रित करने के नाम पर कथा-भाषा को अमूर्त्तन से भर दिया है। जीवन के अन्वेषण के नाम पर उन्होंने कथा-भाषा को दर्शन

की भाषा बना दिया है। नामवर सिंह इस प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए कहते हैं – "इतनी विशाल और समृद्ध जिंदगी का जंगल सामने लहरा रहा है और आप हैं कि जाने किन सूक्ष्म मान्यताओं और रूढ़ प्रतीकों के ऐब्सट्रेक्शन्स में झक मार रहे हैं। इन बातों के लिए दर्शन या एक हद तक कविताएँ कुछ कम हैं? फिर इस जिंदगी की मांसलता और छोटी-छोटी बातों के ब्यौरे में बिखरी हुई ठोस वास्तविकता का चित्रण कौन करेगा? --- जिंदगी की इस सम्पूर्णता को गद्य वाणी नहीं देगा, तो कौन देगा।"[28] नामवर सिंह के मत में अच्छा गद्य तो वह है, जहाँ वह जीवन की सच्चाई को सादगी और सहजता के साथ अभिव्यक्त करता है बिना शब्दों का खिलवाड़ किये। वह श्रेष्ठ कथा-भाषा उसे मानते हैं जिसमें "हल्के-हल्के शब्द और छोटे-छोटे वाक्य एक पर एक जमे हुए सहज प्रवाह में बहते चलते हैं, फिर भी सूक्ष्म भाव अथवा विचार का कोई रेशा छूटने नहीं पाता। तमाम अलंकरण, आवरण का कूड़ा-करकट छोड़कर भाषा इतनी स्वच्छ और निर्मल हो उठी है कि विषय-वस्तु और पाठक के बीच में भाषा का व्यवधान ही नहीं रह जाता। कहानी का कथ्य पूरी ताकत के साथ मन पर सीधा असर डालता है।"[29]

नि:संदेह अच्छा गद्य काव्यात्मक होता है पर इसका अर्थ यह नहीं कि उसे काव्यात्मक बनाने के नाम पर कोरी भावुकता से भर दिया जाए। भावुकता से बोझिल गद्य भावनाओं का उच्छ्वास बनकर रह जाता है। जीवन का यथार्थ भावुक, गलदश्रु, अलंकृत शब्दों के सहारे नहीं प्रकट किया जा सकता। कथा में अतिशय भावुकता से युक्त गद्य क्षणिक भावुकता की सृष्टि तो करता है पर भावप्रवण नहीं होता। गद्यकार को चाहिए कि वह स्थिति की जटिलता को उसके यथार्थ के साथ पाठक की चेतना में मूर्त करे तभी वह मार्मिक बन पड़ेगा। अलंकरण के बोझ तले वस्तु सत्य दबा रह जाता है और हम जीवन के यथार्थ को नहीं देख पाते। नामवर सिंह कथा में अत्यधिक भावुकतापूर्ण भाषा के प्रयोग की आलोचना करते हुए लिखते हैं – "कहानी में किसी भी स्तर पर भावुकता को परिलक्षित किया जा सकता है। सबसे पहले तो भाषा के स्तर पर भावुकता के लक्षण प्रकट होते हैं। नाटकीय स्थितियों के अतिरिक्त कहानी में जहाँ भाषा को अधिक कवित्वपूर्ण ललित, सुंदर

या उदात्त बनाने की कोशिश दिखाई पड़े वहाँ समझ लेना चाहिए कि वस्तु सत्य की पूंजी के अभाव में शब्दों के व्यापार के सहारे कामयाबी हासिल करने की कोशिश है।"[30]

गद्य-भाषा को जीवन की वास्तविकता के साथ संश्लिष्ट रूप से जुड़ा होना चाहिए। जीवन की सच्चाइयों से जुड़कर ही भाषा जीवंत होगी। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में - "जीवन से परे उर्ध्वचेतना का गद्य आवश्यकता से अधिक शीतल और सूक्ष्म हो जाता है। जीवन की अबूझ स्थितियों की खोज में मन के अचेतन में भटकने वाला गद्य धुँधला हो जाता है। आवश्यक है कि हम धरती की गंध और उष्मा से अपने गद्य को प्राणवान और दीप्त रखे।"[31] इसी तरह वह कथा-भाषा के संबंध में कहते हैं - "कथा भाषा में मीनाकारी, पच्चीकारी और अदाकारी की उतनी जरूरत नहीं जितनी जीवन की सच्चाई को उजागर करने वाले शब्दों के चयन और विन्यास की। पूरी ईमानदारी से जीवन के अन्तर्विरोधों का संयमित संयोजन श्रेष्ठ कथा-रचना की पहचान है।"[32]

गद्य में वाक्य विन्यास का केन्द्रीय महत्व है। गद्य की भाषा को निर्धारित करने में वाक्य विन्यास की अहम भूमिका है। गद्यकार वाक्य-विन्यास में नये-नये प्रयोग कर अपनी भाषा को सर्जनात्मक रूप देता है। हिंदी के आरंभिक गद्य में वाक्य-विन्यास का एक रूढ़ और सरल रूप दिखायी देता है। हिंदी गद्य में वाक्य-विन्यास का मानक रूप है - कर्ता-कर्म-क्रिया। इस तरह के विन्यास से रचे जाने वाले वाक्य का प्रचलित रूप है 'एक राजा था, एक रानी थी? बहुत दिन पहले की बात है, आदि। भारतेन्दु युग एवं द्विवेदी युग में वाक्य-विन्यास का यही रूप प्रचलित था। आधुनिक गद्यकारों ने वाक्यविन्यास के इस प्रचलित रूप को तोड़कर उसमें नये-नये प्रयोग किये हैं। इस दृष्टि से अज्ञेय, निर्मल वर्मा, मनोहर श्याम जोशी, धर्मवीर भारती के नाम उल्लेखनीय हैं। अब कर्ता-कर्म-क्रिया का क्रम बदल गया है। अब वाक्य के प्रारम्भ में क्रिया भी आ सकता है कर्म भी। इसी तरह क्रियापदों का प्रयोग भी कम हुआ है। आधुनिक कथा की शुरूआत अब 'सबसे पहले तुम शशि' (शेखर एक जीवनी), 'बीच की तीन पगडंडियों को पार करके बानो आती थी' (अँधेरे में) जैसे भूमिकाहीन वाक्यों से होती है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी वाक्य-विन्यास में क्रियापदों के लोप को उचित ठहराते हैं। उनका कहना है - "वाक्य विन्यास में सहज प्रवाह का एक साक्ष्य तब माना जा सकता है जबकि वाक्य में सबसे महत्वपूर्ण तत्व क्रिया का विलोप हो जाए और वाक्य शेष अवयवों के संतुलन पर तना रहे।"[33] अपने इस कथन की पुष्टि के लिए वह विभूति भूषण वंधोपाध्याय के बँगला उपन्यास 'आरण्यक' से कुछ उदाहरण देते हैं -

'सर्दियों की साँझ।'

'खूब रह-रह चाँदनी और वैसी ही हड्डी हिलाने वाली करारी सर्दी।'

'सूखी घास और झाऊ की बनी टट्टियाँ - उन पर मिट्टी की पुताई।'

इन वाक्यों में 'थी', 'है' जैसे क्रिया पदों का प्रयोग नहीं होने के बाद भी वाक्य में प्रवाह बना हुआ है। यह बँगला गद्य का सहज प्रचलित रूप है। बँगला में विन्यास का वैविध्य स्वत: ध्यान खींचता है।

गद्य की प्रकृति वर्णन की है। लेकिन निरा वर्णन गद्य को इतिवृत्त बना देता है। वर्णन की भाषा कुछ भंगिमा लिए हो तो उसमें सजीवता आ जाती है। इस संबंध में रामस्वरूप चतुर्वेदी प्रेमचंद और जैनेन्द्र द्वारा एक-दूसरे को लिखे गये पत्र की भाषा की तुलना करते हुए कहते हैं कि प्रेमचंद की भाषा में अभिधा की प्रधानता है, वह एक बँधे हुए फार्मूले पर चलती है। जबकि जैनेन्द्र की भाषा में वाक्य-विन्यास नवीनता लिए हुए है जिससे उसमें सजीवता दिखती है। उदाहरण के तौर पर दोनों के पत्र के कुछ अंश प्रस्तुत हैं -

"गबन आप पढ़ लें और मैं कुछ आपकी राय जान लूँ तो मुझे संतोष हो। 'परख' की आलोचना जल्दी में तो नहीं की, लेकिन अपनी दानिस्त में मुझे जो कुछ कहना चाहिए था वह कह चुका। मैं समालोचक बहुत खराब हूँ। पुस्तक पर पाठक की दृष्टि से निगाह डालता हूँ। और जो भाव जम जाता है वही लिखता हूँ..."

भवदीय

धनपतराय

जैनेन्द्र का उत्तर

"...मैं इससे यह समझता था कि आप सभी लाहौर ही होंगे और लौटते हुए ज़रूर दिल्ली उतरेंगे। और मैं हर रोज आपके यहाँ आने की आशा कर रहा था। उसके बदले में मिला आपका खत जिससे मालूम हुआ कि आप लखनऊ पहुँच गए और अब जल्दी इधर आने वाले हैं नहीं। यह तो सब कुछ बात न हुई। मैं यहाँ आप की सलाह और मदद से कुछ अपनी जिंदगी की समस्याओं को हल करने की सोच रहा था खैर।"[34]

इन दोनों पत्रों की भाषा की तुलना करते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं - "पत्रोत्तर के रूप में ऊपर-नीचे छपे इन दोनों गद्य अवतरणों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद की भाषा-शैली सीधी, सरल, क्रमबद्ध रूप में चलने वाली है। भाषा जैनेन्द्र की भी सरल है, पर कुछ भंगिमा लिए हुए। उद्धृत अंश में वाक्य संख्या तीन के दोनों उपवाक्यों तथा चौथे वाक्य में भी विन्यास को उलटा-पुलटा गया है आवश्यक बल, और शिकायत तथा अनुरोध के मिले-जुले अंदाज़ को उभारने के लिए, जिसे आजकल के शैलीविज्ञान में एक व्यापक नाम 'विचलन' दिया गया है। जैनेन्द्र में जो यह शैली की चंचलता है वह प्रेमचंद के सहज गंभीर स्वर से अलग जान पड़ती है। स्वयं प्रेमचंद ने अपने पिछले एक पत्र में जैनेन्द्र को उनकी शैली के विषय में इस प्रकार लिखा है, 'आपकी शैली में स्फूर्ति सजीवता कहीं अधिक है। चुटकियाँ, चुलबुलापन कहीं अधिक है।"[35]

आज की कथा-भाषा सपाट वर्णन करने से अधिक लक्षणा में बात करती है। यहाँ वर्णन को विस्तार देने की प्रवृत्ति कम हुई है। अब कथा में बिम्बों और प्रतीकों का महत्व बढ़ा है। भाषा की व्यंजना-शक्ति का विकास हुआ है। कथा में कहे से ज्यादा अनकहे को महत्व दिया जाने लगा है। कथा कहने में आत्मसंयम होने से वह नीरस होने से बची है। वर्तमान कथा के इस रचना विधान का परिचय देते हुए बँगला के प्रसिद्ध कथाकार शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय अपनी शिष्या लीलारानी गंगोपाध्याय को लिखे पत्र में कहते हैं - "कितना लिखना चाहिए, किस चीज़ को छोड़ देना चाहिए, किसे पी जाना चाहिए... इतनी बड़ी सच बात दूसरी नहीं है। दीदी, जितनी घटनाएँ घटती हैं उनमें से सारी नहीं लिखनी

चाहिए। कुछ को साफ-साफ कहना चाहिए, कुछ इशारे से, कुछ पाठकों के मुँह से कहलवा देना चाहिए।"[36]

गद्य में सांकेतिकता और मितकथन की यह प्रवृत्ति हिंदी के प्रसिद्ध कथाकार निर्मल वर्मा की कथा भाषा में लक्षित की जा सकती है। निर्मल अपनी कथा भाषा में ब्यौरों से अधिक इशारे से काम लेते हैं। यह उनके गद्य की ताकत है। उनकी कहानी 'परिंदे', 'मायादर्पण', 'बीच बहस में' हो या 'दूसरा घर' वह स्थूल ब्यौरों से अधिक सांकेतिकता को अधिक महत्व देती है। 'परिंदे' कहानी में लतिका का अवसाद प्रायः प्रतीकों के माध्यम से ही अभिव्यक्त हुआ है। उनकी अन्य कहानियों में भी सांकेतिकता की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। 'दो घर' कहानी में आत्मनिर्वासन की अभिव्यक्ति करता हुआ एक प्रसंग देखें -

"आप घर क्यों नहीं लौट जाते? मैंने साहस करके पूछा - ऐसा साहस जो सिर्फ़ पीने के बाद आता है और दोबारा कभी नहीं लौटता।

'घर'.... उन्होंने भयभीत दृष्टि से मेरी ओर देखा, कौन सा घर! मैं आपका मतलब नहीं समझा।"[37]

कथा-भाषा में देशकाल का अनावश्यक विस्तार कथा-लय के प्रवाह को बाधित करता है। कविता में शब्दों का अनावश्यक विस्तार नहीं होता। वहाँ मितकथन से काम लिया जाता है। मितकथन के प्रयोग से कविता में तनाव बना रहता है। हिंदी के आरम्भिक गद्य में संदर्भ का विस्तृत वर्णन, कथा में कथा कहने की प्रवृत्ति लक्षित की जा सकती है। उदाहरण के तौर पर नागार्जुन के उपन्यासों में संदर्भ एवं देशकाल का विस्तृत वर्णन देखा जा सकता है। 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'कुम्भीपाक' में कथा के भीतर कई अवान्तर कथाएँ चलती हैं जिससे गद्य की लय टूट जाती है। 'मैला आँचल' में भी देशकाल का विस्तृत वर्णन है। साथ ही वहाँ असम्बद्ध कथाएँ भी है। लेकिन उसके गद्य की लय आद्योपांत एक जैसी है। जहाँ लेखक ने किसी दृश्य को विस्तार दिया भी है वह बहुत स्वाभाविक ढंग से। भाषा विस्तार से बोझिल नहीं होने पाई है।

आधुनिक कथा भाषा ने वर्णन की अनावश्यक प्रवृत्ति से अपने को बचाया है। इस संबंध में रामस्वरूप चतुर्वेदी का मत है कि गद्य की ताकत वहाँ है जहाँ वर्णन न करके वर्णन को व्यंजित कर देने की क्षमता है। इस संदर्भ में वह त्यागपत्र से एक उद्धरण देते हैं - "हम लोगों का असली घर पछाँह की ओर था। पिता प्रतिष्ठा वाले थे और माता अत्यंत कुशल गृहिणी थी। जैसी कुशल थी वैसी कोमल होती तो -? पर नहीं, उस तो - ? के मुँह में नहीं बढ़ना होगा। बढ़े कि गए। फिर तो सारी कहानी उस मुँह में निगलकर समा जाएगी और उसमें से निकलना भी नसीब न होगा।"[38] यहाँ पर कथाकार ने वर्णन करने पर आत्मसंयम रखा है। बाकी की बातें इशारों में ही कहकर छोड़ दी है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार - "कथा में कथा के चक्र वाले पंचतंत्र और हितोपदेश के देश में वर्णन करने और कहानी कहने पर ऐसा सहज और अनाटकीय आत्संयम विस्मयजनक लगता है। इन दो-तीन वाक्यों में एक ओर उपन्यासकार का रचना-सूत्र छिपा हुआ है, पर वह यहाँ गौण है। मुख्य है वर्णन न करके वर्णन को व्यंजित कर देने की क्षमता। और तब इस गद्य-विधान के लिए स्वाभाविक है कि यहाँ छोटे से और निरीह से दिखते अव्यय प्रयोगों (तो, भी, और, कि) का महत्व बढ़ जाए। 'वैसी कोमल भी होतीं तो? में 'भी' और 'तो' महज बलार्थक से अधिक रचनात्मक गुणवत्ता रखते हैं कुछ वैसे ही जैसे नये कवि शमशेर बहादुर सिंह की कविताओं में"[39]

वर्णन न करके वर्णन को व्यंजित कर देने की क्षमता का एक अन्य उदाहरण निर्मल वर्मा की कथा-भाषा में देखा जा सकता है। उनकी कहानियों में स्थूल वर्णन नहीं है। घटनाएँ प्रायः प्रतीक रूप में चलती हैं। उनकी कथा के मुख्य विषय आत्मनिर्वासन, अकेलापन, मृत्युबोध आदि सर्वत्र व्यंजना में ही चलते हैं। उदाहरण के तौर पर 'परिंदे' कहानी की नायिका लतिका का अकेलापन घटनाओं के माध्यम से उतना नहीं उभरता जितना प्रतीकों के माध्यम से। लतिका पहाड़ के पीछे से उड़ते आ रहे पक्षियों के झुंड को देखकर अपने अकेलेपन, भटकाव के बारे में सोचती है। कथाकार ने दो-तीन वाक्यों में ही लतिका के अवसाद को प्रकट कर दिया है -

"लतिका को याद आया, हर साल सर्दी की छुट्टियों से पहले ये परिन्दे मैदानों की उड़ते हैं, कुछ दिनों के लिए बीच के इस पहाड़ी स्टेशन पर बसेरा करते हैं, प्रतीक्षा करते हैं बर्फ़ के दिनों की, जब वे नीचे अजनबी अनजाने देशों में उड़ जाएँगे...

क्या वे सब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं? वह, डॉक्टर मुकर्जी, मि० हयूबर्ट – लेकिन कहाँ के लिए, हम कहाँ जाएँगे?"[40]

जिस प्रकार क्रियापदों के लोप से भाषा का सौंदर्य बढ़ता है उसी तरह अव्ययों के संतुलित प्रयोग से भी। प्रायः यह देखा गया लेखक अपनी भाषा में अव्ययों का प्रयोग बिना सोचे समझे करते हैं जिससे अच्छा-खासा वाक्य भी अटपटा लगने लगता है। उदाहरण के तौर पर एक उद्धरण दिया जा रहा है –

"मनुष्य की ही भाँति काव्य भी अपने जन्म और वंश दोनों ही दृष्टियों से न केवल पुराणतम ही है बल्कि अज्ञात भी।"[41] प्रस्तुत वाक्य में 'भी', 'ही' का अनावश्यक प्रयोग हुआ है जिससे वाक्य की लय बिगड़ गई है। सही वाक्य होगा –

"मनुष्य की ही भाँति काव्य अपने जन्म और वंश दोनों दृष्टियों से न केवल पुराणतम है बल्कि अज्ञात भी।"[42]

आलोचना की भाषा भी सर्जनात्मक होती है क्योंकि वह रचना की पुनर्रचना है। रचनात्मक साहित्य को उपजीव्य बनाने की वजह से आलोचना गद्य को स्वयं एक स्तर तक रचनात्मक होना पड़ता है जबकि विचार गद्य अधिकतर वर्णनात्मक और विश्लेषणपरक होता है। आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचना भाषा को सर्जनात्मक बनाया है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार "आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचना भाषा में काव्य भाषा के महत्वपूर्ण तत्वों का समर्थ प्रयोग करके रचना के अर्थ को अधिकाधिक संवर्द्धित किया है। --- उपयुक्त शब्दों का चुनाव, आरोह-अवरोह का क्रम और एक साँस में वाक्य पूरा हो जाने की स्थिति ये सारे तत्व मिलकर ऊपर से दिखने वाली उक्ति को एक गहरी अनुभूति में बदल देते हैं।"[43]

शुक्ल जी की आलोचना भाषा में ऐसी उक्तियाँ भरी पड़ी हैं –

"लोक–हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस–दशा है।"[44]

"हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं।"[45]

शुक्ल जी की सैद्धांतिक आलोचना की भाषा रचनात्मक तो है ही व्यावहारिक आलोचना की भाषा भी कम सर्जनात्मक नहीं। उदाहरण के तौर पर सूरदास की आलोचना से संबंधित कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं।

"जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष–धारा, जो काल की कठोरता में दब गयी थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरलता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल कंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करील कुंजों के बीच फैल मुरझाये मनों को सींचने लगी।"[46]

रामस्वरूप चतुर्वेदी आचार्य शुक्ल की आलोचना–भाषा की इस विशिष्टता को रेखांकित करते हुए कहते हैं – "सावधान शब्द प्रयोग, नाद सौंदर्य और बिंब विधान – साधारणतः काव्य भाषा के ये गुण रामचंद्र शुक्ल की आलोचना भाषा में पाये जाते हैं।"[47] आलोचना की तरह निबंध की भाषा भी सर्जनात्मक होती है। उसमें विचार का तत्व प्रमुख रहता है। लेकिन उसकी भाषा दर्शनशास्त्र, न्याय शास्त्र में व्यक्त विचारों की भाषा से भिन्न रहती है। निबंध की भाषा में अनुभूति और चिंतन का अद्वैत होता है। इस गद्य में अनुभूति और चिंतन फेंटकर मिला होता है। विचार कहीं से आरोपित नहीं होता। इस दृष्टि से हिंदी के कुछ प्रसिद्ध निबंधकारों में हजारी प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, अज्ञेय, मलयज, शमशेर, निर्मल वर्मा आदि का नाम लिया जा सकता है। इनकी भाषा में चिंतन और अनुभूति का संश्लेष देखने का मिलता है। निबंधों में आई हुई उक्तियाँ जीवनानुभव का निचोड़ होती हैं। इस तरह का गद्य गहरे तक प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए निर्मल वर्मा के निबंध का एक अंश उद्धृत है – "यह अजीब है हमारे सपनों में वही चेहरे दिखायी देते हैं जो

कभी बहुत पास थे, किन्तु जो अपने को दिन के उजाले में छिपाये रखते हैं। वे सिर्फ नींद की ओट में ही हमारी पीड़ा को लाँघकर सामने आते हैं।"[48]

गद्य का प्रसार विभिन्न विधाओं के माध्यम से होता है। एक ओर उनमें काल्पनिक गद्य रूप उपन्यास, कहानी, नाटक है दूसरी ओर अकाल्पनिक गद्यरूप - निबंध, यात्रा, संस्मरण, आलोचना है। गद्य के इन भिन्न रूपों को समरस करते हुए उसे अपने को व्यापक रूप में निष्पन्न करना चाहिए। गद्य के रूप ऐसे हो जिनमें विभिन्न विधाओं का संश्लेष हो अर्थात् यात्रा-वृत्तान्त, रेखाचित्र, डायरी और उपन्यास के सीमांत एक दूसरे को काटते छूते चले। जैसे महादेवी वर्मा की 'घीसा' को पढ़ते हुए यह नहीं लगता कि वह कहानी है, संस्मरण या रेखाचित्र। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार "भाषा के इस पसारे में गद्य की सत्ता कहाँ है इसकी पहिचान यह होगी कि इस प्रयोग को कहानी संस्मरण - रेखाचित्र, निबंध जैसे किसी काल्पनिक अथवा अकाल्पनिक गद्य-रूप में वर्गीकृत न किया जा सके। जहाँ उसका गद्य लेखन स्वतः उठकर साहित्य का रूप ले लेता है। --- हिंदी में जैनेन्द्र, हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय और निर्मल वर्मा के नाम लिए जा सकते हैं जिनके गद्य में ठोस वर्णन और अनुभव की तरलता का सही अनुपात है, जो एक ओर इतिवृत्त और दूसरी ओर लालित्य के आग्रह से प्रायः ठीक-ठीक बच गया है।"[49]

विधाओं के विलीनीकरण की प्रक्रिया को निर्मल वर्मा के साहित्य के अध्ययन द्वारा समझा जा सकता है। उनके उपन्यास, कहानी, निबंध और संस्मरण के गद्य का स्वभाव एक जैसा है। जिसके बारे में निर्मल वर्मा स्वयं 'भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र' की भूमिका में कहते हैं - "एक तरह से ये (निबंध) मेरी विचार यात्रा के पड़ाव अंकित करते हैं... कहीं अधिक ठहरा हूँ, कहीं ज्यादा ठहरने के लालच को दबाना पड़ा है, कहीं बिना ठहरे आगे बढ़ गया हूँ - इस आशा में, कि कभी लौटने का मौका मिलेगा। जब लौटूँगा तो फिर एक 'कहानी' साथ होगी जो मेरी कहानियों में जगह न पाकर हमेशा मेरे निबंधों में शरण पा लेती है।"[50]

डॉ० रामचन्द्र तिवारी भी रामस्वरूप चतुर्वेदी की तरह गद्य-विधाओं के संश्लेष की बात उठाते हैं। उनके मत में एक अच्छे गद्य में कहानी, आलोचना, नाटक सब परस्पर गुंथे होने चाहिए। डॉ० तिवारी लिखते हैं - "गद्य-विधाओं के परम्परागत रूप-बंध टूट रहे हैं कहानी और उपन्यास में रिपोर्ताज, डायरी, पत्र, संस्मरण आदि विधाओं का रूप-बंध समाविष्ट हो रहा है। समीक्षा में भी नाट्य-शैली का प्रयोग किया जाने लगा है। उपन्यासों में काव्य की फैंटेसी शैली का प्रयोग भी होने लगा है। कथा, मुक्त-चिंतन, नाटक, एकालाप, संस्मरण सब एक दूसरे के निकट आ रहे हैं। यह संश्लेष जीवन की जटिलता की व्यंजना के लिए आवश्यक है। हम इस प्रवृत्ति का स्वागत करते हैं।"[51]

इसी तरह रामविलास शर्मा अपने गद्य संग्रह 'पंचरत्न' (1980) की भूमिका में लिखते हैं - "यह पंचरत्न है। जिन पाँच प्रमुख तत्वों से यह बना है उनमें पहला है रेखाचित्र। ...दूसरा तत्व है संस्मरण। रेखाचित्र वाला तत्व कहाँ समाप्त होता है और संस्मरण वाला कहाँ आरंभ होता है, यह बताना मेरा काम नहीं है। श्रेष्ठ पेय वह है जिसमें विभिन्न तत्व ऐसे घुलमिल गये हो कि उनके अलग अस्तित्व का ठीक पता न चले।"[52]

"इन लेखकों की भूमिका से स्पष्ट हो जाता है कि कैसे उनके मन में कहानी-निबंध-संस्मरण-रेखाचित्र-डायरी के रूप एक-दूसरे में घुलमिल रहे हैं और तब इसी संश्लेष में उनका गद्यकार चरित्र उभरता है। यह गद्य की अपनी निष्पत्ति है।"[53]

गद्य की लय ऐसी हो जो मन के भावों को व्यक्त कर सके। यदि हमारी संवेदना में अवसाद घुला हुआ है तो गद्य की लय भी धीमी होनी चाहिए। मन में उल्लास हो तो उसकी गति प्रवाहपूर्ण हो जानी चाहिए। यही अच्छे गद्य की पहचान है अर्थात् जीवन की लय के साथ गद्य की लय भी बदल जाये। रामविलास शर्मा इस बारे में लिखते हैं - "कलाकार चाहे गद्य लिखे, चाहे पद्य, उसके मन की वास्तविक दशा उसके गद्य-पद्य की लय से ही प्रकट होती है, सचेत होकर व्यक्त किये गये भावों और विचारों से नहीं।"[54] अपनी इस बात की पुष्टि के लिए वह शमशेर के निबंध संग्रह 'दोआब' का उदाहरण देते हैं। इस निबंध संग्रह में गद्य की लय धीमी और ठहरी हुई है क्योंकि स्वयं शमशेर का मन

इस समय अवसाद ग्रस्त रहा है। "गद्य की लय उपचेतन मन का दर्पण है और इन निबंधों को लिखते समय शमशेर का मन विषाद ग्रस्त रहा है। उन्होंने सचेतन मन से जो भाव और विचार प्रकट किये हैं, उनमें और गद्य की अवसाद ग्रस्त गति में काफी अन्तर है।"[55]

शमशेर के गद्य में बोलचाल की लय मिलती है। बोलचाल का लहजा उनके गद्य की ताकत है। रामविलास शर्मा लिखते हैं - "शमशेर बोलचाल के गद्य की लय पहचानते हैं। बोलचाल के गद्य की यह उनकी कविताओं के गद्य की भी लय है। उनकी वाक्य-रचना बदलती है, कभी सीधे-सादे वाक्य, कभी अनेक वाक्यांशों को गूंथकर रचे हुए लम्बे वाक्य, जवाहर लाल नेहरू की शैली में ठहर-ठहरकर बढ़ने वाले वाक्य --- कभी तत्सम शब्द ज्यादा, कभी हिन्दी का उर्दू रूप लेकिन चाहे जैसी वाक्य रचना हो, चाहे जैसा शब्द चयन हो, उनके गद्य की लय प्रायः एक सी रहती है।"[56] इस लय की विशेषता है चाल का धीमापन, दो वाक्यों के बीच में थोड़ी-थोड़ी देर में रुकना। उदाहरण के लिए 'ग्राम्या' पर लिखे एक निबंध का अंश देखिए -

"गांव की प्रकृति एक सार्थक शक्ति है।
वह फलदा है और मानो कर्म से मुक्त है।
मोह मुक्त एकदम नहीं, पर चिन्तन रहित है।
वह गाँव का परिचित-अपरिचित स्वर्ग है।"[57]

इस उद्धरण में 'वाक्य रचना एवं स्वाभाविक शब्द चयन में तत्सम रूपों की प्रधानता है पर चाल का धीमापन स्पष्ट है।'

उर्दू शैली से प्रभावित एक दूसरा उद्धरण दिया जा रहा है -

"आज के आर्ट में जो भी चीज़ पेश की जाती है,
उसमें खालिस कोई एक चीज़ पेश की जाती हो -
या करना मुमकिन भी हो -
यह नहीं है।

आज के दिन चारों तरफ के संघर्षमय जीवन ने
हर प्रकार से हमें इस तरह ढँक लिया है
हमारा सबका जीवन आज इस तरह चल रहा है
कि सिर्फ एक किसी चीज़ को लेकर हम कुछ समझ ही नहीं सकते,
उस चीज़ के बारे में, या किसी भी चीज़ के बारे में।"[58]

इस उद्धरण में भी चाल में वैसा ही धीमापन है जैसा पहले के उदाहरणों में। गद्य की यह धीमी लय मन पर अवसाद की छाया छोड़ जाती है। इसके विपरीत जहाँ शमशेर का मन विषाद मुक्त है वहाँ गद्य की लय बदल गयी है वहाँ जीवन का प्रवाह है। रामविलास शर्मा लिखते हैं - "आलोचना में केदारनाथ अग्रवाल पर उनका जो निबंध छपा था उसमें उनके गद्य की लय काफी बदली हुई मालूम हुई और इसमे शमशेर की बदलती हुई मनोदशा का परिचय मिलता है। उनका मन पहले से अधिक अकुंठित, अधिक विषादमुक्त और जीवन की ओर अधिक उन्मुख है।"[59]

इस प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि अच्छे गद्य की पहचान वहाँ है जब वह जीवन की गति के अनुरूप हो सहज, स्वाभाविक उसी में लयमान।

अभिव्यक्ति या संप्रेषण

सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि कविता अभिव्यक्ति का विषय है और गद्य संप्रेषण का। गद्य की प्रकृति वर्णन करने की होती है और वर्णन करने के मूल में संप्रेषण की इच्छा होती है। अज्ञेय कथा-भाषा के संदर्भ में कहते हैं - "कथा, आख्यान आदि के तो नाम में ही दूसरे की विद्यमानता और 'कहनी' की अनिवार्य स्थिति प्रतिज्ञात है। घटना को अनुभव करने या स्वयं पहचानने के लिए शब्दों के बिना भी काम चल सकता है, वर्णन में एक दूसरा एक इतर व्यक्ति अनिवार्य है और वर्णन अथवा वृत्तांत का लक्ष्य घटना को उस 'दूसरे' तक पहुँचाना ही है।"[60] अच्छे गद्य की पहचान इस बात में है कि वर्णन अथवा वृत्तांत दूसरे तक पहुँच पाया है कि नहीं। अज्ञेय कहते हैं "जो व्यक्ति का अनुभव

है उसे समष्टि तक कैसे उसकी पूर्णता में पहुँचाया जाय यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।"[61] यही बात गद्य के संबंध में भी कही जा सकती है। गद्य महज आत्माभिव्यक्ति नहीं है कि मौन रहकर या अपने में ही रमे रहकर बात खत्म कर दी जाय उसमें प्रसार और संप्रेषण की भावना निहित है। वह दूसरे तक पहुँचकर ही सार्थक होती है। संप्रेषण की यह भावना ही अच्छे गद्य की कसौटी निर्धारित करती है।

कविता का मूल प्रश्न अभिव्यक्ति का है। उसके लिए अपनी भावनाओं का तीव्र प्रस्फुटन ही महत्वपूर्ण है अन्य बातें गौण। लेकिन "अभिव्यक्ति अपने आप में संप्रेषण के दबाव से आती है वरना न उसे शब्दों की जरूरत है न रंगों की। शब्द स्वयं हमें समाज ने दिया है – यानी शब्द दूसरे के साथ संवाद है। भीतर कोई अनकहा संवेग है जिसे शब्द की तलाश है – हमारा सारा लेखन इसी सही शब्द का संधान है।"[62] गद्य की समाज सापेक्षिकता उसे कविता के आत्मकेन्द्रित स्वभाव से अलग करती है। यों तो कविता की तरह कल्पना और कलात्मकता गद्य में भी उपलब्ध होती है पर वह उसका साध्य नहीं साधन ही है। गद्य से अगर कलात्मकता के तत्व निकाल दिये जाये तो वह सृजनात्मक गद्य नहीं होगा। वह तथ्यात्मक या वर्णनात्मक गद्य कहलायेगा।

संप्रेषण तो तथ्यात्मक भाषा (विज्ञान, दर्शनशास्त्र, पत्रकारिता, आदि) का भी होता है बल्कि कहीं बेहतर होता है पर वह कलात्मक नहीं होती। वह सूचनापरक और विश्लेषणात्मक होती है। जबकि साहित्य की भाषा विशेषत: काव्य में विभिन्न कलाओं – मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत आदि का संश्लिष्ट योग होता है। वह सर्जनात्मक होती है जिसकी विधायिका शक्ति है कल्पना। सृजनात्मकता ही तथ्यात्मक भाषा से साहित्यिक भाषा को अलगाने का कार्य करती है और उसे विशिष्ट रूप प्रदान करती है। इधर हिंदी गद्य में संप्रेषण की भावना के साथ सर्जनात्मक होने की प्रवृत्ति बढ़ी है। इस संबंध में नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं – "निरे इतिवृत्तात्मक वर्णन के बजाय काव्यसुलभ, व्यंजना प्रधानता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति हिंदी के सर्जनात्मक गद्य की अधिक सक्षमता की ओर प्रगति का सूचक है।"[63]

संप्रेषण गद्य का मूल स्वभाव है। इसी से एक अच्छे गद्य की पहचान होती है। प्रायः हर गद्य लेखक इस बात के लिए सचेत रहता है कि उसकी बात अधिक से अधिक बोधगम्य हो। लेकिन कुछ लेखक ऐसे भी हैं जो अभिव्यक्ति को ही सब कुछ मानते हैं। संप्रेषण उनके लिए कोई समस्या नहीं। इन लेखकों ने भाषा की संरचना को इतनी दूर तक निजी बना डाला है कि वह दुर्बोध हो गयी है उनके मत में अगर संप्रेषण की समस्या माना तो अभिव्यक्ति की समस्या पीछे छूटेगी और अभिव्यक्ति में सरलीकरण होंगे। सरलीकरण की प्रवृत्ति भाषा को निरा इतिवृत्त बना देगी। वर्णन ही प्रधान हो जाएगा। इस संबंध में रामस्वरूप चतुर्वेदी का कहना है कि वर्णन और अनुभव की भाषा में सामंजस्य लाकर इस समस्या को सुलझाया जा सकता है। उनके मत में "यह सही है कि उपन्यास कविता नहीं है इसलिए वर्णन उसका अनिवार्य अंग है। पर वर्णन अब साध्य नहीं साधन अधिक है क्योंकि प्रधान है अनुभव का सम्पुंजन और सम्प्रेषण। उसी सीमा तक वर्णन को अब हल्का होना चाहिए, तभी वह उपन्यास के पूरे विधान में रचनात्मक सहायता दे सकता है। इसलिए पहले से भी अधिक आवश्यक हो गया है कि उपन्यास में वर्णन और सम्प्रेषण दोनों भाषा स्तरों का सानुपातिक प्रयोग हो।"[64]

रामस्वरूप चतुर्वेदी मिट्टी और पानी के प्रतीकों द्वारा वर्णन और अनुभव की भाषा का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। उनके मत में "मिट्टी वर्णन के लिए प्रेरित करती है, पानी कल्पना और अनुभव करने के लिए प्रेरित करता है। --- साहित्य में मिट्टी का प्रभाव जड़ और स्थूल वर्णनों में है, पानी अनुभवगत वैविध्य, गति और कल्पनाशीलता में प्रतिफलित होता है।"[65] यशपाल का रचना विधान मिट्टी वाला है। उनकी भाषा स्थूल वर्णन को अपनाती है। अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध, निर्मल वर्मा पानी के, अनुभव के गद्यकार हैं। इनकी भाषा में गतिशीलता है।

अनुभूति और गद्य

लेखक का अनुभव ही गद्य में ढलता है। अर्थात् अनुभूति ही गद्य को निर्धारित करती है। उपन्यास और कहानी में तो कल्पना का भी योग रहता है पर गद्य के अन्य रूप

– संस्मरण, निबंध, डायरी, आत्मकथा, यात्रावृत्त, रेखाचित्र पूरी तरह से अनुभूति पर ही निर्भर होते हैं। डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के अनुसार "जब कहानियों को प्रामाणिक अनुभूतियों का दस्तावेज कहा जाता है तो उसका तात्पर्य है कि कहानी का लेखक के अन्तर्जगत से घनिष्ठ संबंध है अथवा कहानी अन्तः प्रेरित है। ...अनुभवों की संख्या वैसे तो सीमित नहीं है। अनुभव कोई भी हो। उनका सार्थक होना, विश्वसनीय होना आवश्यक है। अनुभव का प्रामाणिक होना बहुत जरूरी है।"[66] आधुनिक कथाकारों ने अपने अनुभूत सत्य को कथा भाषा में जीवंत किया है। ये कथाकार चाहे मध्यवर्गीय परिवेश के हो या आंचलिक कथाकार अपने परिवेशगत यथार्थ को जो उनका भोगा हुआ है कथा भाषा में मूर्त रूप दिया है। मध्यवर्गीय परिवेश के कथाकारों ने मध्यवर्गीय जीवन की हताशा, टूटन, संघर्ष, कुंठा को अपनी कथा का माध्यम बनाया है जिनमें मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर भारती आदि का नाम प्रमुख है। इसी तरह आंचलिक परिवेश से आये कथाकारों – रामदरश मिश्र, शैलेश मटियानी, शिवप्रसाद सिंह, रेणु, मार्कंडेय आदि ने आंचलिक जीवन के यथार्थ को कथा में जीवंत रूप दिया है। इसी संदर्भ में डॉ० दंगल झाल्टे लिखते हैं – "आधुनिक उपन्यासकार अनुभूति और संवेदना को महत्व देते हैं जिसके कारण वे औपन्यासिक शिल्प से भी अधिक भाषा पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं क्योंकि संवेदना अनुभूति और भाषा का एक–दूसरे से गहरा संबंध है। उनके उपन्यासों की भाषा सीधे परिवेश और जीवन यथार्थ से उद्‌भूत होने के कारण विचारों भावों एवं अनुभूतियों को जीवन्त वाणी दे सकी है। ...उपन्यास की समीक्षा में इसकी भी चर्चा की जानी चाहिए कि अपने अनुभवों कथ्यों तथा विचारों को बोधगम्य भाषा के माध्यम से उपन्यास कहाँ तक संप्रेषित कर सका है।"[67]

पारम्परिक कथा में रंजन का उद्‌देश्य प्रमुख होने के कारण उसकी भाषा अनुभव और जीवनगत यथार्थ की अभिव्यक्ति से काफी दूर रही है। फलतः उसमें वह प्रवाह तनाव, गहनता तथा संप्रेषणतीव्रता नहीं आ पाई जिसकी अपेक्षा की जाती थी। हिंदी के आरम्भिक उपन्यासों – 'चन्द्रकांता संतति', 'जिंदे की लाश', 'सरकटी लाश', 'कुसुम कुमारी' की भाषा केवल कौतुहलपूर्ण है। प्रामाणिक अनुभूति के प्रश्न को किनारे रखते हुए। इन

उपन्यासों की भाषा केवल चमत्कार की सृष्टि करती है। आधुनिक उपन्यास का मुख्य उद्देश्य अनुभव को संप्रेषित करना ही है और संप्रेषण की समस्या आज बढ़ती ही जा रही है क्योंकि अनुभव की जटिलता के साथ ही पाठकीय संवेदना में भी बहुत बदलाव की स्थितियाँ आ गई है। यथार्थ बहुस्तरीय है अतः उसकी अभिव्यक्ति भी प्रयोगशीलता को लिए हुए है। यथार्थ की इस जटिल अनुभूति को सम्प्रेषित करने के लिए कथाकारों ने अपनी भाषा में नये प्रयोग किये हैं। इस दृष्टि से 'सूरज का सातवां घोड़ा', 'मुझे चाँद चाहिए', 'नौकर की कमीज', 'कुरु कुरु स्वाहा', 'कलिकथा बाया बाईपास' के रचना विधान को देखा जा सकता है। इन उपन्यासों का शिल्प पारम्परिक कथा के ढाँचे को तोड़कर नई सर्जनात्मक उपलब्धि हासिल करता है।

भाषा की सम्प्रेषणीयता दूसरे तक अपना प्रामाणिक अनुभव पहुँचाना है। "नेमिचन्द्र जैन अनुभव की प्रामाणिकता को अपने कथा प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' की प्रशंसा वह अनुभव की प्रामाणिकता के लिए करते हैं।"[68] अनुभूति की प्रामाणिकता की कसौटी पर गोदान उपन्यास को परखें तो कई बातें निकलकर सामने आती हैं। जैसे जहाँ प्रेमचंद ने ग्रामीण जीवन के यथार्थ को उकेरा है वहाँ उनकी भाषा स्वाभाविक बन पड़ी है क्योंकि यह जीवन उनका भोगा हुआ है वहीं जब वह शहरी मध्यवर्ग का चित्रण करते हैं तो भाषा में एक तरह का सतहीपन दिखाई देता है। क्योंकि शहरी मध्यवर्ग से उनका रिश्ता दूर का था। इस बारे में अज्ञेय ने लिखा है – उनके देहाती निम्नवर्गीय (या निचले मध्यवर्गीय भी) पात्रों का चित्रण तो खरा और सर्वांगीण सच्चा है पर शिक्षित मध्यवर्गीय या उच्चवर्गीय पात्रों का चित्रण सतही और अविश्वसनीय। किंतु प्रेमचंद में यह दोष अनुभव की सीमा का दोष है, संकुचित सहानुभूति उदारता की कमी, पूर्वग्रह या इच्छा से उत्पन्न होने वाला नहीं।"[69]

निर्मल वर्मा की कहानी 'लंदन की एक रात', 'पिक्चर पोस्टकार्ड' हो या उपन्यास 'वे दिन' उसमें जिस मानवीय संकट की स्थिति अभिव्यक्ति है वह यथार्थ के प्रामाणिक साक्षात्कार के अभाव में संभव नहीं था। उनकी कथा में अकेलापन, अजनबीपन, अवसाद,

स्मृति, बर्फ, पहाड़ सिर्फ कल्पना के स्तर पर ही नहीं, जीवंत रूप में उपस्थित है क्योंकि यह स्थिति उनकी भोगी हुई है जिसका इतना प्रभावी वर्णन वह अपनी कथा में कर सके हैं। इसी तरह 'रागदरबारी', 'आधा गाँव', 'नौकर की कमीज', 'आधे अधूरे' आदि कृतियों के लेखकों ने मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ को कथा भाषा में मूर्त्त कर दिया है। इन अनुभवों को भोक्ता होने के कारण उनकी भाषा कहीं से भी थोपी हुई नहीं लगती। वह उनके द्वारा सिरजी हुई भाषा है।

कविता में कवि प्रकृति की कल्पना रंजित रंगीन दुनिया खड़ा करता है। लेकिन गद्य में प्रकृति यथार्थ रूप में उपस्थित होती है। रिपोर्ताज हो या यात्रावृत्त, संस्मरण या जीवनी लेखक प्रकृति और उसकी घटनाओं का भोक्ता होने के कारण उनका यथार्थ चित्रण करता है। निर्मल वर्मा या राहुल सांस्कृत्यायन के यात्रा-संस्मरणों में प्रकृति की जीवंत उपस्थिति है क्योंकि उनका पहाड़, बर्फ़, चीड़, लंदन, विएना, लद्दाख, वोल्गा से करीबी रिश्ता रहा है। इन लेखकों ने प्रकृति के भोगे हुए एक-एक स्पंदन को उसके रूप, रस, गंध को अपनी भाषा में मूर्त्त कर दिया है। चीड़ों पर चाँदनी और बर्फ़ की अनुभूति को निर्मल वर्मा ने जिस कलात्मक रचाव के साथ प्रस्तुत किया है वह बेजोड़ है। महादेवी के रेखाचित्र इसलिए सजीव और आकर्षक लगते हैं क्योंकि उसके पात्रों से उनका निकट का संबंध रहा है। इसी तरह आचार्य शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, कुबेरनाथ राय, विद्यानिवास मिश्र, अज्ञेय आदि के निबंधों में भारतीय दर्शन, संस्कृति एवं साहित्य की मुखर अभिव्यक्ति हुई है। इन लेखकों ने भारतीय दर्शन को गहरे तक आत्मसात् किया है। जीवन जगत् के प्रति चिंतन उनकी भाषा में सूक्ति के रूप में ढलकर प्रस्तुत हुआ है। उनके निबंधों की भाषा जीवन के अनुभव की भाषा है।

एक अच्छे गद्य की कसौटी यथार्थ को पुनर्सृजित करती हुई भाषा में भी है। यथार्थ का पुनर्सृजन तभी संभव है जब भाषा उस परिवेश को जीवंत करने में सक्षम हो। संवेदना और रूप में अन्विति रचना के कलात्मक प्रभाव को प्रखर और तीक्ष्ण करती है। क्या गोदान में किसान जीवन की संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए इससे सहज बोलचाल वाली

भाषा उपयुक्त हो सकती है? मैला आँचल में ग्राम्य संस्कृति को जीवंत रूप में प्रस्तुत करने के लिए इससे ज्यादा उत्सवधर्मी भाषा हो सकती है? निश्चय ही यह दोनों उपन्यास अपने परिवेश की भावानुकूल भाषा के द्वारा अभिव्यक्ति दे सके हैं। इसी तरह निर्मल वर्मा ने अपने कथा-भाषा के माध्यम से जिस दूसरी दुनिया की सृष्टि की है वह भाषा की प्रतीकात्मकता, बिम्बात्मकता के द्वारा ही संभव था। 'आषाढ़ का एक दिन' का गद्य श्रेष्ठ समझा जाता है क्योंकि इसका कथ्य महाकवि कालिदास के जीवन पर आधारित होने के कारण भाषा संस्कृत गर्भित हिंदी की है। उसकी सम्पूर्ण बुनावट उस परिवेश को हमारे सामने उभारने में सहायक होती है। "लेखक अपना अनुभूत सत्य ईमानदारी से उसी परिवेश की भाषा में पाठक के सामने प्रस्तुत करता है इसलिए संवेदना के धरातल पर पाठक लेखक से अंतरंगता का अनुभव करता है। अंतरंगता भाषा के ही माध्यम से आती है।"[70] उदाहरण के लिए मोहन राकेश की कहानी 'परमात्मा का कुत्ता' में दफ्तरी माहौल का चित्रण जिस भाषा में किया गया है वह जीवन्त और सशक्त तो है ही उसमें गूढ़ व्यंग्यार्थ भी है जो अनकही बात को भी स्पष्ट कर देता है। देखें -

"एक फर्मायशी कहकहा लगा जिसे 'शी-शी' की आवाज़ों ने बीच में ही दबा लिया। कहकहे पर लगाई गई इस ब्रेक का मतलब था कि कमिश्नर साहब अपने कमरे में तशरीफ़ ले आए हैं। कुछ क्षणों का वक्फ़ा रहा, जिसमें सुरजीत सिंह वल्द गुरमीत सिंह की फ़ाइल एक मेज से एक्शन के लिए दूसरी मेज पर चली गई। सुरजीत सिंह वल्द गुरमीत सिंह मुस्कराता हुआ हाल से बाहर चला गया और जिस बाबू की मेज से फ़ाइल गई थी, वह नए पांच के नोट को सहलाता हुआ चाय पीने वालों के जमघट में आ शामिल हुआ।"[71] उपरोक्त विवरण में आए हुए उर्दू और अंग्रेजी के शब्द यथा फ़ाइल, फर्मायशी, कहकहा, दफ्तरी कागज, वल्द, दस्तखत आदि दफ्तर के वातावरण में पूरी तरह खप जाते हैं और भाषा का प्रवाह बना रहता है। परिवेश को जीवंत करती हुई भाषा के अलावा भाषा का समकालीन होना भी जरूरी है। उत्तर-आधुनिक समाज की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए भाषा भी उसी के अनुरूप होनी चाहिए तभी गद्य विश्वसनीय बन सकेगा जैसाकि मनोहर

श्याम जोशी अपने उपन्यासों के रचना-विधान में करते हैं। इसी तरह आदर्शवादी युग के उपन्यासों की भाषा में भी उस युग का रचना-विधान अपनाया जाना चाहिए।

एक अच्छे गद्य की पहचान यह भी है कि वह ब्यौरे या वर्णन में गये बिना ही एक छोटे से वाक्य के सहारे समग्र एवं अभिप्रेत अर्थ को व्यंजित करने की क्षमता रखता है। उदाहरण के लिए निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' ले सकते हैं। इस कहानी में कथा नायिका लतिका द्वारा कहा गया एक छोटा सा वाक्य 'हम कहाँ जाएँगे' बहुत कुछ कह देता है। लतिका के जीवन की अनिश्चितता, उसका अकेलापन, साथ ही अन्य पात्रों की नियति इस छोटे से वाक्य के सहारे व्यंजित हो उठती है। निर्मल वर्मा लतिका की नियति को चित्रित करने के लिए तफसील में नहीं जाते। बस कुछ छोटे-छोटे वाक्यों के सहारे पूरी मन:स्थिति साकार कर देते हैं। नामवर सिंह इस बारे में लिखते हैं - "पहाड़ के पीछे से आते हुए पक्षियों के झुंड को देखकर 'परिंदे' की लतिका चलते-चलते सोचती है - 'क्या वे सब प्रतीक्षा कर रहे हैं? लेकिन कहाँ के लिए, हम कहाँ जायेंगे?' प्रश्न मामूली है लेकिन कहानी के माहौल में वह सिर्फ पक्षियों का या लतिका का व्यक्तिगत प्रश्न नहीं रह जाता। जैसे इस प्रश्न से लतिका, डॉक्टर मुखर्जी, मि० हयूबर्ट सबका संबंध है - इन सबका और इनके अलावा भी और सबका। देखते-देखते प्रेम की एक कहानी मानव नियति की व्यापक कहानी बन जाती है और एक छोटा सा वाक्य पूरी कहानी को दूरगामी अर्थवृत्तों से वलयित कर देता है। 'हम कहाँ जाएँगे' यह वाक्य सारी कहानी पर अर्थ-गंभीर विषाद की तरह छाया रहता है।"[72]

इसी तरह अज्ञेय की कहानी 'रोज' का उदाहरण ले सकते हैं। इस कहानी में कथा नायिका मालती के जीवन की एकरसता, अकेलापन, ऊब को एक छोटा सा वाक्य 'रोज ही ऐसा होता है' जिस तरह अर्थ सघन करता है वह अन्यत्र बहुत सारे ब्यौरे देने के बाद भी प्रभावित नहीं कर पाता। मालती विभिन्न प्रसंगों में कुछ छोटे-छोटे वाक्य बोलती है और इसी से उसकी पूरी मन:स्थिति व्यंजित हो उठती है। कुछ उदाहरण देखें -

"मालती ने रोते हुए शिशु को मुझसे लेने के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा, इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज ही गिर पड़ता है।"[73]

"मालती टोककर बोली, 'ऊहूँ, मेरे लिए तो यह नयी बात नहीं है, रोज ही ऐसा होता है।"[74]

एक अच्छा गद्य वही है जिसमें किसी घटना या भाव को व्यंजित करने के लिए वक्तव्य अथवा टिप्पणी देने की बजाय उसे छोटे-छोटे दृश्य चित्रों द्वारा मूर्त कर दिया जाय। अच्छी कहानी के गद्य में पात्रों के क्रिया-कलाप स्वयं ही बोलते हैं लेखक अपनी ओर से कोई टिप्पणी नहीं करता। इस टेक्नीक में एक ओर जहाँ गद्य बोझिल होने से बचता है वहीं वह दृश्य रूप में साकार होकर पाठक के मानस पटल पर छा जाता है। 'वापसी' कहानी में ऊषा प्रियंवदा ने इसी टेक्नीक का प्रयोग किया है। इस कहानी में नायक गजाधर बाबू रिटायर होने के बाद अपने घर आते हैं जहाँ वह खुद को मिसफिट पाते हैं। न तो वह स्वयं घरवालों से जुड़ पाते हैं न घर वाले ही उनसे सहज हो पाते हैं। गजाधर बाबू की नि:संगता, परिजनों द्वारा उनकी उपेक्षा, नयी-पुरानी पीढ़ी के बीच का तनाव छोटे-छोटे दृश्य चित्रों में साकार हो उठे हैं। जैसाकि - "घर में गजाधर बाबू के प्रवेश करते समय का पहला ही चित्र जैसे सम्पूर्ण स्थिति को स्पष्ट कर देता है। गजाधर बाबू को देखते ही वहाँ एक सकपकाहट भरा सन्नाटा छा गया। बहू ने झट से सर ढाँप लिया और नरेन्द्र ने बैठकर चाय का प्याला होंठो से लगा लिया। केवल हँसी दबाने के प्रयत्न में बसंती का शरीर रह-रहकर हिलता रहा। गजाधर बाबू ने चाहा था कि वह भी उस मनोविनोद में भाग लेते, लेकिन उनके आते ही सब चुप हो गए तो उनके मन में थोड़ी-सी खिन्नता उपज आई बैठते हुए बोले, चाय मुझे भी देना बसंती - लेकिन चाय भी मिली तो फ़ीकी। पत्नी के आते-आते सभी चुपचाप खिसक चुके थे।"[75] इस पूरे प्रसंग में लेखक ने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा है। पात्रों के क्रियाकलाप द्वारा ही नि:संगता, तटस्थता, उपेक्षा और असहजता की स्थितियाँ मूर्त हो उठी हैं। 'वापसी' के इस शिल्प की प्रशंसा करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं - (वापसी में) "छोटी-छोटी घटनाओं के दृश्य चित्र सामने आते हैं और सभी

चित्र कुल मिलाकर एक जीवन-मर्म का अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। कहानी वर्णनात्मक से अधिक चित्रात्मक है चरित्रों के क्रियाकलापों पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ कम से कम हैं, क्रियाकलापों का तथ्यपरक अंकन ही अधिक है।"[76]

डॉ० रामचन्द्र तिवारी अपनी पुस्तक, 'हिंदी गद्य : प्रकृति और रचना संदर्भ' में लिखते हैं - "कभी-कभी शुद्धता का आग्रह या परम्परा-संरक्षण का मोह भाषा के स्वस्थ विकास में बाधक होता है। जीवन्त भाषा का लचीला होना आवश्यक है। हिंदी ने प्रारम्भ में ही अनेक भाषाओं से शक्ति-संचय की है। इसलिए व्याकरण एवं वाक्य-संरचना के स्तर पर भी हमें अधिक कठोर और जटिल नियमों के आग्रह से इसे थोड़ा मुक्त रखना होगा।"[77] शुद्धतावादी आग्रहों से मुक्त भाषा सहज और प्रवाहमयी होती है। इसका उदाहरण प्रेमचंद की गद्य भाषा में देखा जा सकता है। प्रेमचंद ने अपनी कथा-भाषा को देश-काल की परिस्थितियों के अनुरूप ढाला है। जहाँ आवश्यक हुआ है वहाँ अन्य भाषाओं के शब्दों और मुहावरों का भी खुलकर प्रयोग किया है। ग्राम भाषा की सहजता को अपनाने के कारण उनकी भाषा की व्यंजना-शक्ति बढ़ गई है। जैसाकि डॉ० तिवारी लिखते हैं - "प्रेमचंद ने देश-काल, परिस्थिति के अनुसार व्यापक भारतीय समाज को केन्द्र में रखकर संकर भाषा का प्रयोग किया है।"[78] कह सकते हैं कि प्रेमचंद ने भाषा को जीवन के अत्यन्त निकट लाने का काम किया है।

कोई भी भाषा जब अन्य भाषाओं के बिंबों, मुहावरों अथवा व्याकरणिक रूप को अपनी प्रकृति के अनुरूप ग्रहण करती है तो उससे वह समृद्ध ही होती है। हिंदी में शमशेर के यहाँ इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। उनकी गद्यभाषा में उर्दू के मुहावरे और शब्द हिंदी की अपनी प्रकृति के अनुरूप ढलकर प्रयुक्त हुए हैं जिससे उनकी भाषा में विविधता देखने को मिलती है। इस बारे में डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं - "शमशेर के गद्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है, उसके मिजाज़ का फैलाव और संश्लेष। उनके गद्य का मिजाज़ चित्र, संगीत, मूर्ति, काव्य आदि कलाओं तथा उर्दू, अंग्रेजी, हिन्दी आदि भाषाओं के मिजाज़ों के संश्लेष से बना है। हिन्दी में यह मिजाज़ विरल है। विवेच्य विषय की प्रकृति के अनुसार

उनका यह मिजाज़ अपना रंग और तेवर बदल लेता है। लेकिन जहाँ कहीं यह अपने पूरे फैलाव के साथ प्रकट होता है, वहाँ मोरपंखी छटा का आभास देने लगता है। मैं नहीं जानता इस विशेषता को अच्छे गद्य का प्रतिमान माना जायेगा या नहीं लेकिन मैं यह जानता हूँ कि मिजाज़ का यह बहुरंगी और संश्लिष्ट फैलाव हिंदी-गद्य की समृद्धि का एक ठोस आधार बन सकता है।"[79] अपने इस कथन की पुष्टि वह शमशेर के एक गद्यांश से करते हैं -

"सन् 54 में जिंदगी के मोड़ ने श्री-राव को एक अंतिम गंभीर मौका दिया कि वे अपने को पहचाने और इस मौके को उन्होंने दोनों हाथों लिया। और लिया तो फिर किसी कीमत पर हाथ से जाने न दिया। अपने 'कवि और 'छवि' की प्रांजल 'लिरिक' भावना से और आगे वे बगैर इस नये मोड़ के, कतई नहीं बढ़ सकते थे। और उन्होंने सोचा कि आख़िरकार अपने सुविख्यात पिता स्वर्गीय सर सी०वाई० चिंतामणि की बेलाग और सुथरी पत्रकारिता का विरसा भी उनका अपना ही है चाहें तो, और यह कि कवि और आलोचक के गंभीर दायित्व का एक अच्छा और गहरा अध्ययन भी उनके पास था, एक तरह के रोमानी रहस्यवादी दृष्टिकोण से उनका पर्याप्त अनुभव एवं मूल्यवान अनुभूतियाँ भी थी।"[80]

इस गद्यांश को उद्धृत करने के बाद डॉ० तिवारी इसमें प्रयुक्त हुए विभिन्न भाषाओं के मिजाज़ की पहचान करते हुए लिखते हैं - "कहना न होगा कि उपर्युक्त गद्य-खण्ड में बार-बार 'और' संयोजक पद के सहारे बात को बढ़ाने का लहजा अंग्रेजी का है - कुछ मुहावरे उर्दू के हैं और 'प्रांजल', 'भावना', 'दायित्व', 'अनुभूतियाँ' आदि पद हिंदी-आलोचना की प्रचलित भाषा से लिए गए हैं और सबको मिलकर जो मिजाज़ पैदा किया गया है उसमें एक तरह का ऐसा वैविध्य-गर्भित फैलाव आ गया है, जो गैर हिन्दी कत्तई नहीं लगता।"[81]

संक्षेप में एक अच्छे गद्य के प्रतिमान हैं, उसका इतिवृत्त एवं सपाट वर्णन से मुक्त होना। वह स्पष्ट, पारदर्शी एवं सहजता लिए हो। दुरुहता से मुक्त हो। वाक्य विन्यास नवीनता लिए हो। गद्य की लय संवेदना के अनुरूप हो। प्रतीकों एवं बिंबों का भावानुरूप प्रयोग हो। काव्यात्मकता एवं भावुकता का संतुलन हो। लेखक की अभिव्यक्ति सम्प्रेषणीय हो। विभिन्न गद्यरूपों में समरसता हो आदि।

संदर्भ

1. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, वामन, सं० डॉ० नगेन्द्र, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली वि०वि०, दिल्ली, सं० 1994, पृ० 55
2. गद्यकाव्य समीक्षा, प्रो० हरिनारायण दीक्षित, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, सं० 1989, पृ० 21
3. संस्कृत साहित्य-रचना का इतिहास, आचार्य जयशंकर त्रिपाठी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, सं० 2002, पृ० 308
4. लौकिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, जयकृष्ण प्रसाद खण्डेलवाल, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सं० 2002, पृ० 294
5. वही, पृ० 295
6 संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा निकेतन, वाराणसी, सं० 1983, पृ० 378
7. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वचनदेव कुमार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सं० 1977, पृ० 201 से उद्धृत
8. वही, पृ० 201
9. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, वही, पृ० 399 से उद्धृत
10. वही, पृ० 399
11. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वचनदेव कुमार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सं० 1977, पृ० 202
12. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ० शिवमूर्ति शर्मा, वही, पृ० 178
13. लौकिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, जयकृष्ण प्रसाद खण्डेलवाल, वही, पृ० 293
14. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ० शिवमूर्ति शर्मा, वही, पृ० 180
15. लौकिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, जयकृष्ण प्रसाद खण्डेलवाल, वही, पृ० 304
16. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वचनदेव कुमार, वही, पृ० 204
17. लौकिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, जयकृष्ण प्रसाद खण्डेलवाल, वही, पृ० 311
18. वही, पृ० 312
19. Indian Narratology, K. Ayyappa Paniker, Indira Gandhi National Centre for the Arts, New Delhi, 2003
20. हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2006, पृ० 15
21. कहानी नयी कहानी, नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, सं० 2008, पृ० 34
22. वही, पृ० 36

23. वही, पृ० 35
24. सामना, वीरभारत तलवार, वाणी प्रकाशन, दिल्ली सं० 2005, पृ० 184 से उद्धृत
25. शब्द और स्मृति, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1976, पृ० 77
26. सामना, वीरभारत तलवार, वाणी प्रकाशन, दिल्ली सं० 2005, पृ० 184 से उद्धृत
27. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1989, पृ० 180
28. कहानी : नयी कहानी, नामवर सिंह, वही, पृ० 38
29. वही, पृ० 37
30. वही, पृ० 154
31. हिन्दी गद्य : प्रकृति और रचना संदर्भ, डॉ० रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं० 2004, पृ० 7-8
32. वही, पृ० 199
33. हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, वही, पृ० 18
34. वही, पृ० 19-20 से उद्धृत
35. वही, पृ० 20
36. वही, पृ० 19 से उद्धृत
37. बीच बहस में, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, सं० 2010, पृ० 62
38. हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, वही, पृ० 18-19 से उद्धृत
39. वही, पृ० 19
40. परिन्दे, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2008, पृ० 135
41. हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, वही, पृ० 21
42. वही, पृ० 21
43. हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, वही, पृ० 26
44. रामचन्द्र शुक्ल संचयन, सं० नामवर सिंह, साहित्य अकादमी, दिल्ली, सं० 1993, पृ० 96
45. वही, पृ० 19
46. वही, पृ० 126
47. हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, वही, पृ० 26
48. ढलान से उतरते हुए, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1985, पृ० 144
49. हिंदी गद्य : विन्यास और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, वही, पृ० 14-15
50. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, सं० 2001, भूमिका से उद्धृत
51. हिंदी गद्य : प्रकृति और रचना संदर्भ, डॉ० रामचन्द्र तिवारी, वही, पृ० 8
52. हिंदी गद्य : विन्यास और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, वही, पृ० 222 से उद्धृत
53. वही, पृ० 223

54. कथा विवेचना और गद्य शिल्प, रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1999, पृ० 157
55. वही, पृ० 157
56. वही, पृ० 156
57. वही, पृ० 155-156 से उद्धृत
58. वही, पृ० 156 से उद्धृत
59. वही, पृ० 157
60. सर्जना और संदर्भ, अज्ञेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सं० 1985, पृ० 359
61. त्रिशंकु, अज्ञेय, सूर्यप्रकाशन मंदिर, बीकानेर, सं० 1973, पृ० 119
62. निर्मल माया, सं० मधुकर उपाध्याय, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2007, पृ० 64
63. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, वही, पृ० 180
64. समकालीन यथार्थ और कथा भाषा, सं० सच्चिदानन्द वात्सयायन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सं० 1986, पृ० 43
65. वही, पृ० 39
66. समकालीन आलोचना के प्रतिमान, सं० रामव्यास पाण्डेय, श्री निवास शर्मा, मणिमय प्रकाशन, कलकत्ता, सं० 1974, पृ० 113
67. उपन्यास समीक्षा के नए प्रतिमान, डॉ० दंगल झाल्टे, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1987, पृ० 133
68. हिंदी उपन्यास सार्थक की पहचान, मधुरेश, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2002, पृ० 31 से उद्धृत
69. सर्जना और संदर्भ, अज्ञेय, वही, पृ० 140
70. आधुनिकता और हिंदी कहानी, जगन सिंह, प्रासंगिक प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1980, पृ० 109
71. वही, पृ० 108
72. कहानी : नयी कहानी, नामवर सिंह, वही, पृ० 52
73. कथाभूमि, सं० डॉ० चितरंजन मिश्र, डॉ० गणेश प्रसाद पांडे, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1999, पृ० 77
74. वही, पृ० 69
75. कहानी : नयी कहानी, नामवर सिंह, वही, पृ० 143
76. वही, पृ० 143
77. हिंदी गद्य : प्रकृति और रचना संदर्भ, डॉ० रामचन्द्र तिवारी, वही, पृ० 8
78. वही, पृ० 47-48
79. वही, पृ० 99
80. वही, पृ० 99-100
81. वही, पृ० 100

तृतीय अध्याय

निर्मल वर्मा का गद्य : कहानी

(i) निर्मल पूर्व हिंदी कहानी

भारतीय साहित्य में कथा और किस्सों की समृद्ध परम्परा रही है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि साहित्य कथा, आख्यान से भरे पड़े हैं। लोकसाहित्य में भी किस्से, कहानियाँ बहुत प्रचलित हैं। हिंदी में कहानी-लेखन की शुरूआत 19वीं सदी से ही दिखाई देने लगती है। लेकिन इस सदी की कहानियों में मौलिकता का अभाव है। इन कहानियों पर संस्कृत साहित्य एवं सूफी आख्यानों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त अधिकतर कहानियाँ अनूदित थीं। भाषा में भी अनगढ़ता दिखाई देती है। 20वीं सदी के प्रारम्भ से हिंदी कहानी का वास्तविक सूत्रपात होता है। इस सदी के पहले दशक में सरस्वती पत्रिका में कई कहानियाँ प्रकाशित हुईं। जो अपने कथ्य की दृष्टि से मौलिक थीं। लेकिन इन कहानियों में भी आकस्मिकता, घटनात्मकता, वर्णनात्मकता, कौतुहलपूर्णता एवं संयोग तत्व की प्रधानता है जैसाकि 19वीं सदी की कहानियों में था। यह भी सत्य है कि 20वीं सदी की प्रारम्भिक कहानियों में यथार्थ के तत्व दिखने शुरू हो गये थे पर वह व्यापक रूप से अपने समय के जीवन-यथार्थ से नहीं जुड़ पाई थी। हिंदी कहानी को व्यापक परिप्रेक्ष्य देने का कार्य प्रेमचंद ने किया। प्रेमचंद के आगमन से हिंदी कहानी को एक नई दिशा एवं दृष्टि मिली। प्रेमचंद ने हिन्दी कहानी को जीवन के व्यावहारिक पक्ष से जोड़ा। मनुष्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। प्रेमचंद के द्वारा पात्रों के मनोविज्ञान को पहली बार हिन्दी कहानी में जगह मिली। घटना की जगह संवेदना को प्रधानता मिली। प्रेमचंद ने कहानी में कल्पना की मात्रा कम करके उसे स्वाभाविक वर्णन से जोड़ा। प्रेमचंद में किस्सागोई भी है, कथा भी है, कहानी भी है, आदर्श भी है, यथार्थ भी। कहानी के इतने विविध रूप। जीवन के इतने सारे रूप, तरह-तरह के पात्र - इकट्ठे एक सारे किसी अन्य कहानीकार में मिलना दुर्लभ है। हिन्दी कहानी की दो मुख्य धाराएँ यथार्थवाद एवं मनोविश्लेषणवाद के बीज प्रेमचंद की शुरू की ही कहानियों में मिल जाते हैं। यही धाराएँ आगे चलकर प्रेमचन्दोत्तर कहानी में और सूक्ष्म एवं स्पष्ट रूप में विकसित होती हैं। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द ने हिन्दी कहानी के शिल्प को भी निखारा। उसकी भाषा को यथार्थ की भाषा से जोड़ा। कहानी की भाषा को बोलचाल की भाषा के करीब लाये। भाषा को मुहावरों से समृद्ध किया। हिंदी कहानी

में प्रेमचन्द के इस महत्वपूर्ण योगदान को देखते हुए ही आलोचकों ने हिन्दी कहानी के इतिहास का विभाजन प्रेमचन्द को आधार बनाकर किया है। हिन्दी कहानी की विकास यात्रा को मुख्यत: तीन चरणों में बाँटकर देखा गया है –

1. प्रेमचंद पूर्व हिंदी कहानी (1900 से 1915 ई० तक)
2. प्रेमचंद युगीन हिंदी कहानी (1916 से 1936 ई० तक)
3. प्रेमचन्दोत्तर हिंदी कहानी (सन् 1936 से सन् 1950 ई० तक)

सन् 1950 के बाद हिंदी कहानी में कई तरह के आंदोलन चले। जिनके आधार पर कहानी का नामकरण हुआ। इनमें नई कहानी, अकहानी, समानांतर कहानी, जनवादी कहानी, सचेतन कहानी, समकालीन कहानी आदि प्रमुख हैं। निर्मल वर्मा ने नई कहानी के दौर में लिखना प्रारम्भ किया था। उनके आगमन से हिंदी कहानी को एक नया मोड़ मिला। यहाँ नई कहानी तक हिंदी कहानी की संक्षिप्त विकास यात्रा दी जा रही है।

1. प्रेमचंद पूर्व हिंदी कहानी (1900 ई० से 1915 ई०) – हिंदी कहानी का वास्तविक सूत्रपात सन् 1900 ई० में 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के साथ होता है। 20वीं सदी के पहले दशक में 'सरस्वती' में कई लेखकों की कहानियाँ छपीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में इन कहानियों की सूची दी है, जो इस प्रकार है –

इंदुमती – किशोरी लाल गोस्वामी सं० 1957 (1900 ई०)
गुलबहार – किशोरी लाल गोस्वामी सं० 1959 (1902 ई०)
प्लेग की चुड़ैल – मास्टर भगवानदास (मिरजापुर) सं० 1959 (1902 ई०)
ग्यारह वर्ष का समय – रामचंद्र शुक्ल सं० 1960 (1903 ई०)
पंडित और पंडितानी – गिरिजा दत्त वाजपेयी सं० 1960 (1903 ई०)
दुलाईवाली – बंग महिला सं० 1964 (1907 ई०)

हिंदी की यह आरंभिक कहानियाँ अपने कथ्य और शिल्प दोनों ही स्तरों पर आधुनिकता की ओर उन्मुख होती हैं। वह अपनी अलौकिकता, सूफी प्रेमाख्यानक परम्परा को छोड़कर नये-नये विषयों और साधारण मनुष्य को अपने कथ्य का विषय बनाती हैं। जैसे कि 'पंडित और पंडितानी' कहानी दाम्पत्य जीवन के साधारण से प्रसंगों को लेकर निर्मित हुई है। इसमें पति-पत्नी के बीच की नोंक-झोंक बहुत ही कलात्मक और स्वाभाविक ढंग से व्यंजित हुई है। 'दुलाई वाली' कहानी दो मित्रों के पारस्परिक विनोद की कहानी है। कहानी में लेखक कौतुहल की सृष्टि कर पाठक को अन्त तक बांधे रखता है। इस कहानी में जिस नाटकीय ढंग से स्टेशन पर दोनों मित्र मिलते हैं, वह काफी दिलचस्प बन पड़ा है।

भाषा के स्तर पर भी इन कहानियों में खड़ी बोली का निखरा हुआ रूप दिखायी देता है। इनकी भाषा ब्रजभाषा के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त है। उदाहरण के लिए 'इंदुमती' की भाषा देख सकते हैं - "इतना सुनकर इंदुमती की आँखों में आँसू भर आए। वह बोली 'प्यारे, मेरे पिता का तो बहुत अच्छा स्वभाव था, सो तुम्हें देखते ही एकदम से ऐसा बदल क्यों गया? वह तो ऐसे नहीं थे, अब उन्हें क्या हो गया?"[1]

इसी तरह 'ग्यारह वर्ष का समय' की भाषा देखिए -

"उन्होंने चट अपना हाथ फैला दिया, जिस पर एक काला तिल दिखाई दिया। स्त्री कुछ काल तक उसी की ओर देखती रही, फिर मुख ढांपकर सिर नीचा करके बैठी रही।"[2]

इन कहानियों की भाषा के विषय में रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं - "लगभग सौ बरस पहले की इन कहानियों का गद्य आज भी शायद ही कुछ मार्जन की अपेक्षा रखता हो। वाक्य-विन्यास, शब्द-समूह और समूची भंगिमा कहीं पुरानापन या कि वर्जनीय पदावली लिए नहीं जान पड़ते। ...आरंभिक कहानी-गद्य की प्रौढ़ता का यह एक प्रमाण है।"[3]

इसी काल में हिंदी की कुछ अन्य पत्रिकाओं में भी कहानियाँ प्रकाशित होनी शुरू हुई जिन्होंने हिंदी कहानी के विकास को गति दी। इनमें 'इंदु' का नाम सबसे महत्वपूर्ण है।

सन् 1909 में काशी से 'इंदु' नाम की पत्रिका का प्रकाशन जयशंकर प्रसाद के द्वारा हुआ। 'इन्दु' में प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' 1911 में छपी। राधिकारमण प्रसाद की कहानी 'कानों में कंगना' भी 'इंदु' में सन् 1913 में छपी। विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक की 'रक्षा बंधन' 1913 में छपी। शुक्ल जी के अनुसार "हास्य रस की कहानियाँ लिखने वाले जी०पी० श्रीवास्तव की पहली कहानी भी इंदु में सं० 1968 में ही निकली थी।"[4]

1918 ई० में काशी से 'हिन्दी गल्प माला' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। जिसमें गंगा प्रसाद श्रीवास्तव, इलाचन्द्र जोशी और प्रसाद की कहानियाँ छपती रहीं। इसी काल-खण्ड में 'छत्तीसगढ़ मित्र' नामक पत्रिका ने माधवराव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी' छापी थी।

इस काल की सबसे महत्वपूर्ण कहानी है पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (1883-1920 ई०) की 'उसने कहा था' जो 1915 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। यह कहानी हिंदी कहानी के विकास में मील का पत्थर साबित हुई। आलोचकों ने इसे एक स्वर से हिंदी की पहली सर्वश्रेष्ठ और आधुनिक कहानी कहा है। इस कहानी का मूल विषय आदर्श प्रेम है जो त्याग और बलिदान के लिए प्रेरित करता है। डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार "अपने सामान्य जीवन में सामान्य व्यक्ति भी अपने भीतर प्रेम का अक्षय स्रोत किस प्रकार दबाए रहता है, एक मामूली-सी घटना व्यक्ति के अंतर्मन में फैलकर उसके जीवन को किस निर्णायक बिंदु पर ले जा सकती है, प्रेम की सात्विकता मनुष्य को कितनी उच्च भाव-भूमि पर ले जा सकती है - यह इस कहानी में व्यक्त है।"[5] इस कहानी में लेखक ने प्रेम और कर्त्तव्यबोध के बीच नायक लहनासिंह के चरित्र को बहुत सुंदरता से उभारा है। यह कहानी अपने शिल्प की दृष्टि से भी बेजोड़ है। इस कहानी के माध्यम से हिंदी में पहली बार फ्लैश बैक पद्धति का कलात्मक उपयोग किया गया है। भाषा की चित्रात्मकता, नाटकीयता और पंजाबी बोली के प्रयोग ने इसे जीवंत बना दिया है।

2. प्रेमचंद युगीन हिंदी कहानी (1916 - 1936 ई० तक) - हिंदी कहानी अबाध रूप से विकसित होती है प्रेमचंद (1880-1936 ई०) के आगमन के साथ। प्रेमचंद हिंदी

के युग प्रवर्तक कहानीकार माने जाते हैं। उन्होंने हिंदी कहानी को नई दिशा दी। मनुष्य के मनोविज्ञान को उन्होंने अपनी कहानी में बहुत ही सहज और सुंदर अभिव्यक्ति दी है। वह अपनी कहानी में आदर्श और यथार्थ के दो विरोधी धुरों को साथ लेकर चलने वाले विलक्षण कहानीकार हैं। प्रेमचंद की कहानियों का संसार बहुत व्यापक एवं विविधतापूर्ण है। उनकी कहानियाँ अपने परिवेश से अपने आस-पास के जीवन से जुड़ी हुई हैं। मूलतः वह ग्रामीण जीवन के कथाकार हैं, पर उन्होंने कस्बाई जिंदगी को भी अपनी कहानियों में जगह दी है। वह अपनी कथा में विविध विषयों को उठाते हैं - जमींदारों के द्वारा किसानों के शोषण की समस्या, छूआछूत, रूढ़ि एवं अंधविश्वास की समस्या, संयुक्त परिवार की समस्या, व्यक्तिगत जीवन की समस्या और कुछ कहानियाँ मेले, उत्सवों से जुड़ी हुई भी हैं।

प्रेमचंद पहले उर्दू में लिखते थे। उर्दू में लिखा उनका कहानी संग्रह 'सोजेवतन' 1908 ई० में प्रकाशित हुआ। उनकी पहली हिंदी कहानी 'पंच परमेश्वर' 1916 ई० में प्रकाशित हुई। प्रेमचंद की आरंभिक कहानियाँ आदर्शवाद से प्रेरित हैं जिनका मूल उद्देश्य है - सत्य की जीत, झूठ की हार। इस तरह की कहानियों में 'आत्माराम', 'प्रेरणा', 'ईदगाह', 'नमक का दारोगा', 'मैकू', 'इस्तीफा' आदि प्रमुख है। उन्होंने लोकवार्ताओं की शैली से प्रभावित कई कहानियाँ भी लिखी हैं - जैसे - 'सारंगा-सदावृक्ष', 'आत्माराम', 'दामुल का कैदी', 'ईदगाह'। 'रामलीला', बूढ़ी काकी में बाल मनोविज्ञान का सुंदर अंकन हुआ है। व्यंग्य प्रधान कहानी की दृष्टि से 'मोटेराम शास्त्री', 'मोटर के छींटे', उल्लेखनीय हैं। 'शतरंज के खिलाड़ी', 'आल्हा' उनकी प्रसिद्ध ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। 'बड़े घर की बेटी', 'गृहदाह', 'अलग्योझा' आदि कहानियों में संयुक्त परिवार की समस्याओं का मार्मिक चित्रण हुआ है। 'समर यात्रा', 'जुलूस', 'आहूति', 'सत्याग्रह' आदि कहानियों में उनकी राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप दिखाई देता है।

अपनी आरंभिक कहानियों में प्रेमचंद ने जिस आदर्शवाद को कहानी का मुख्य विषय बनाया था। धीरे-धीरे उससे उनका मोहभंग होने लगता है। उनकी कथायात्रा आदर्शवाद से चलकर यथार्थ की ठोस भूमि पर पहुंचती है। इस दौर में वह मनुष्य की

विडम्बना और नियति को उसकी नग्नता में प्रस्तुत करने लगते हैं। इस दौर में उनकी कहानियों का शिल्प भी बदल जाता है। घटनात्मकता, इतिवृत्तात्मकता की जगह सांकेतिकता ले लेती है। ऐसी कहानियों में 'कफन', 'पूस की रात', 'ठाकुर का कुंआ', 'सद्गति' प्रमुख है।

हिंदी कहानी के विकास में प्रेमचंद के अवदान को स्वीकार करते हुए इन्द्रनाथ मदान लिखते हैं - "इन्होंने जासूसी-ऐयारी आदि कथा-साहित्य को दाय में पाकर भी कहानी-कला को कितना विकसित तथा परिष्कृत किया है, इसका अनुमान 'पूस की रात' तथा 'कफ़न' से लगाया जा सकता है। वह कहाँ से चलकर कहाँ तक आ गए हैं। वह कथाकार से कहानीकार बन गए हैं। इस यात्रा में प्रेमचंद की उपलब्धि को आंका जा सकता है।"[6]

प्रेमचंद युग के एक प्रतिभाशाली कथाकार हैं छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद (1890-1937 ई०)। उन्होंने ऐतिहासिक, रोमानी, सामाजिक और चरित्रप्रधान कहानियाँ लिखी हैं। उनके पाँच कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं - 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आंधी', 'इन्द्रजाल'। प्रसाद की कहानियों में अनुभूति की तीव्रता, काव्यात्मकता, पात्रों का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, प्रेम, करुणा और त्याग का मार्मिक चित्रण मिलता है। उन्होंने नारी चरित्रों को अपनी कहानी में विशिष्ट स्थान दिया है। जिसमें उनकी निश्छलता, करुणा और समर्पण का प्रभावशाली चित्रण किया गया है। "संबंधों की जटिलता द्वन्द्व और अंतर्विरोध को प्रसाद अपने पात्रों के जरिए सूक्ष्मता से वर्णित करते हैं।"[7] इस दृष्टि से उनके 'आकाशदीप' की चम्पा, 'पुरस्कार' की मधुलिका का चरित्र महत्वपूर्ण है। प्रसाद ने अपनी बहुत सारी कहानियाँ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखी हैं जिनमें 'तानसेन', 'रसिया बलम', 'गुलाम', 'मदन-मृणालिनी' का नाम प्रमुख है। प्रसाद की रोमानी कहानियों में 'गुण्डा', 'आकाशदीप', का नाम लिया जाता है। 'नूरी' और 'मधुआ' उनकी यथार्थवादी कहानियाँ हैं। प्रसाद की प्रसिद्ध कहानियों में 'पुरस्कार', 'ममता', 'गुण्डा', 'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खण्डहर में', 'देवरथ', 'सालवती', 'घीसू', 'नूरी' और 'मधुआ' आदि कहानियों का

उल्लेख किया जाता है। इन कहानियों के विषय में मधुरेश लिखते हैं – "प्रसाद की ये कहानियाँ एक ओर यदि प्रेम के उदात्त रूप और सर्वस्व-बलिदान में निहित साहस एवं शौर्य को रेखांकित करती हैं तो वहीं वे दो परस्पर विरोधी भावों के संघात और द्वन्द्व को नाटकीय कौशल के साथ प्रस्तुत करती हैं।"[8]

प्रेमचंद युग में कहानी की दो धाराएं स्पष्ट दिखायी देती हैं। एक धारा व्यक्तिनिष्ठ, अन्तर्मुखी कहानियों/कथाकारों की है जिसके प्रतिनिधि कथाकार हैं जयशंकर प्रसाद। प्रसाद संस्थान के प्रमुख कहानीकार हैं – रायकृष्ण दास, राधिकारमण प्रसाद सिंह, चण्डी प्रसाद हृदयेश। आगे चलकर कहानी की इस व्यक्तिनिष्ठ धारा का विकास भगवती चरण वर्मा, उपेन्द्र नाथ अश्क, जैनेन्द्र, अज्ञेय, निर्मल वर्मा आदि में होता है। इनके विषय में इन्द्रनाथ मदान लिखते हैं – "इन कहानीकारों की रचनाओं में व्यक्ति-चिन्तन का अपना-अपना स्तर है, रचना-प्रक्रिया का अपना-अपना रूप है, व्यक्ति-सत्य को आत्मसात् करने का अपना-अपना धरातल है, वस्तु-चयन का अपना-अपना परिवेश है परन्तु इन सबकी कहानी कला में व्यक्ति मूलक जीवनबोध है।"[9]

हिंदी कहानी की दूसरी धारा समष्टिनिष्ठ, बहिर्मुखी कथाकारों की है जिसके प्रतिनिधि कथाकार हैं प्रेमचंद। इस युग के अन्य प्रमुख समष्टिवादी कथाकार हैं – सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक। आगे चलकर यह परम्परा यशपाल, भीष्म साहनी, अमरकान्त, रांगेय राघव, मार्कण्डेय आदि में विकसित होती है। "इस परम्परा के कहानीकारों की रचनाओं में भी समष्टि-चिन्तन का अपना-अपना स्तर है, सामाजिक बोध को आत्मसात् करने का अपना-अपना धरातल है, समष्टि सत्य की अनुभूति की अपनी-अपनी भूमि है और रचना-प्रक्रिया की निजता है। इन सबके दृष्टि-बोध में प्रेमचंद-परंपरा का विकास, विस्तार तथा परिष्कार हुआ है।"[10] संक्षेप में प्रेमचंद संस्थान के लेखकों ने जीवन के यथार्थवादी और व्यावहारिक पक्ष को प्रमुखता दी है और प्रसाद संस्थान के लेखकों ने व्यक्तिगत जीवन के भाव जगत को।

सुदर्शन (1896-1967 ई०) प्रेमचंद संस्थान के प्रमुख कहानीकारों में स्थान रखते हैं। "उनकी कहानियों पर परम्परागत भारतीय कथा और परम्परा का प्रभाव दीखता है। हृदय परिवर्तन, सत्य की विजय और परम्परागत मूल्यों की स्थापना उनकी कहानियों का मुख्य स्वर है।"[11] हार की जीत, 'कवि की स्त्री', 'दो मित्र', 'एथेंस का सत्यार्थी' उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक (1891-1945 ई०) की प्रथम कहानी रक्षाबंधन 1912 में प्रकाशित हुई। इनकी कहानियों का विषय प्रायः सामाजिक समस्याओं - दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह एवं अन्धविश्वास से जुड़ा हुआ है। कौशिक की कहानियों में 'ताई', 'प्रतिभा', 'विधवा', 'विद्रोही', 'पतितपावन', 'इक्केवाला' आदि का नाम विशेष प्रसिद्ध है।

राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह (1890-1971 ई०) "आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहानीकार हैं। ....प्रत्येक कहानी में किसी न किसी उद्देश्य और आदर्श की स्थापना अवश्य की गई है।"[12] 'कानों में कंगना', 'मरीचिका', 'दरिद्र नारायण', 'बिजली' आदि उनकी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

भगवती प्रसाद वाजपेयी (1899) की कहानियों में अछूत समस्या, विधवा विवाह, वेश्या समस्या जैसी अनेक समस्याओं को उठाया गया है। 'खाली बोतल', 'मैना', 'निंदिया लागी', 'मिठाई वाली' आदि उनकी कुछ प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

चतुरसेन शास्त्री (1891-1906 ई०) ने ऐतिहासिक विषयों पर मार्मिक कहानियाँ लिखीं - 'अंबपालिका', 'भिक्षुराज', 'पन्ना धाय', 'रूठीरानी', 'दे खुदा की राह पर', 'दुखवा मैं कांसे कहूँ सजनी' इनकी चर्चित कहानियाँ हैं।

रायकृष्णदास (1892-1985 ई०) भी प्रसाद परम्परा के कहानीकार हैं। "उनकी कहानियों में भावों का अक्षय वैभव, गद्यकाव्य का सा सरस सौष्ठव आदि के साथ ही काल्पनिक सुकुमारता और कलाकार की प्रतिभा का चमत्कार दिखाई पड़ता है। उनकी ऐतिहासिक कहानियों में 'अन्तःपुर का आरम्भ', 'प्रसन्नता की प्राप्ति' आदि उल्लेखनीय है।"[13]

वृन्दावन लाल वर्मा (1889-1969 ई०) ने भी ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी जिनमें 'कलाकार का दण्ड', 'शेरशाह का न्याय', 'जैनावादी बेगम' प्रसिद्ध हैं। इनकी सामाजिक विषयों पर लिखी कहानियाँ भी मिलती हैं। जिसमें 'राखी', 'हमीदा', 'तिरंगेवाली' विशेष उल्लेखनीय है।

इस युग के कहानीकारों में पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र (1900-1967 ई०) अपनी प्रतिभा और मौलिकता के कारण अलग से पहचाने जाते हैं। "उनकी कहानियों में समाज की रूढ़ियों के प्रति एक उत्कट विद्रोह की भावना उभरी। उनका दृष्टिकोण प्रेमचंद के सुधारवादी दृष्टिकोण से भिन्न ध्वंसवादी था। उन्होंने अपनी सशक्त और तीखी व्यंग्य भरी शैली द्वारा सामाजिक रूढ़ियों पर अत्यन्त भयंकर प्रहार किए।"[14] 1923 में इनकी पहली कहानी 'चिनगारियां' प्रकाशित हुई। बाद में इसी नाम से एक कहानी संग्रह भी प्रकाशित हुआ, जो अपनी उग्र राष्ट्रीय चेतना के कारण काफी प्रसिद्ध हुआ। 'उसकी माँ', 'चाँदनी', 'भुनगा', 'रेशमी' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

इसी काल में जी०पी० श्रीवास्तव ने हास्य रस प्रधान कहानियाँ लिखीं। 'पिकनिक', 'झूठमूठ', 'गुदगुदी', 'लम्बी दाढ़ी' आदि उनकी चर्चित कहानियाँ रही हैं।

3. प्रेमचन्दोत्तर कहानी (सन् 1936 ई० से सन् 1950 ई० तक) - इस काल में हिंदी कहानी में कई नई प्रवृत्तियाँ विकसित हुई। "इन नई प्रवृत्तियों के कारण विचार, मनोविश्लेषण, शिल्प, भाषा आदि के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग हुए। समष्टि रूप से, इस युग में प्रधान रूप से दो प्रकार की परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों का प्राब्लय दिखाई पड़ा - व्यक्तिवादी और समाजवादी। व्यक्तिवादी प्रवृत्ति में फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र और अभिव्यंजनावाद जैसी विदेशी विचारधाराओं का प्रभाव रहा तथा समाजवादी-प्रवृत्ति कार्लमार्क्स के मार्क्सवादी (साम्यवादी) सिद्धांत से अधिक प्रभावित रही।"[15] प्रेमचंदोत्तर कथाकारों को इन दो प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर विश्लेषित किया जा सकता है। हालांकि कहानी की यह दो धाराएँ एक दूसरे को छूती-काटती भी चलती हैं क्योंकि एक ही कथाकार ने व्यक्तिवादी और समाजवादी रचनाएँ भी दी हैं। उदाहरण के लिए जैनेन्द्र

और अज्ञेय जैसे मनोवैज्ञानिक कथाकारों की बहुत सी कथाओं पर उनके समय-संदर्भों की छाया देखी जा सकती है। फिर भी मोटे तौर पर इस काल के कथा साहित्य की यही दो मुख्य धाराएँ ठहरती हैं - व्यक्तिवादी (मनोविश्लेषणवादी) और समाजवादी (मार्क्सवादी)।

मनोविश्लेषणवादी कहानीकारों में जैनेन्द्र (1905-1988 ई०) का नाम सबसे पहले लिया जाता है। "जीवन दर्शन के स्तर पर गांधीवाद को महत्व देने वाले जैनेन्द्र की कहानियों में मानव जीवन की जटिल गुत्थियों, स्त्री पुरुष के सम्बन्धों को लेकर नैतिकता-अनैतिकता के गहन और सूक्ष्म स्तरों की प्रश्नाकुलता, अवसाद और करुणा की स्निग्धधारा, दार्शनिक ऊहा-पोह, संदेह, संकेत और रहस्य के साथ ही राष्ट्रीयता और क्रान्ति भावना के स्तर अत्यन्त कौशल से व्यक्त हुए हैं। शरीर और मन को अलग-अलग इकाइयाँ मानने वाले जैनेन्द्र को व्यक्ति चरित्रों के उद्घाटन में अद्भुत सफलता मिली है।"[16] उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं - 'जाह्नवी', 'पत्नी', 'ग्रामोफोन का रिकॉर्ड', 'घुंघरू', 'परख', 'एक रात', 'पाजेब', 'नीलम देश की राजकन्या', 'भाभी', 'फांसी' आदि।

अज्ञेय (1911-1987) की कहानी कला में मनोविश्लेषण के साथ-साथ प्रतीकात्मकता एवं बौद्धिकता का भी समावेश है। "अभूतपूर्व कलात्मक संयम के रचनाकार अज्ञेय की कहानियाँ जैनेन्द्र की परम्परा को विकसित करने वाली हैं। उनकी कहानियों में बदलते हुए संदर्भों में नये नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा व्यक्ति के माध्यम से की गयी है। अज्ञेय की कहानियों में संदर्भित सामाजिक संघर्षों का माध्यम भी व्यक्ति है यह व्यक्ति व्यापक अर्थों में तो सामाजिक है पर अपने व्यक्तित्व का विलय करके नहीं, बल्कि अपनी चेतना को उद्बुद्ध करके।"[17] अज्ञेय ने जीवन के विविध-पक्षों को आधार बनाकर कहानियाँ लिखी हैं। क्रांतिकारी जीवन को आधार बनाकर लिखी कहानियों में 'हरिति', 'अकलंक', 'द्रोही' और 'विपथगा' प्रमुख है। 'शरणदाता' उनकी विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखी चर्चित कहानी है। 'अमरवल्लरी', 'हरसिंगार', 'सिगनेलर' रूमानी भावबोध की कहानियाँ हैं। 'रोज', 'हीलीबोन की बत्तखें', 'जयदोल' कहानियाँ अपनी सांकेतिकता और प्रभाव सघनता के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं। 'विपथगा' (1937),

'परंपरा' (1940), 'कोठरी की बात' (1945), 'शरणार्थी' (1948), 'जयदोल' (1951), 'अमरवल्लरी' (1954), 'ये तेरे प्रतिरूप' (1961) अज्ञेय के कहानी संग्रहों के नाम हैं। हिंदी कहानी की भाषा को अज्ञेय ने बिंबों, प्रतीकों और संकेतों द्वारा एक नई भंगिमा दी जिसका आगे चलकर नई कहानी में पूर्ण विकास होता है। इस दृष्टि से अज्ञेय की कहानियाँ विशेष महत्व रखती हैं।

मनोविश्लेषणवादी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले एक अन्य प्रसिद्ध कहानीकार हैं इलाचन्द्र जोशी (1902-1982 ई०) इनकी कहानियों में दमित काम वासना, अहं, कुण्ठा का अतिरेकपूर्ण चित्रण मिलता है। उन्होंने मनोविज्ञान के सिद्धांतों को अपने पात्रों पर जबरन थोपा है जिससे उनकी कहानियाँ नीरस और बोझिल बन गयी हैं। इन्द्रनाथ मदान के अनुसार "जोशी की कहानियों में प्रायः या तो रूढ़ियों तथा कुण्ठाओं का विश्लेषण है (रोगी, परित्यक्ता) या व्यक्ति के अहं की चीरफाड़ है (डायरी के नीरस पृष्ठ) --- इसमें प्रायः कुण्ठित व्यक्ति के मन का ही आत्मविश्लेषण है। वह नैतिक आत्मपीड़ा और अपराध-भावना को ही कहानी में अभिव्यक्ति दे सके हैं।"[18] 'धूपरेखा' (1938), 'दीवाली और होली' (1942), 'आहुति' (1945), 'रोमांटिक छाया' (1943), 'खंडहर की आत्माएं' (1948), 'डायरी के नीरस पृष्ठ' (1951), 'कंटीले फूल लजीले कांटे'(1957) इनके कहानी-संग्रहों के नाम हैं।

प्रेमचन्दोत्तर कथाकारों में उपेन्द्रनाथ अश्क (1911-1996) अपनी विशिष्ट कहानी कला के कारण अलग से पहचाने जाते हैं। उनकी कहानियाँ एक ओर जहाँ समाज की विकृतियों, कुण्ठाओं की तीखी आलोचना करती हैं वहीं व्यक्ति के मनोविज्ञान की व्याख्या भी प्रस्तुत करती हैं। 'डाची', 'कांगड़ा का तेली', 'पलंग', 'पत्नीव्रत', 'गोखरु', 'अंकुर' प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

यशपाल (1903-1976 ई०) समाज के तीखे यथार्थ को मार्क्सवादी दृष्टि से प्रस्तुत करने वाले विशिष्ट कथाकार हैं। वर्ग-संघर्ष, शोषण, सामाजिक एवं नैतिक रूढ़ियों का विरोध उनकी कहानियों के मुख्य विषय रहे हैं। पारिवारिक और यौन जीवन की समस्याओं

पर भी उन्होंने कहानियाँ लिखी हैं। 'भस्मावृत्त चिंगारी', 'फूलों का कुर्त्ता', 'उत्तमी की माँ', 'परदा', 'मक्रील', 'ज्ञानदान', 'करवा का व्रत', 'आदमी और खच्चर', 'पिंजरे की उड़ान' उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

यशपाल के अतिरिक्त सामाजिक यथार्थ को अपनी कहानी का मुख्य विषय बनाने वाले कहानीकारों में रांगेय राघव, भगवती चरण वर्मा, विष्णु प्रभाकर, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, अमृतलाल नागर, अमृतराय, राहुल सांकृत्यायन का नाम प्रमुख है।

रांगेय राघव (1923-1963 ई०) साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित कथाकार हैं। मधुरेश के अनुसार "उनकी कहानियों का संसार मुक्तिबोध की कविताओं के अँधेरे और बर्बर संसार से काफी समानता रखता है। बंगाल का अकाल, देश विभाजन, साम्प्रदायिक विद्वेष, मजदूरों की देशव्यापी हड़तालें, गोलीकाण्ड, बेरोजगारी और भुखमरी - इन सारी चीजों को मिलाकर ही उनकी कहानियों की दुनिया बनती है।"[19] 'गदल', 'पंचपरमेश्वर', 'मृग तृष्णा', 'कुत्ते की दुम और शैतान', 'आवाज़ घुटने लगी' उनकी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

राहुल सांकृत्यायन (1893-1963) की कहानियों पर भी साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव है। 'सतमी के बच्चे', 'वोल्गा से गंगा', 'कनैला की कथा' आदि उनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं। 'वोल्गा से गंगा' में उन्होंने छोटी-छोटी कहानियों के माध्यम से मानव जीवन और सभ्यता के विकास की कहानी आदिम युग से आज तक की कही है।

विष्णु प्रभाकर (1912) ने सामाजिक जीवन को आधार बनाकर अपनी कहानियाँ लिखी हैं। 'कितना झूठ', 'सुराज', 'चाची', 'मारिया', 'धरती अब भी घूम रही है', 'कितने जेबकतरे', 'ठेका' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

प्रेमचंदोत्तर युग में साम्यवादी और मनोविश्लेषणवादी धाराओं से प्रभावित कहानीकारों के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से लिखने वाले कुछ अन्य कहानीकार भी सक्रिय थे जिन्होंने अपनी विशिष्ट भावसंवेदना और शैली के अनुरूप कहानियाँ लिखीं। इन कहानीकारों में

प्रभाकर माचवे, निराला, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र निर्गुण, देवेन्द्र सत्यार्थी, हरिशंकर परसाई, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उषादेवी मित्रा, होमवती देवी, आरसी प्रसाद आदि का नाम उल्लेखनीय है।

नई कहानी (1950)

सन् 1954 में 'कहानी' पत्रिका का पुर्नप्रकाशन हुआ जिसमें प्रकाशित कहानियाँ परम्परागत कहानियों से भिन्न थीं। संवेदना और शिल्प दोनों ही स्तरों पर। इन्हीं कहानियों के लिए नई कहानी नाम चल पड़ा। 'नई कहानी' में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारत का परिदृश्य अंकित है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश का तेजी से औद्योगीकरण होता है, जिससे गाँव से शहर की ओर लोगों का पलायन होता है। इसके कारण एक ओर जहाँ संयुक्त परिवार टूटने लगते हैं वहीं शहरों में भीड़ बढ़ने लगती है। इससे व्यक्ति अपने को अकेला और संत्रस्त महसूस करने लगता है। वहीं दूसरी ओर राजनीतिक स्तर पर बढ़ते भ्रष्टाचार ने मूल्यविहीनता की भी स्थिति पैदा की। लोगों का विकास के सपनों से मोहभंग होना शुरू होता है। इस काल में टूटते हुए संयुक्त परिवार, शहर में बढ़ती भीड़, असुरक्षा की भावना, बेरोजगारी, मूल्यहीनता आदि कुछ ऐसे कारण थे जिसने आधुनिक व्यक्ति को गहराई तक प्रभावित किया। नई कहानी कस्बे, शहर में जी रहे इसी आदमी की पीड़ा की कहानी है।

नई कहानी में जटिल जीवन यथार्थ की व्यापक स्वीकृति है। यह यथार्थ को उसकी पूरी जटिलता और समग्रता में व्यक्त करता है। इस विषय में कमलेश्वर 'मांस का दरिया' की भूमिका में लिखते हैं – "नयी कहानी आग्रहों की कहानी नहीं है, प्रवृत्तियों की हो सकती है और उसका मूल स्रोत है – जीवन का यथार्थ बोध। और इस यथार्थ को लेकर चलने वाला वह विराट मध्य और निम्न मध्यवर्ग है, जो अपनी जीवन-शक्ति से आज के दुर्दान्त संकट को जाने-अनजाने झेल रहा है। उसका केन्द्रीय पात्र है (अपने विविध रूपों और परिवेशों में) जीवन को वहन करने वाला व्यक्ति।"[20]

नई कहानी में मध्यवर्गीय जीवन चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है। इसमें अनुभूति की प्रामाणिकता पर बहुत बल दिया गया है। यही कारण है कि नया कहानीकार

विशुद्ध अनुभूति की सच्चाई के आधार पर कहानी प्रस्तुत करता है। भोगे हुए यथार्थ से जुड़ा होने के कारण ही नयी कहानी प्रभावशाली बन सकी है।

नई कहानी में वर्णन की जगह चित्रात्मकता मिलती है। इसकी भाषा बिंबों और प्रतीकों को लेकर चलती है। सांकेतिकता नई कहानी का प्राण है। इस विषय में डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं - "(नई कहानी में) सांकेतिकता वस्तु और शिल्प दोनों में आयी है। यह सांकेतिकता जीवन के जटिल और बोध के सूक्ष्म होने का सहज परिणाम है। आज कहानी का शीर्षक, उसमें संयोजित संदर्भ और उसकी केन्द्रीय प्रवृत्ति को सार्थकता प्रदान करने वाले अन्य सभी तत्व सांकेतिक हो गये हैं। सांकेतिकता 'नयी कहानी' के कथ्य की माँग है।"[21]

विश्वनाथ त्रिपाठी नई कहानी के शिल्प की विशेषता को रेखांकित करते हुए कहते हैं - "नई कहानी में कथा-तत्व का ह्रास हुआ है। इसकी क्षतिपूर्ति प्रधानतः नाटकीयता, सादृश्य-विधान, प्रतीकात्मकता एवं बिंब-विधान से हुई है। नई कहानी में पूर्व-दीप्ति, चेतना-प्रवाह आदि शैलीगत प्रयोग उचित मात्रा में मिलते हैं।"[22] नये कहानीकारों ने आधुनिक जीवन के संत्रास, संबंधों की टूटन, अकेलेपन आदि को प्रायः संकेतों और प्रतीकों द्वारा ही अभिव्यक्त किया है।

नई कहानी में मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव महानगरीय जीवन के तनावों को अभिव्यक्त करने वाले कथाकार हैं तो कमश्लेवर कस्बाई जीवन के यथार्थ को चित्रित करने वाले कथाकार। रेणु, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में स्वतंत्रता बाद के अंचल विशेष एवं गाँव का यथार्थ अभिव्यक्त हुआ है। इस दौर में कई महिला कथाकारों ने भी आधुनिक जीवन के यथार्थ को अपनी कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्ति दी। इनमें उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, शिवानी आदि का नाम प्रमुख है। इन्होंने टूटते हुए संयुक्त परिवारों, स्त्री-पुरुष के जटिल होते संबंधों को प्रमुखता से अपनी कहानियों में अभिव्यक्त किया है। नई कहानी दौर के अन्य प्रमुख कथाकारों में अमरकांत, शेखर जोशी, शानी, कृष्णबलदेव वैद, हरिशंकर परसाई, धर्मवीर भारती, शैलेश मटियानी आदि भी हैं।

मोहन राकेश ने स्त्री-पुरुष संबंधों के तनाव को लेकर बड़ी संख्या में कहानियाँ लिखी हैं। महानगरीय जीवन का संत्रास भी उनकी कहानियों में प्रमुखता से अभिव्यंजित हुआ है। कुछ कहानियाँ विभाजन की पृष्ठभूमि पर भी हैं। डॉ० रामचन्द्र तिवारी मोहन राकेश के विषय में लिखते हैं - "महानगरीय जिंदगी की यांत्रिकता और उसके दबाव से व्यक्ति के अकेले पड़ते जाने की मानसिकता का चित्रण मोहन राकेश ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है। इसी स्तर पर आपकी कहानियाँ आधुनिकताबोध की कहानियाँ मानी गयी हैं।"[23] 'ग्लास टैंक', 'खाली', 'मिसपाल', 'मलबे का मालिक', 'परमात्मा का कुत्ता' उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

राजेन्द्र यादव मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ को चित्रित करने वाले कहानीकार हैं। इन्होंने भी अपने समकालीनों की तरह स्त्री-पुरुष के तनावपूर्ण संबंधों को लेकर कई सारी कहानियाँ लिखी हैं। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'टूटना', 'बिरादरी बाहर', 'खेल खिलौने', 'साइकिल' इनकी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

कमलेश्वर की कहानियों में कस्बाई जीवन का यथार्थ प्रकट हुआ है। इनके पात्र निम्न-मध्यवर्ग के वह युवा हैं जो रोजगार की तलाश में भटक रहे हैं। इनकी कुछ कहानियाँ महानगरीय जीवन के विद्रूप को चित्रित करती हैं। 'राजा निरबंसिया', 'खोई हुई दिशाएं', 'मांस का दरिया', 'दिल्ली में एक मौत', 'एक थी विमला' इनकी चर्चित कहानियाँ हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु (1921-1977) नई कहानी के लेखकों में आंचलिक जीवन की सशक्त अभिव्यक्ति करने के कारण अलग से पहचाने जाते हैं। रेणु ने अपनी कहानियों में भारतीय गांवों के उत्सवधर्मी स्वरूप को चित्रित किया है। उनकी कहानियाँ ग्राम अंचल के जीवन को एक रोमानी भाव बोध से देखती हैं। "इंद्रियबोध, लोक-कथा, लोक धुनें रेणु की कहानियों के विशिष्ट उपादान हैं।"[24] 'तीसरी कसम उफ मारे गये गुलफाम', 'रसप्रिया', 'ठुमरी', 'अग्निखोर', 'आदिम रात्रि की महक' रेणु की चर्चित कहानियाँ हैं।

उषा प्रियंवदा की कहानियाँ स्त्री की सामाजिक स्थिति, प्रेम संबंधी समस्याओं आदि को चित्रित करती हैं। इस दृष्टि से 'सागर पार का संगीत', 'टूटे हुए', 'कितना बड़ा झूठ', 'संबंध' आदि कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। 'वापसी' कहानी संयुक्त परिवार की समस्या को लेकर लिखी गई एक चर्चित कहानी है।

मन्नू भण्डारी की कहानियों का विषय विविधता लिए हुए है। इन्होंने आधुनिक नारी के अन्तर्द्वन्द्व, उसकी संघर्षशील छवि, एवं नारी की सामाजिक स्थिति को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया है। 'यही सच है' उनकी विशेष चर्चित कहानी है। इस विषय में डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं – "मन्नू भण्डारी को नयी कहानी के दौर में ही 'यही सच है' कहानी के प्रकाशन के साथ विशेष ख्याति मिली थी। आपने बदले हुए परिवेश में संस्कार और आधुनिकता के बीच उलझे हुए नारी-मन के द्वन्द्व को बड़ी ईमानदारी से चित्रित किया है।"[25] 'मैं हार गई', 'दीवार', 'तीन निगाहों की एक तस्वीर', 'क्षय', 'रानी माँ का चबूतरा', 'एक बार और' आदि इनकी अन्य उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

संक्षेप में नई कहानी में घटनात्मकता की जगह संवेदना को प्रमुखता दी गयी। इसमें मध्यवर्गीय जीवन की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। सूक्ष्मता, बिंबों, प्रतीकों और सांकेतिकता के द्वारा कहानी के शिल्प को नया आयाम दिया गया।

(ii) निर्मल की कहानियाँ : संवेदना

निर्मल वर्मा ने अपनी कहानियों में अभाव, प्रेम, मृत्यु, अतृप्ति, अकेलेपन को मुख्य विषय-वस्तु बनाया है। अभाव, प्रेम, मृत्यु, स्मृति, अतृप्ति, अकेलापन ये सारे प्रसंग मनुष्य के जीवन में केन्द्रीय अर्थ रखते हैं। यह जीवन के वे शाश्वत प्रश्न हैं, जिनसे कोई भी सजग रचनाकार बच कर नहीं चल सकता। ये सवाल उसे जरूर बेचैन करेंगे। शिमला की उदास दुपहरियों और लंदन, प्राग, विएना, दिल्ली की सड़कों पर अकेले भटकते हुए निर्मल ने इस बेचैनी को भीतर तक महसूस किया है। भीतर की इसी बेचैनी से उनकी कहानियों का सृजन हुआ है। वह अपनी कहानियों में प्रेम, मृत्यु, स्मृति, अवसाद, अकेलेपन आदि के

संदर्भों को इतनी करुणा, गहराई और संवेदनशीलता से उकेरते हैं कि पाठक सहज ही उनसे अपना अंतरंग स्थापित कर लेता है। कथा और पाठक के बीच कोई द्वैत नहीं रह जाता। इसी बिन्दु पर निर्मल अपने समकालीन कहानीकारों से अलग हो जाते हैं और हिन्दी कहानी में अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाते हैं।

निर्मल वर्मा की कहानियों में स्मृति

निर्मल वर्मा की कहानियाँ स्मृति धर्मी हैं बहुत कुछ अपनी संगीत धर्मिता की तरह। स्मृति को उनकी कहानियों का प्राण तत्व कहा जा सकता है। कथा की संवेदना चाहे कैसी भी हो – अकेलापन, आत्मनिर्वासन, रिश्तों की दरार, बेरोजगारी या फिर मृत्युबोध – उस पर स्मृति की छाया जरूर दिखायी देगी। प्रायः चरित्रों और कथानक का विकास स्मृति के सहारे ही होता है। यहाँ तक कि परिवेश के निर्माण में भी स्मृति की अहम भूमिका है। वह देश–काल तक को भी स्मृति से अनुरंजित करके देखते हैं। यही कारण है कि उनके यहाँ वर्तमान भी स्मृति में रूपांतरित हो जाता है। निर्मल वर्मा के कथा साहित्य में स्मृति की इस बहुआयामी भूमिका को लक्ष्य कर नामवर सिंह कहते हैं – "उनकी कहानियों के बारे में बात करनी हो तो उसका एक सूत्र है – स्मृति। उनके वाचन का बीज स्मृति में है। उनकी सभी कहानियों का एक ही शीर्षक हो सकता है – 'बीते हुए की स्मृति'। रिमेम्बरेन्स ऑफ थिंग्स पास्ट। यह निर्मल की एकदम अपनी विशिष्टता है, और हिन्दी में कोई ऐसा नहीं कर पाया है।"[26]

निर्मल ने अपनी कहानियों की रचना–प्रक्रिया में अनुभव से भी अधिक महत्व स्मृति को दिया है। जैसा कि वह कहते भी हैं – "...इसलिए महत्वपूर्ण मेरे लिए अनुभव नहीं, स्मृति का वह झरोखा है जिससे गुजरकर वे कहानियाँ बनते हैं। हर रचना एक तरह से सिंहावलोकन है। 'हवा' में उड़ते, आस पास मँडराते अनुभव–खण्डों में किसको पकड़ पाता हूँ, किसको जानबूझकर छोड़ देता हूँ, किसको सहज गुजर जाने देता हूँ, यह महज संयोग पर निर्भर नहीं करता, न ही यह मेरी कलात्मक दक्षता या, चालाक पकड़ पर निर्भर करता है, बल्कि जब तक उन अनुभव खण्डों को मेरे भीतर का जादू–मन्त्र, शून्य पर गड़े

स्मृति-संकेत अपने पास नहीं बुलाते, मैं उनका कोई फायदा नहीं उठा सकता। उनकी कभी कोई कहानी नहीं बनती।"[27]

निर्मल वर्मा की कथा में अकेलेपन और आत्मनिर्वासन के दंश को प्रशमित करने में स्मृति बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। स्मृति ही उनके चरित्रों को अपने अकेलेपन से मुक्ति के लिए प्रेरित करती है। स्मृति द्वारा पात्र 'अन्य' को अपने भीतर अनुभव करता है। स्मृति कथा-नायक के 'आत्म' की खोज है। खोए हुए समय की तलाश है। स्मृति दो अस्तित्व, दो स्थितियों के बीच के दरार को पाटने की अकुलाहट की मार्मिक अभिव्यक्ति है। उदाहरण के लिए 'बीच बहस में' कहानी को लिया जा सकता है। कहानी में पिता-पुत्र के बीच संबंध बहुत तनावपूर्ण हो चले हैं। कहानी में एक दृश्य आता है - बीमार पिता को पुत्र गीता पढ़कर सुना रहा है। इतने में पिता बेटे को टोककर कहता है - "जब तुम छोटे थे, तो भी इसी ढंग से पढ़ते थे, तुम्हें सुनते हुए मैं सोच रहा था कि तुम दो बच्चों के बाप बन गए, लेकिन तुम्हारे पढ़ने के ढंग में रत्ती-भर फर्क नहीं आया।"[28] पिता के इस उलाहने और खीझ में आत्मीयता छलक रही है, तो स्मृति के कारण ही। स्मृति का एक महीन सा धागा बाप-बेटे के बीच तनावपूर्ण क्षणों को हल्का कर रहा है। स्मृति द्वारा समय और संबंधों के अंतराल को पाटने की कोशिश और भी बहुत सी कहानियों में मिलती है। 'पिता और प्रेमी' कहानी में दो प्रेमी बरसों बाद मिलते हैं। दोनों पार्क में एक बेंच पर बैठे हैं। लड़का लड़की के स्वेटर को देखकर कहता है - "तुम्हें अब भी हरा रंग बहुत पंसद है? लड़की ने अपने स्वेटर की ओर देखा, बीच का अन्तराल एक छोटी-सी मुस्कुराहट में सिमट आया।"[29]

स्मृति अपने ही भीतर से गुजर जाने की बात है। भीतर, जहाँ अपना खोया हुआ समय ठहरा है। निर्मल वर्मा स्मृति के विषय में कहते हैं - "स्मृति में विगत को जागृत करना एक प्रकार से अपने भीतर उस खोए हुए समय को पुनः प्राप्त करना है, जो हर कहानी या कविता का अभीष्ट होता है।"[30] खोए हुए समय को पाने की यह चाहत उनकी कहानियों में शिद्दत से दर्ज है। जैसे कि 'लवर्स' कहानी में प्यार में ठुकराया गया प्रेमी

सड़कों पर भटकता हुआ अपनी प्रेमिका के साथ बिताये आत्मीय क्षणों को याद करता है। वह सोचता है - "उस दिन हम दोनों हुमायूँ के मकबरे गए थे। वहाँ वह नंगे पाँव घास पर चली थी। मुझे नंगे पाँव घास पर चलना अच्छा लगता है - उसने कहा था। मैंने उसकी चप्पलें हाथ में पकड़ रखी थीं।"[31] उस दिन प्रेमिका के साथ घास पर चलते हुए प्रेमी के चश्में पर धूल जमा हो गई थी। पर वह उसे अपने रूमाल से साफ नहीं कर पाता क्योंकि रूमाल में लड़की ने अपनी चप्पले बाँध रखी थीं। तब वह लड़की की साड़ी के पल्ले से अपना चश्मा साफ करता है - "तब मैंने उसकी उन्नाबी साड़ी के पल्ले से अपनी ऐनक के शीशे साफ किए थे।"[32] प्रेमिका के साहचर्य के इस दुर्लभ पल की स्मृति अन्ततः कहानी में अवसाद की सृष्टि करती है। यह लड़के का अतीत है। वर्तमान में शून्य का सन्नाटा पसरा हुआ है। इस तरह के प्रसंग पात्रों की भटकन की ओर हमारा ध्यान बरबस ही खींच लेते हैं। निर्मल वर्मा के पात्रों में हम एक अजीब तरह का भटकाव देखते हैं। वे अपने में खोये-खोये से रहते हैं। मानों अपने भीतर किसी भूली-भटकी स्मृति को ढूंढ रहे हों। वर्तमान के तीखे दंश से गुजरते हुए वह बार-बार अपने कल की ओर भागते हैं। वे बड़ी तेजी से एक दृश्य से दूसरे दृश्य में छलांग लगाते हैं। पर अन्त में हाथ लगता है उन्हें क्रूर वर्तमान, जो यातना, पीड़ा और अलगाव लिए हुए है।

'एक दिन का मेहमान' कहानी में आदमी विदेश में रह रही अपनी पत्नी के पास जाता है। जहाँ उसकी एक बेटी भी रहती है। आदमी के पत्नी से संबंध बिखराव के दौर में है। आदमी उन संबंधों को जोड़ना चाहता है। पर उसे नाकामी ही हाथ लगती है। ऐसे में एक दिन वह पत्नी के घर बैठा अपने पुराने दिनों की सुखद स्मृतियों को याद करता है। उन दिनों को जब वह एक साथ उस घर में रहते थें - "उसे लगा, वह अपने घर में बैठा है और जो कभी बरसों पहले होता था, वह अब हो रहा है। वह शॉवर के नीचे गुनगुनाती रहती थी और जब वह बालों पर तौलिया साफे की तरह बाँधकर बाहर निकलती थी, तब पानी की बूँदे बाथरूम से लेकर उसके कमरे तक एक लकीर बनाती जाती थीं - पता नहीं वह लकीर कहाँ बीच में सूख गयी? कौन-सी जगह, किस खास मोड़ पर वह चीज हाथ से छूट गयी, जिसे वह कभी दोबारा नहीं पकड़ सका?"[33]

निर्मल की कहानी के पात्र अन्त तक इसी सवाल से टकराते रहते हैं कि आखिर वह प्यार, आत्मीयता की वह लकीर कब, कहाँ हाथ से छूट गयी जिसे वह दोबारा नहीं पकड़ सके। यह सवाल उन्हें इतना बेधता है कि अन्ततः उन्हें आत्महत्या की ओर ले जाता है। 'सुबह की सैर' के कर्नल निहालचन्द्र अपने अकेलेपन में भटकते हुए इन्हीं सवालों से टकराते हैं और अन्त में आत्महत्या कर लेते हैं। वह भी अपने बीते दिनों को दोबारा नहीं पकड़ पाते।

'जिंदगी यहाँ और वहाँ' कहानी में एक लड़की अपने प्रेमी को छोड़कर दूसरे शहर चली जाती है। जाने से पहले वह अपने घर के सामने लड़के से बतिया रही होती है। बातों-बातों में लड़का उसे उसके प्यार के नाम से पुकारता है। लड़की लड़के की इस आवाज़ को फिर से सुनना चाहती है क्योंकि उसे पता है यह आवाज़ अब सिर्फ स्मृति में ही गूँजेगी - "फैटी, तुम्हें याद है?" 'क्या बिट्टी?' कभी-कभी वह उसे बहुत प्यार में बिट्टी कहा करता था - एक निस्सहाय-सी बच्ची, जो उसका हाथ पकड़कर दिल्ली की सड़के लाँघा करती थी। --- 'एक बार और कहो'... उसने कहा।

'क्या?'

'जो अभी कहा था।'

'बिट्टी'।"[34]

इस कहानी में लड़की के अपना शहर छोड़ देने के बरसों बाद लड़का जब उसके घर के सामने से गुजरता है तो बीते दिनों की यादें उसे एक पल के लिए वहीं रोक लेती हैं और वह देखता है -

"वही हवा में झूमते युक्लिप्टस के पेड़, नींबू की झाड़ी, लॉन के ऊपर उसका कमरा... वह प्रतीक्षा करता, अब वह आयी होगी, कमरे की बत्ती जलायी होगी, कोई रेकॉर्ड लगाकर बिस्तर पर लेट गयी होगी - एक अलौकिक-सी आवाज़ ईंटों की दीवार से, काँच

के टुकड़ों पर फिसलती, छिलती हुई उसके पास आती थी, उससे लिपट जाती थी, धीरे से फुसफुसाती थी, 'फैटी, मैं यहाँ हूँ-यहाँ - मैं यहाँ हूँ।"[35]

'मैं यहाँ हूँ' की अनुगूँज लड़के को और अकेला कर जाती है। इस कहानी का पात्र भी अपने खोये हुए समय को पुनः पाने की कोशिश करता है। यह जानते हुए भी कि अब होना कुछ नहीं है।

निर्मल वर्मा की कहानियों में आत्म निर्वासन के क्षणों में 'स्मृति' ही कथा-नायक का एकमात्र अवलम्ब बनती है। यही कारण है कि निर्मल के यहाँ स्मृति प्रायः 'घर' के अर्थ में चित्रित हुई है। घर यानी अपनापन। जिसमें उनकी 'अस्मिता' है। जहाँ आदमी टिककर रहता है। वहाँ खानाबदोशी नहीं है। जैसाकि निर्मल वर्मा की कहानी 'धूप का एक टुकड़ा' की कथावाचक कहती भी है - "नाम वहीं लिखे जाते हैं, जहाँ आदमी टिककर रहे - तभी घरों के नाम होते हैं।"[36] और वर्तमान जो कि 'मकान' है, उनकी कहानी में अजनबीपन, परायेपन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह एक ऐसा वर्तमान है जहाँ कथा-नायक अपने 'आत्म' को, 'अपनों' को खो बैठा है। जैसे - 'परिंदे' में, 'दो घर' में, 'जिंदगी यहाँ और वहाँ' में, 'वीकएंड' में आदि। मलयज के अनुसार "इन कहानियों के पात्रों का कोई घर नहीं है, 'कोई आत्मीय जगह' जो बचपन में घर की रसोई हुआ करती थी, कोई आत्मीय बिस्तर, कोई जगह जहाँ जाया जा सके सिर्फ लौटा नहीं।"[37]

निर्मल की कहानियों में 'घर' की अनुपस्थिति इतनी अधिक है कि पात्र घर का जिक्र आने पर चौंक उठते हैं -

'दो घर' कहानी में देखिए -

"'आप घर क्यों नहीं लौट जाते?

....

'घर...'

उन्होंने भयभीत दृष्टि से मेरी ओर देखा, "कौन-सा घर।"[38]

पात्रों के पास 'घर' के नाम पर सिर्फ 'मकान' है एक पराया मकान। यह मकान दूसरे अर्थों में क्रूर वर्तमान है। मलयज लिखते हैं - "यह 'वर्तमान' निर्मल वर्मा के लिए एक 'मकान' है, एक ऐसा मकान जिसमें कोई प्राइवेसी नहीं, अँधेरे व्यक्तिगत कोनों का कोई रहस्य नहीं है, जिसके आस-पास स्मृतियाँ नहीं जुड़ी हैं। स्मृति पर जो इतना जोर निर्मल वर्मा देते हैं वह इसीलिए - 'मकान' को 'घर' बनाने के लिए।"[39]

वर्तमान के अलगाव, अजनबीपन में जी रहे पात्रों को घर की स्मृति कैसे बेधती है। इसका एक मार्मिक उदाहरण 'जाले' कहानी में मिलता है। इस कहानी की एक पात्र 'छोटी' अपने भाई के घर को देखकर बीते दिनों को याद करती है, जब वह उस घर में अपने, माँ, बाप, भाई, बहनों के संग रहती थी। इस घर में अब पहले जैसी चहलकदमी नहीं रह गयी है। वहाँ केवल मृतात्माओं की छायाएँ डोलती हैं। माँ, बाप की मृत्यु हो चुकी है। उतने बड़े घर में भाई अकेला रहता है। उसकी पत्नी की भी मृत्यु हो चुकी है। बहनें अलग-अलग शहरों में रहती हैं, उनकी भी जिंदगी बिखरी हुई है। इस सूने से 'घर' को जो अब 'मकान' में तब्दील हो चुका है, देख छोटी की आँखों के सामने बचपन के दिन घूम जाते हैं - "बँगले की चिमनी से काले धुएँ की लकीर ऊपर उठ रही थी जैसे कभी दूसरे समय की सर्दियों में देखा करते थे जब बाबू अपने कमरे की फ़ायर प्लेस में लकड़ियाँ जलाते थे... पेड़ों की सूखी टहनियाँ... जिन्हें बूढ़ा माली बाग़ से बटोरकर लाया करता था और एक सोंधी-सी गन्ध हवा में तिरती हुई सारे घर में, घर के बाहर, बरामदे को पार करती हुई लॉन के उस कोने तक चली आती थी, जहाँ वे खेल रहे होते थे और वे अचानक अपना खेल छोड़कर छत को देखने लगते थे, जैसे कोई काला साँप सिरसिराता हुआ चिमनी के बाहर आ रहा है और वे सबकुछ भूलकर घर की तरफ़ भागने लगते थे, इस हड़बड़ी में, कौन बाबू के पास अँगीठी के सामने सबसे पहले पहुंचता है और तब देखते थे, भैया वहाँ पहले से ही बैठे हैं, माँ ने उन्हें गुँधे हुए आटे की गोलियाँ दी हैं, जिन्हें वे हथेली पर फैलाकर अंगीठी की खिड़की पर चिपका देते हैं।"[40] इस दृश्य को याद कर कहानी की एक पात्र घर के उस हिस्से की ओर तेजी से लपकती है। पर अफसोस अब वहाँ कुछ भी नहीं है। सिवाए हवा में झूलते 'जाले' के।

निर्मल की कहानियाँ बीते हुए दिनों की यादे हैं। कहानी का प्रारम्भ ही बीते दिनों के स्मरण से होता है। उदाहरण के लिए देखें –

"उन्हीं दिनों बिट्टो आई थीं। हमें ऐसा लगा था मानो वर्षों से वह हमारे संग रहती आई हों।"[41] (डायरी का खेल)

"बीच की तीन पगडंडियों को पार करके बानो आती थी।"[42] (अंधेरे में)

"मैं उससे सेण्ट मार्क के स्कॉयर में मिला था। स्कॉयर में भी नहीं, उसके ज़रा पीछे, पुल के पास, जहाँ गँदोले खड़े रहते हैं।"[43] (पराये शहर में)

"बहुत पहले मैं एक लड़की को जानता था। वह दिन-भर पार्क में खेलती थी।"[44] (दूसरी दुनिया)

इसके अलावा भी कहानी के बीच-बीच में कुछ ऐसे वाक्य आते रहते हैं जो पाठक को यह अहसास कराते हैं यह कहानी स्मृति की ही है। यथा –

"वह अलग समय था। मैं शुरू गर्मियों में उससे मिली थी।"[45] (वीकएंड)

"उस रात रह-रहकर नींद टूट जाती थी।"[46] (डायरी का खेल)

"आज भी वह शाम नहीं भूला हूँ... उस रात के बाद नीरजा से कई बार मिलना हुआ था।"[47] (तीसरा गवाह)

"वह शुरू दिसम्बर की शाम थी और हम हुमायूँ के मकबरे के पीछे छोटे टैरेस पर बैठे थे।"[48] (लवर्स)

"वह शुरू अगस्त की एक रात थी। वे मुझे गली के एक गँदले, खामोश कोने में छोड़ गए थे।"[49] (लंदन की एक रात)

निर्मल की अधिकतर कहानियाँ भूतकाल की शैली में लिखी गयी हैं। जिनमें कथानक का विकास ही स्मृति के सहारे होता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान काल में चल रही कहानी को भी स्मृति के द्वारा गति मिलती है। इन कहानियों में स्मृति से जुड़े प्रसंग बार-बार आते हैं। 'खोज' कहानी में एक लड़की अपने भाई के घर आती है। भाई की

कुछ दिनों पहले मृत्यु हो चुकी है। उस घर में लड़की अपनी छोटी बहन के साथ भाई की स्मृतियों को ताजा करती है। कहानी के बीच-बीच में इस तरह के संवाद आते हैं -

"वह अपलक दीवार की ओर देख रही थी। 'याद है, इस कोने में आइकोन रहता था... न जाने पुतुल को वह इतना क्यों पसन्द था।"[50]

"उस कोने में मेरी अलमारी थी" --- और प्लूटार्ख की नाइन ग्रीक लाइव्ज... पुतुल की एक जेब में बोतल रहती थी, दूसरे में प्लूटार्ख की किताब...।"[51]

दोनों बहनों के बीच के यह संवाद भाई पुतुल की स्मृतियों को जीवंत करते हैं।

'धूप का एक टुकड़ा' में नैरेटर एक पार्क में किसी अज्ञात व्यक्ति को सम्बोधित कर अपनी रामकहानी सुना रही है। पूरी कथा एकालाप शैली में चल रही है। नैरेटर पार्क के आस-पास की गतिविधियों को बयान करने के साथ-साथ अपने बारे में भी बताती चलती है। ऐसे ही एक दृश्य में पार्क के पास वाले गिरजाघर के सामने कुछ सिपाहियों को खड़ा देखकर वह अपने विवाह के दिन को याद करती है। वह कहती है - "जी हाँ, 'मेरा विवाह भी इसी गिरजे में हुआ था। लेकिन यह मुद्दत पहले की बात है। तब सड़क इतनी चौड़ी नहीं थी कि घोड़ा-गाड़ी सीधे गिरजे के दरवाजे पर आकर ठहर सके। हमें उसे गली के पिछवाड़े रोक देना पड़ा था... और मैं अपने पिता के साथ पैदल चलकर यहाँ तक आयी थी।"[52]

'कव्वे और काला पानी' कहानी में दो भाइयों की मुद्दतों बाद मुलाकात होती है। दोनों भाइयों के बीच जो संवाद होते हैं, उन पर स्मृति की छाया है। इन संवादों के सहारे कथा आगे बढ़ती है -

"जानते हो, जब बाबू ने वह मकान खरीदा था, तुम एम०ए० का फाइनल कर रहे थे, उन दिनों उस इलाके में बिजली नहीं आयी थी और तुम ऊपर बरसाती में लालटेन जलाकर पढ़ते थे।"

'जी, याद है।'

'तुम्हारा विवाह नीचे के आँगन में हुआ था।'"[53]

निर्मल वर्तमान के अनुभवों को भी स्मृति में रंगकर प्रस्तुत करते हैं। वर्तमान में घट रहा कोई भी प्रसंग हो वहाँ किसी न किसी रूप में स्मृति आ ही जाती है। उदाहरण के लिए 'उनके कमरे' कहानी देखिए। इस कहानी में एक लड़का और लड़की शहर की सड़कों पर यूं ही घूमते रहते हैं। एक दिन वे दोनों परदे और कालीन की एक दुकान के सामने से गुजरते हैं। लड़की लड़के को एक परदा दिखाकर पूछती है - 'कैसा लगता है तुम्हें?...' लड़के ने कहा काफी गहरा रंग है। इस पर लड़की कहती है अगर इसके साथ फर्श पर सुर्ख रंग का कालीन हो तो अच्छा लगेगा। कालीन की बात सुनकर उसे एक पुराना कमरा याद आ जाता है। उस कमरे में -

"खिड़की के सामने पियानो रहता था और उसके ऊपर एक बहुत पुरानी फोटो एलबम पड़ी रहती थी, जिसके हाशिए पर बेल-बूटे जड़े रहते थे।"[54]

'पिता और प्रेमी' कहानी का नायक जब अपनी पुरानी प्रेमिका को देखता है तो उसे उसके चेहरे पर वही पुरानी छवि ही दिखती है - "चेहरा वैसा ही था जैसा उसे याद था। भूरे, झूलते हुए बाल, चौड़ा माथा, पूरी बाँहों का हरा स्वेटर... सिर्फ आँखे कुछ कम बेचैन थीं, कुछ ज्यादा ही आश्वस्त, जैसे समय ने उन्हें थिर कर दिया हो।"[55]

'वीकएंड' की नायिका वर्तमान को भी स्मृति में अनुभव करने लगती है। वह एक दिन प्रेमी के साथ उसके कमरे में है। सुबह होने पर उसकी आँखे खिड़की के बाहर के दिन को देखती है और वह सोचती है - "खिड़की के बाहर दिन था, मैली बदली का दिन। तीन लम्बे पेड़ पिछली रात वे हवा में झूम रहे थे। अब ठहरे थे। नंगी टहनियाँ जैसे - काले कार्बन से उतरकर बिल्कुल साफ कागज पर उतर आई थीं - यह मैं याद रखूँगी, ये चिनार के पेड़, यह सुबह का भूरा आलोक, उसने सोचा।"[56]

स्मृति को लेकर निर्मल के मन में इतना अधिक आकर्षण है कि वह भविष्य को भी स्मृति में बदलता हुआ देख लेते हैं। 'एक शुरूआत' कहानी का कथावाचक स्टीमर से

लंदन से प्राग जा रहा है। स्टीमर के डेक पर बैठा वह सोचता है – "स्टेंड के परे हम, स्टीमर के सब यात्री, यूरोप के अलग-अलग सुदूर कोनों में खो जाएंगे। उनके संग बहुत कुछ खो जाएगा – चैनल की यह शाम, समुद्र की अबाध, रहस्यमय शून्यता, उनकी निस्पन्द आँखों का मौन।"[57]

वर्तमान और भविष्य के प्रति भी स्मृति की यह आसक्ति देखकर हम यह नहीं कह सकते कि निर्मल की कहानियाँ पूरी तरह स्मृति निर्भर हैं। उनकी कथा में स्मृति से वर्तमान की टकराहट भी है। स्मृति से काल का निर्मम संघात भी होता है। 'पिता और प्रेमी' कहानी का नायक सालों बाद जब अपनी पहली प्रेमिका से मिलता है तो उसे वह वैसी ही लगती है जैसी शुरू में थी। उसके मन में हूक सी उठती है कि वह उसे छूकर देखे क्या अब भी वही पुराने दिनों वाली प्यार की अनुभूति होती है। उसके देह की छुअन का वही जादू लौटकर आता है। पर तभी उसकी इस इच्छा को वर्तमान झटका देता है – प्रेमिका ने किसी दूसरे से शादी कर ली है। वह एक बच्चे की माँ है। प्रेमिका को उसके बच्चे के साथ देखकर वह अनुभव करता है – "लेकिन जो चीज लौटी, वह अक्तूबर की हवा थी, बच्चे की टोपी से खेलती हुई, जिस पर जामुनी रंग के छल्ले काढ़े गए थे।"[58]

वर्तमान का यह दंश उसे अवसाद से भर देता है।

निर्मल की कहानियों में स्मृति और विस्मृति का द्वन्द्व भी है। उनकी कथा के कुछ पात्र स्मृति निर्भरता पर व्यंग्य भी करते हैं। कुछ पात्र स्मृतियों की पीड़ा से मुक्त भी होना चाहते हैं। 'डायरी का खेल' की नायिका बिट्टो कथावाचक की स्मृतिशीलता को चुनौती देती हुई कहती है – "याद रहेगा? कौन? वह, जिसे तुमने इन दो महीनों में देखा है, या वह जिसे बहुत पहले फोटो में देखा था या फिर वर्षों बाद जब तुम बड़े हो जाओगे तो वह भी नहीं... निरा पागलपन... किसको याद रखोगे बब्बू?"[59]

'परिंदे' के डॉ० मुखर्जी की आवाज़ में काल मानो स्वयं व्यंग्य करते हुए लतिका से कहता है – "कभी-कभी मैं सोचता हूँ मिस लतिका, किसी चीज़ को न जानना यदि

गलत है, तो जान-बूझकर न भूल पाना, हमेशा जोंक की तरह उससे चिपटे रहना - यह भी गलत है।"[60]

यह सच है कि निर्मल की कहानियों में समय के अंतराल के साथ-साथ पात्र स्मृति से उत्पन्न भावुकता पर नियंत्रण भी कर लेते हैं फिर भी वे रहते अन्ततः स्मृतियों के घेरे में ही हैं। स्मृति का उन पर यह प्रभाव देखकर एक सवाल बार-बार उठ खड़ा होता है - 'क्या सचमुच काल के प्रवाह में स्मृति मिट जायेगी?'

'डायरी का खेल' के कथावाचक को वर्षों बाद भी बिट्टो की स्मृतियाँ अनुभव होती रहती हैं। वह कहता है - "लगता है, जैसे अभी पीछे मुड़ूँगा, तो कमरे के किसी अँधेरे कोने में उसी शाम की तरह बिट्टो मेरी चीजें उलट-पलटकर, इधर-उधर बिखेरते हुए हँसकर कहेंगी - 'कोई काम की चीज नहीं - सब अल्लम-गल्लम जमा कर रखा है - सब कबाड़ी का दे डालो।"[61] कथावाचक का यह सोचना फिर वही सवाल खड़ा करता है कि क्या सचमुच स्मृति से मुक्ति संभव है? निर्मल की कहानियों में इस सवाल की अनुगूँज बार-बार सुनायी देती है। 'परिंदे' कहानी में ही देखें। लतिका की स्मृतियों में प्रेमी गिरीश का चेहरा धुँधला पड़ता जा रहा है फिर भी वह उसकी यादों को कुरेदती है - "वह फिर जान-बूझकर उस घाव को कुरेदती है, जो भरता जा रहा है, खुद-ब-खुद उसकी कोशिशों के बावजूद भरता जा रहा है...।"[62] यह जानबूझकर घाव कुरेदना ही निर्मल वर्मा की कहानियों के पात्रों की नियति बन गयी लगती है। बहरहाल स्मृति से मुक्ति का सवाल निर्मल की कहानियों में अनुत्तरित ही रह जाता है।

निर्मल की कहानियों में प्रकृति भी स्मृति को जीवित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वह अपनी कहानियों में प्रकृति के दृश्यों, घटनाओं को तटस्थ रूप में नहीं चित्रित करते वरन् उनकी जीवंत उपस्थिति दिखाते हैं। उनकी कहानियों में प्रकृति, मौसम, भूगोल के विभिन्न रूप यथा पहाड़, बारिश, झड़ते हुए बर्फ, पुराना गिरजाघर और उसके भीतर उड़ते-गिरते पत्ते, पुरानी सड़कें और पुरानी गलियाँ सभी स्मृति के रंग में रंगे हुए हैं। निर्मल वर्मा का बचपन पहाड़ों पर बीता है। शिमला के बर्फ़, पहाड़, चीड़, देवदार,

गिरजाघर उनके संवेदन में रचे-बसे हैं। इसी तरह से उनकी स्मृति में प्राग, जर्मनी, लंदन, विएना आदि में बिताए गये दिनों की कई छवियाँ अंकित हैं। अपनी कहानियों में वह इन जगहों, मौसमों की बहुवर्णी स्मृतियों को रेखांकित करते हैं। प्रकृति और स्मृति का यह सघन कलात्मक रचाव उन्हें हिंदी कहानी का 'पंत' बनाता है। प्रकृति का ऐसा विरल रूप हिंदी कहानी में दुर्लभ है।

प्रकृति के दृश्यों में व्यक्ति अपने खोए हुए समय की तलाश करता है। एक तरह से वह उसके अकेलेपन की साथी होती है। 'परिंदे' की लतिका अपने अकेलेपन में भटकते हुए प्रकृति के दृश्यों और उसकी ध्वनियों को सम्मोहित सी देखा-सुना करती है। चीड़ के पत्ते खड़खड़ाते हैं, दूर से बहते झरने की आवाज़ आती है। आसमान में अल्मोड़ा की ओर से छोटे-छोटे बादल आते हुए दिखायी देते हैं। या फिर कंटोनमेंट जाने वाली पक्की सड़क से कुमाऊँ रेजीमेंट के सिपाहियों की लेफ्ट-राइट की आवाज़ें आती हैं। यह सब लतिका के मृत प्रेमी गिरीश की स्मृति जगाने लगाते हैं। वह देवदार के पेड़ को देखकर अपने प्यार के उन दिनों की याद करती है, जब उसने देवदार के पेड़ पर गिरीश का नाम लिखा था। उस दिन की यह स्मृति लतिका के अवसाद को घना कर देती है - "वही देवदार है, जिस पर उसने अपने बालों के क्लिप से गिरीश का नाम लिखा था। पेड़ की छाल उतरती नहीं थी, क्लिप टूट-टूट जाता था तब गिरीश ने अपने नाम के नीचे उसका नाम लिखा था। जब कोई अक्षर बिगड़कर टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता था तब वह हँसती थी, और गिरीश का काँपता हाथ और भी काँप जाता था...।"[63]

'माया दर्पण' कहानी की नायिका तरन एक बड़े से घर में अपने पिता और बुआ के साथ रहती है। इन दो प्राणियों के होते हुए भी वह अपने को अकेला महसूस करती है। उसकी जिंदगी में अजीब सा सूनापन भर गया है। उसका घर एक रेतीले इलाके में है। जहाँ चारों ओर बड़ी-बड़ी चट्टाने हैं। तरन अपने घर से रोज भूरी रेत को उड़ते हुए देखा करती है। वह उन्हें बरसों पहले लड़ाई के दिनों में भी देखा करती थी और आज भी देख रही

है। उड़ती हुई यह रेत ही मानो उसके अकेलेपन को बाँटती है। तरन अपने घर से दूर-दूर तक फैली रेतीली जमीन को देखकर सोचती है -

"सब कुछ कितना दूर और फिर वह भी कितना अपना था, तरन ने सोचा। कितने वर्षों से वह इन्हें देखती आई है। लड़ाई के दिनों में जब बैरक बनाए जा रहे थे और मिलिट्री ट्रकें गर्द उड़ाती हुई जब शहर से आती थीं, तब भी वह यहाँ थी, आज... बरसों बाद जब भीमकाय चट्टानों को तोड़कर नई सड़क खोदी जा रही है, बैरकों को ढ़ाया जा रहा है, यह भी वह सुबह-शाम कमरे की खिड़की से देखती आई है...।"[64]

'दूसरी दुनिया' कहानी का कथावाचक बेरोजगारी के दिनों में लंदन की सड़कों पर अकेला भटकता था। उन्हीं दिनों उसकी मुलाकात ग्रेता नाम की बच्ची से हुई। वह उसके संग शहर के एक पार्क में खेलता था। ग्रेता अपनी माँ के साथ लंदन में अकेले रहती थी। कथावाचक से उसकी मुलाकात के कई दिनों बाद उसके पिता उसे अपने साथ दूसरे शहर लेकर चले जाते हैं। एक दिन कथावाचक से उसकी माँ पार्क में मिलती है, तो वह बताती है ग्रेता को उसके पिता लेकर चले गए। कथावाचक ग्रेता को याद करता है। उन दिनों को, जब वह उसके साथ पार्क में पेड़ों के इर्द-गिर्द तरह-तरह के खेल खेलती थी। वह पार्क के पेड़ों को निहारता है। उनकी सरसराहट में उसे ग्रेता की आवाज़ सुनायी देती है - 'स्टॉप-स्टॉप'। उसके कदम वहीं ठिठके रह जाते हैं। उसे ग्रेता की याद सताने लगती है। कथावाचक के शब्दों में - "मैं उठ खड़ा हुआ और गेट की तरफ चलने लगा। सहसा हवा उठी थी। हल्का-सा झोंका अँधेरे में चला आया और पेड़ सरसराने लगे। और तब मुझे धीमी-सी आवाज़ सुनाई दी, एक असीम आग्रह में लिपटी हुई - 'स्टॉप...स्टॉप...' मेरे पाँव बीच पार्क में ठिठक गये। चारों ओर देखा। कोई न था। न कोई आवाज़, न खटका - सिर्फ पेड़ों की शाखाएँ हवा में डोल रही थीं।"[65]

'सुबह की सैर' के कर्नल निहालचन्द्र शहर में अपने नौकर के साथ अकेले रहते हैं। पत्नी की मृत्यु हो चुकी है। बेटा विदेश में रहता है। वह अकेलेपन के दिनों को दिनभर जंगल में भटकते हुए काटते हैं। नवम्बर की एक सुबह निहालचन्द्र को जंगल में भटकते

हुए पुराने दिनों की याद आ जाती है। वे उनके भरे-पूरे दिन थे। कहानी में यह अंश देखिए - "निहालचन्द्र कन्धे से थैला उठाकर दूसरे कन्धे पर लटका लेते हैं। कोट के बटन खोलते हैं, तो नवम्बर की हवा सर्र-सर्र करती देह को खटखटाने लगती है। ऊपर पेड़, नीचे झाड़ियाँ, बीच-बीच में गुलमोहर की सुर्ख, लहराती लपटें, सुर्र-सुर्र-सी आवाजें, जिन्हें सुनकर निहालचन्द्र को ग्वालियर के जंगल याद आ जाते, जहाँ वे अपने फौजी दोस्तों के साथ शिकार पर जाते थे।"[66]

इस कहानी में भी हवा की सरसराहट कथा-नायक को स्मृति के जंगल में ले जाकर छोड़ देती है और उसके अकेलेपन को घना कर देती है जो कि निर्मल वर्मा की कहानियों की नियति है।

'दो घर' कहानी का कथावाचक भी यूरोप की सड़कों पर अकेला भटकता है। वहाँ उसकी मुलाकात एक हिन्दुस्तानी से होती है जिसके घर वह आता-जाता था। कथावाचक कुछ दिनों बाद यूरोप के दूसरे शहरों में घूमने निकल जाता है। बहुत दिन बाद वहाँ से वापस लौटने के बाद वह हिन्दुस्तानी से मिलने उनके घर जाता है। उनके घर की ओर जाते हुए उसे पुराने मौसम की याद आती है। जब उन दिनों उसकी मुलाकात हिन्दुस्तानी से हुई थी - "वही स्क्वायर था... वही एक साल पहले की धूप। पत्ते अभी झरना शुरू नहीं हुए थे। हवा में खत्म होती गर्मियों की गन्ध थी - एक सोनाली-सी गन्ध, जो उन दिनों समूचे शहर में तिरती रहती थी।"[67]

कहानी के इस अंश में कथावाचक की स्मृति में साल भर पहले अनुभव की गई गंध अब भी वैसी ही रची-बसी हुई है। निर्मल की कहानियों में झरते हुए पत्ते बार-बार आते हैं। वह जरूर किसी-न-किसी स्मृति से जुड़ी होती है। 'बीच बहस' कहानी का 'मैं' दिल्ली के एक अस्पताल में अपने बीमार पिता के साथ दिन काट रहा है। एक दिन वह अस्पताल के कमरे में लेटा झरते हुए पत्तों की आवाज़ को सुनता है। उसे अपने पुराने दिनों की याद आ जाती है। जब वह बहुत पहले दिल्ली परीक्षाएँ देने आया करता था - "फिर सब कुछ बहने लगा। स्टाफ-रूम में नर्सों की हँसी, गलियारे में पत्तों के भागने का शोर,

जो दरवाजों को खटखटाकर खुद खामोश हो जाता। मार्च के पागल पत्ते और उनके साथ झरती हुई दिल्ली, जहाँ बहुत पहले वह परीक्षाएँ देने आया करता था। इतने बरसों बाद भी जब वह दिल्ली की सड़कों पर लोटते, हवा में घूमते, पापड़-से पपड़ाए पत्तों को देखता, तो उसे और कुछ न याद आकर परीक्षाओं के दिन याद आते थे... साफ, चमकीले और पीले वर्क में लिपटे हुए... और बगल में दबाए हुए बाबू के नोट्स, जो वह खास उसके लिए लिखते थे।"[68]

निर्मल वर्मा की कहानियों में इन्द्रियों से अनुभूत स्मृतियों का भी जिक्र आता है। कोई गंध हो, कोई आवाज़ हो या किसी के हाथ का स्पर्श उसमें किसी न किसी चीज की स्मृति जरूर होती है। जैसाकि 'एक शुरूआत' का नैरेटर कहता भी है - "यह अजीब बात है कि किसी खास किस्म की बियर या शराब या संगीत के संग एक पराए अजनबी शहर की कितनी स्मृतियाँ जुड़ जाती हैं।"[69]

'कव्वे और काला पानी' का नैरेटर बरसों बाद अपने बड़े भाई से मिलता है। भाई बतियाते हुए उसके घुटने पर अपना हाथ रख देता है तब उसे अनुभव होता है - "लेकिन घुटने पर रखा उनका हाथ? उसमें बीता हुआ घर था, और समूचा जमा हुआ अतीत - जो जरा सा - छूने पर बूँद-बूँद बहने लगता है।"[70]

'लंदन की एक रात' के नैरेटर को 'लागर' की गंध एक पुराने संगीत की याद दिलाती है - "लागर की हल्की-सी गन्ध मुझे छू गई। न जाने क्यों, उस गन्ध के संग एक दूसरी स्मृति उभर आई... मौत्सार्ट के सेरेनाड की एक बहुत पुरानी ट्यून-ट्यून भी नहीं, महज़ एक टूटी-टहनी सी थिरकन, जिसे कुछ घड़ियों पहले 'पब' में अचानक पहचाना था...।"[71]

निर्मल ने स्मृति को मृत्यु-बोध के संदर्भ में भी रूपायित किया है। उनकी अनेक कथाओं में मृतात्माओं की छायाएँ मंडराती हैं। यहाँ अनुपस्थित की उपस्थिति है। 'परिंदे', 'कव्वे और काला पानी', 'जिंदगी यहाँ और वहाँ', 'बुखार', 'जाले', 'खोज, डायरी का खेल' आदि कहानियों में मृतात्माओं की स्मृतियाँ रह-रहकर साथ चलती हैं

और कथा के जीवित-भटकते हुए पात्र चाहकर भी उनकी छायाओं से मुक्त नहीं हो पाते। इस विषय में निर्मल वर्मा कहते हैं - "हम केवल उन लोगों के बीच ही नहीं रहते जो जीवित हैं अथवा मौजूद हैं। बल्कि हम उनके बीच भी रहते हैं जो मौजूद नहीं हैं। वे भले ही हाड़-मांस के जीवन्त रूप में न हों, पर स्मृति के तौर पर वे हमारे जीवन को संचालित करते हैं। उनका, न होना भी बहुत मायने रखता है। मृत्यु, अभाव इन सब का तीव्र बोध हमें हमेशा होता है।"[72]

निर्मल की कहानियों में पुरखे किसी 'दूसरी दुनिया' के निवासी नहीं हैं। वे यहीं हैं। यहीं इसी जिंदगी में। 'जिंदगी यहाँ और वहाँ' का नायक सोचता है - "मरने के बाद भी वे जाते नहीं - वे, यहाँ हैं, वे हस्तक्षेप नहीं करते, बोलते नहीं, किन्तु जब मैं कोई चीज खो देता हूँ दुख सहता हूँ - तो वे अचानक अँधेरे कोने से बाहर निकल आते हैं अपनी झोली में मेरे खोने और दुख को सँभाल लेते हैं।"[73]

'बुखार' के नायक को भी पुरखों के 'यहाँ' होने की अनुभूति होती है। वह एक दिन नायिका के घर जाता है। नायिका के घर में केवल उसकी माँ है। पिता की मृत्यु हो चुकी है। नायिका उसे घर के भीतरी हिस्से को दिखाती है। आँगन के एक कोने में उसके पिता का हुक्का रखा हुआ था जिसे नायक को दिखाकर वह कहती है - "यह बाबू का हुक्का था। जब मैं छोटी थी, तो उनकी चिलम भरकर लाया करती थी।"[74] नायिका के यह कहने पर नैरेटर को अहसास होता है - "तब मुझे लगा, उस घर में माँ और बेटी ही नहीं रहते, वह भी रहते हैं, छूटी हुई चीज़ों, और बीती हुई घड़ियों में, वह घर जो मुझे इतना ख़ाली-सा दिखाई दिया था, उसके भीतर उन्हें न जाने कितनी चीज़ों से बचकर चलना पड़ता होगा।"[75]

'जाले' कहानी का नायक भी मृतात्माओं की परछाइयों को अनुभव करता है। उसका एक बड़ा सा बंगला है वह उसमें अकेला रहता है। नायक के माँ, बाप, पत्नी और भाई की मृत्यु हो चुकी है। जिनकी छायाएँ उस घर में डोलती रहती हैं। नायक उनकी स्मृतियों से पीड़ित है। एक दिन वह अपनी तीनों बहनों को यह बंगला बेचने के सिलसिले

में बुलाता है। उसकी बहनें अलग-अलग शहरों में रहती हैं। उनके आने पर वह उनसे अपनी पीड़ा बयान करते हुए कहता है - "हर दरवाज़ा खोलते ही हवा में झूलते जाले चेहरे से टकराते हैं, हर आहट कराहती-सी जान पड़ती है, यह मैं हूँ, यह मैं हूँ... और मैं झपटकर दोबारा दरवाज़ा बन्द कर देता हूँ...लेकिन उनसे छुटकारा नहीं पा सकता जो कभी यहाँ रहते थे, तुम सोचते हो, वे मर गए?

वे मुझसे कहीं ज्यादा जीवन्त हैं....।"[76]

'खोज' कहानी के पात्र भी अपने मृत भाई की स्मृतियों को अनुभव करते हैं। इसी तरह 'कव्वे और काला पानी' कहानी में शहर के ऊपर कव्वे मंडराते रहते हैं। यह कव्वे इसी शहर के निवासी थे जो मरने के बाद एक शाप के कारण कव्वे बन गये और अब अपनी मुक्ति की प्रतीक्षा में भटक रहे हैं।

इस तरह निर्मल ने जीवन में स्मृति की व्यापक भूमिका को काफी बड़े कैनवास पर उकेरा है। उनकी कहानियों में स्मृति द्वारा जहाँ अपने खोये हुये समय को पाने की कोशिश की गयी है वहीं वह आत्म से संवाद का माध्यम भी बना है। निर्मल के स्मृति विमर्श में एक ओर मृत्यु की छायाएँ हैं तो वहीं दूसरी ओर प्रेम के अंतरंग क्षणों का पुनर्सृजन भी। स्मृति के सहारे अकेलेपन के दंश से मुक्ति पाने की कोशिश भी है। स्मृति के बहाने प्रकृति और मनुष्य के रिश्ते को भी चित्रित किया गया है। निर्मल की कहानियों में चरित्र और कथानक का विकास ही प्रायः स्मृति के सहारे हुआ है। स्मृति का इतनी व्यापक सृजनात्मकता हिन्दी कहानी में दुर्लभ है।

अकेलेपन और नियति का संदर्भ

निर्मल वर्मा की कहानियों में अकेलापन एक दुःस्वप्न की तरह छाया हुआ है। इतना कि उनके पात्र किसी के संग होते ही और भी अकेले हो जाते हैं। वे एक दूसरे से मिलते हैं, कुछ पल का संग साथ होता है और फिर लौट आते हैं अपने शाश्वत अकेलेपन में। वह आखिरी मोड़ पर पहुँचकर अनुभव करते हैं - कुछ है - "जो उँगुलियों में आता-आता

फिसल जाता है।"[77] और वे मिलकर भी न मिल पाते हैं। निर्मल की कथा में यह 'कुछ' और कुछ नहीं उनके जीवन की नियति ही है जो उन्हें अकेला कर देती है। ऊपर-ऊपर से देखने में लग सकता है वे अपना अकेलापन खुद चुनते हैं पर वास्तव में वह स्वभाववश या परिस्थितिगत नहीं होता। वह उनके अस्तित्व की अपरिहार्यता है। वह नियतिगत है। निर्मल स्वयं मनुष्य के इस अकेलेपन के लिए नियति को जिम्मेदार मानते हैं। वह कहते हैं - "मनुष्य होना अपने में ही एक तनाव की स्थिति में जीना है। यह तनाव किसी खास सामाजिक परिस्थिति या केवल व्यक्तियों के बीच के किसी अलगाव या ग़लतफ़हमी के कारण नहीं होता। मनुष्य का मनुष्य के रूप में जीना ही एक सतत् तनाव में जीने की प्रक्रिया है।"[78] अन्यत्र भी वह एक जगह इसी बात को कहते हैं - "मनुष्य का यह लावारिस, अलगाव और अधूरापन कोई आधुनिक, पश्चिम-बोध की देन नहीं है - वह मनुष्य के मनुष्यत्व के बीच एक कीड़े की तरह विद्यमान है, धरती पर उसके महज 'होने' के बोध में निहित है।"[79]

निर्मल की कहानियों के पात्र अकेलेपन का दंश भोगते हुए अपनी क्रूर नियति का सामना करते हैं। नियति का दंश उनकी लगभग हर कहानी में देखा जा सकता है। कहानी की संवेदना चाहे कैसी भी हो उसमें नियति बोध किसी न किसी रूप में बना हुआ है। 'परिंदे' कहानी में अपने मृत प्रेमी की याद में भटकती लतिका हो, 'लंदन की एक रात' का बेरोजगार नैरेटर या फिर 'बुखार' कहानी का नायक वह सभी अपने अस्तित्व की तलाश में भटकते हुए नियति का ही सामना कर रहे होते हैं।

यह नियति-बोध किस तरह से उनकी कहानियों में व्याप्त है इसे इन पंक्तियों में सहज ही देखा जा सकता है -

"कुछ है जो मेरे भीतर - जो बहुत निरीह है, बहुत विवश है।"[80]

"वह क्षण फिर उसके जीवन में कभी नहीं आएगा।"[81]

"उसके बाद कुछ नहीं है"[82]

"क्योंकि मैं जानती हूँ, आगे कुछ भी कहना बेकार है"[83]

'माया दर्पण' कहानी की नायिका तरन अविवाहित है। वह एक बड़े से घर में अपने पिता के साथ अकेले रहती है। सारा दिन कमरे की खिड़की से बाहर उड़ती हुई रेत को देखा करती है। उसके सूने जीवन में इंजीनियर बाबू का प्रवेश होता है। इंजीनियर बाबू का संग तरन को उसके भयावह अकेलेपन से मुक्त करता है। लेकिन तरन को अपनी यह मुक्ति एक सुखद भ्रम ही लगती है, क्योंकि वह जानती है – "वह क्षण फिर उसके जीवन में कभी नहीं आएगा।"[84] उसे रहना उस सूने घर में अपने पिता के साथ ही है। और वह उनका घर चाहकर भी नहीं छोड़ पायेगी वह सोचती है – "बाबू उसे कभी नहीं छोड़ेंगे और वह उनसे कभी अलग नहीं हो सकेगी।"[85] अन्ततः वह अकेली ही रह जाती है।

'परिंदे' की नायिका लतिका भी नियति के दंश को भोगती है। वह एक पहाड़ी शहर के कान्वेंट स्कूल में पढ़ाती है। अपने प्रेमी मेजर गिरीश की मृत्यु के बाद वह अकेली रह जाती है। लतिका अपने जीवन को कोई अर्थ नहीं दे पाती। हर साल छुट्टियों में बच्चे अपने घर चले जाते हैं पर वह स्कूल में ही रुक जाती है। सोचती है हम जायें तो जायें कहाँ, किसके पास, किसके लिए। कहानी में कहीं बहुत दूर बर्फ की चोटियों से परिन्दों के झुंड नीचे अनजान देशों की ओर उड़े जा रहे हैं। उन्हें देखकर उसके दिल में हूक सी उठती है। वह सोचती है "हम कहाँ जाएँगे?" और उसे अपने सवालों का कोई जवाब नहीं मिलता – सिवाए इसके की – "उस अँधेरे में मीडोज़ के झरने के भुतैले स्वर और चीड़ के पत्तों की सरसराहट के अतिरिक्त कुछ सुनाई नहीं देता था।"[86]

'सुबह की सैर' कहानी में एक कर्नल है निहालचन्द्र। वह रिटायर होने के बाद शहर में अकेले रहते हैं। उनकी पत्नी की मृत्यु हो चुकी है और बेटा बरसों से विदेश में है। कर्नल अपनी बाकी जिंदगी सारा दिन जंगल में भटकते हुए गुजारते हैं। वह रोज सवेरे सैर को निकल पड़ते हैं। किसी से कुछ बोलते बतियाते नहीं। बस अपने में खोये-खोये से रहते हैं। अकेलेपन ने उनके अंदर निसंगता का भाव भर दिया है – "उनके लिए जैसे चिंघाड़ते बच्चे, वैसे रिरियाते कुत्ते, सब एक चलते हुए दृश्य का हिस्सा हैं, एक धुएँ-सी ध्वनि, जिसमें सब कुछ समा जाता है...।"[87] वह घर से निकलते हैं, नाले को पार करते हैं,

फिर धोबी घाट को, फिर मैदान पीछे छूट जाता है – जंगल शुरू होता है – उसके भीतर चलते जाते हैं। सुबह से साँझ तक। शायद कहीं 'लौटने' की कोशिश में। पर वे लौट नहीं पाते क्योंकि उन्हें आगे कोई राह नहीं मिलती। उन्हें अपनी नियति का बोध होता है 'जिंदगी अब आगे कुछ भी नहीं है' लेकिन वे लौटते हैं, 'वहाँ' जहाँ से हर कोई शुरू होता है 'मृत्यु के पास' और कहानी की त्रासद परिणति उनकी आत्महत्या में होती है।

नियति का यह दंश 'तीसरा गवाह' कहानी में भी देखने को मिलता है। इस कहानी के पात्र भी अकेले हैं। वह अपने अकेलेपन की कारा से बाहर निकलने के लिए छटपटाते हैं पर निकल नहीं पाते। कहानी के पात्र रोहतगी और नीरजा बरसों से अकेले रहते आये हैं। रोहतगी शहर के एक पिछड़े इलाके में किराये के मकान में रहता है। उसी मकान में नीरजा भी किरायेदार बनकर आती है। वहीं दोनों की मुलाकात होती है। नीरजा से मिलकर रोहतगी को लगता है – "बरसों से जमा हुआ अकेलापन धीरे-धीरे उघड़ने लगा है।"[88] वह कोर्ट में विवाह करने का निश्चय करते हैं। कोर्ट मैरिज के दिन तीसरे गवाह के न आ पाने से उनकी शादी नहीं हो पाती है। नीरजा रोहतगी को बिना बताये चुपचाप चली जाती है। इस कहानी में भी दो व्यक्तियों का साथ होते-होते रह जाता है। नीरजा आखिर क्यों कोर्ट रूम से उठकर चली गयी? क्यों नहीं वह तीसरे गवाह का इंतजार कर सकी? अगर कर लेती तो आज दोनों पति-पत्नी होते – वह क्या पागल या सनकी थी? – नहीं यह नियति का खेल था। बरसों बाद इस घटना को यादकर रोहतगी अपने मित्रों से कहता है "जिस लड़की को मैं जानता था, वह पागल या सनकी कुछ भी न थी, लेकिन फिर भी...।"[89] लेकिन फिर भी नीरजा रोहतगी को छोड़कर चली जाती है। यही तो नियति का खेल है जिस पर हमारा कोई वश नहीं होता।

'दो घर' कहानी में नियति का एक अलग ही रंग देखने को मिलता है जिसमें एक बंगाली आदमी अपने दो घर होते हुए भी खुद को अलग-थलग पाता है। यह बंगाली आदमी कोलकाता में अपना भरा-पूरा परिवार, जहाँ उसके माँ, बाप, पत्नी है, छोड़कर विदेश में जा बसता है। वहीं बीमारी के दौरान एक नर्स से उसका साहचर्य होता है जिसके

साथ वह बिना विवाह किये ही रहने लगता है। इस महिला से उसके दो संताने होती हैं। यह व्यक्ति हर साल कोलकाता जाने की इच्छा प्रकट करता है पर चाहकर भी नहीं जा पाता। अन्ततः वह विदेश में ही गुमनाम मौत मर जाता है। इस व्यक्ति की त्रासदी यह है कि वह विदेश वाली स्त्री के साथ न तो पूरी तरह से जुड़ पाता है और न ही कोलकाता वाले घर के मोह से मुक्त हो पाता है। इस विषय में सुधीर चन्द्र लिखते हैं – "इस व्यक्ति की त्रासद विडम्बना तब और भी गहरी हो जाती है, जब घर के प्रति अपनी तीव्र संवेदना और अपने दो घरों के बावजूद वह एक पराये शहर के अनजान अस्पताल में गुमनाम मौत मर जाता है।"[90]

यह नियति ही है जो दो व्यक्तियों या दो अनुभूतियों में सापेक्षिकता होते हुए भी उनके बीच एक दूरी बनी रहती है। होने न होने के बीच। निर्मल के पात्र चाहकर भी अपने बीच की इस दूरी का अतिक्रमण नहीं कर पाते। यह दूरी उनकी कहानियों में विभिन्न शक्लों में मौजूद हैं। इस विषय में मदन सोनी लिखते हैं – "यही वह प्रमुख अंतराल है जो कहानियों में अनेकशः छितराया हुआ है : दो व्यक्तियों, दो जगहों, दो मनःस्थितियों, दो स्थितियों, दो अनुभूतियों... के बीच, जिसमें दोनों की निरपेक्षता का अभाव है या जिसमें दोनों की स्मृति बनी हुई है।"[91] उदाहरण के लिए देखें –

"स्टीमर के उपेक्षित कोने में हम दोनों बहुत पास फिर भी अपने मौन में एक-दूसरे से बहुत अलग-अलग बैठे हैं।"[92]

"एक गोपनीय और गदरायी-सी गन्ध – जो उसे जितना अपने पास खींचती थी उतना ही अपने से परे खदेड़ती थी"[93]

"...यहाँ सिर्फ़ उठे हुए गिलास थे, एक-दूसरे को छूकर, एक-दूसरे को अनछुआ रखते हुए...।"[94]

दो व्यक्तियों के बीच के अंतराल को 'धागे', 'दहलीज', 'बीच बहस में', 'अँधेरे में' आदि कहानियाँ बेहद संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त करती हैं। 'धागे' कहानी में दो बहने हैं – मीनू और रूनी। रूनी अपने पति से अलग रहती है। उसका आकर्षण मीनू के

पति केशी के लिए है। एक दिन वह मीनू के घर जाती है जहाँ वह केशी से भी मिलती है। वह केशी को कातर दृष्टि से देखती है। उसे पता है केशी उसका नहीं हो सकता इस बात का अहसास उसे अवसाद से भर देता है। केशी के कमरे में बैठी हुई रूनी अपने और केशी के संबंधों के यथार्थ को अनुभव कर कहती है – "मुझे लगा, हम दोनों किसी छोटे से स्टेशन के वेटिंग रूम में बैठे हैं। दोनों चुपचाप अपनी-अपनी ट्रेनों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। किन्तु बीच के इन लम्हों को हम अच्छी तरह गुजार देना चाहते हैं ताकि बाद में हम दोनों में से किसी का एक-दूसरे के प्रति कोई गिला, कोई शिकायत न रहे।"[95]

'अँधेरे में' कहानी के नैरेटर 'बच्ची' के माँ-बाप के सम्बन्धों में तनाव की स्थिति बनी हुई है। बच्ची की माँ पोनो उसके चाचा बीरेन को चाहती है। माँ, पिता और चाचा के जटिल त्रिकोणीय संबंधों के बीच बच्ची खुद को अजनबी महसूस करता है और अवसाद की छाया से घिरा रहता है। बच्ची की माँ उसे प्यार तो करती है पर उस प्यार में एक दूरी बनी हुई है। नैरेटर कहता है – "माँ के संग मेरा सम्बन्ध अधिक सहज और सीधा था। ... वह कोई भी प्रतिवाद किए बिना मेरी हर फरमाइश को चुपचाप मान लेती हैं – किन्तु इतना सब करने पर भी वह मुझसे हमेशा दूर रहती है, कभी न मिटने वाला एक अलगाव बनाए रखती हैं।"[96] इस अलगाव का कारण बच्ची की माँ पोनो का बीरेन चाचा से संबंध है जिसकी वजह से पोनो अपने बच्चे और पति से जुड़ नहीं पाती है और उन सबसे एक दूरी बनाये रखती है।

अंतराल की एक शक्ल 'बीच बहस में' कहानी में मिलती है। कहानी एक पिता-पुत्र के संबंधों की है। पिता अस्पताल में भर्ती है। पुत्र उसकी तीमारदारी में लगा है। पुत्र जहाँ दिन-रात उसकी सेवा में लगा रहता है वहीं उससे त्रस्त भी है। वह मन ही मन उनसे छुटकारा पाने की कामना करता है। अस्पताल का माहौल और पिता का व्यवहार उसे चिड़चिड़ा बना देता है। वह अपने पिता से न तो पूरी तरह जुड़ पाता है न ही पूरी तरह कट पाता है और खुद को अजनबी पाने लगता है।

'दहलीज़' त्रिकोणीय प्रेम संबंधों की कहानी है। रूनी शम्मी भाई को चाहती है लेकिन शम्मी भाई उसकी बड़ी बहन जेली के प्रति आकर्षित हैं। वह एक दिन देखती है - शम्मी भाई टहनी से जमीन पर लिखते हैं - 'जेली...लव'। यथार्थ का बोध रूनी को अवसाद से भर देता है। वह सोचती है - "जेली में क्या-कुछ है कि शम्मी भाई जो उसमें देखते हैं, वह रूनी में नहीं देखते?[97] शम्मी भाई हर शनिवार उनके घर आते हैं। जहाँ वह एक साथ हँसते-बतियाते हैं। घूमने जाते हैं। उसके साथ गाना सुनते हैं। फिर भी शम्मी भाई उसके साथ होते हुए भी साथ नहीं होते। उनके बीच की दूरी कभी न मिट पाई। बरसों बाद इस घटना को याद करते हुए रूनी के - "पीले चेहरे पर एक रेखा खिंच आई... मानो वह एक दहलीज़ हो, जिसके पीछे बचपन सदा के लिए छूट गया हो...।"[98]

निर्मल वर्मा की कहानियों में नियति का एक संदर्भ उसके बोध अर्थात् भवितव्यता के बोध से भी जुड़ा हुआ है। निर्मल के पात्र आपसी रिश्ते के भविष्य को लेकर संशकित होते हैं। अस्तित्व के संकट का बोध, मृत्यु बोध आदि उन्हें बराबर होता रहता है। इनका बोध उनके भीतर अजनबीपन की भावना भरता है। वह अपने आप में ही खोये-खोये से रहने लगते हैं। 'माया दर्पण', 'टर्मिनल', 'डायरी का खेल', 'वीकएंड', 'कुत्ते की मौत', 'जिंदगी यहाँ और वहाँ' भवितव्यता के बोध की ही कहानियाँ हैं।

'मायादर्पण' की तरन को पता है इंजीनियर बाबू से वह प्रेम नहीं कर पायेगी क्योंकि अपने बाबू का घर छोड़कर नहीं जा सकती। इंजीनियर बाबू के साथ रेलवे ट्रैक पर चलते हुए उसके हृदय में प्रेम का अंकुर फूटा था - पर वह दबा ही रह गया। भवितव्यता का बोध कर वह कहती है - "वह क्षण, जो आज शाम आया था, रेलवे लाइन के सामने, जब वह इंजीनियर बाबू के संग खड़ी थी, वह शायद गलत था, अपने सम्बन्ध में एक सुखद भ्रम से अधिक कुछ नहीं.... वह क्षण फिर उसके जीवन में कभी नहीं आएगा।"[99]

'बुखार' के नैरेटर को पता है जिस स्त्री से उसके विवाह की बातें चल रही हैं वह किसी परिणति पर नहीं पहुँचने वाली। पहले भी उसकी शादी की बात कई जगह चली पर वह टूट गयी। उसे लगने लगता है जिंदगी ऐसे ही अकेले गुजर जायेगी। अपनी इस नियति

के कारण वह इस स्त्री से भी विवाह की उम्मीद नहीं कर पाता। वह कहता है – "...जब घर से कोई ख़बर नहीं आई, मैंने जान लिया, अब कुछ नहीं होगा... मेरे साथ ऐसा पहले भी हो चुका है।"[100]

भवितव्यता का एक संदर्भ मृत्युबोध के संबंध में भी है। निर्मल के पात्र किसी न किसी रूप में मृत्यु का साक्षात् करते रहते हैं। मृत्यु की छाया उनके संग चलती रहती है जो उनके अकेलेपन को और गहरा कर देती है। 'जाले' कहानी में नायक का बड़ा सा बंगला है जहाँ मृतात्माओं की छाया डोलती रहती है। नायक अकेलेपन से त्रस्त है। वह जानता है इन छायाओं से छुटकारा नहीं पा सकता। वह अपनी बहन से इस पीड़ा को बयान करते हुए कहता है – "हर दरवाज़ा खोलते ही हवा में झूलते जाले चेहरे से टकराते हैं, हर आहट कराहती-सी जान पड़ती है, यह मैं हूँ, यह मैं हूँ... और में झपटकर दोबारा दरवाज़ा बन्द कर देता हूँ... लेकिन उनसे छुटकारा नहीं पा सकता जो कभी यहाँ रहते थे, तुम सोचते हो, वे मर गए?...

वे मुझसे कहीं ज़्यादा जीवन्त हैं...।"[101]

'कुत्ते की मौत' कहानी के पात्रों के आपसी संबंध बिखरे हुए हैं। वे एक दूसरे से ऊबे हैं। बीमार, थके हुए, खुद के लिए ही अजनबी बने हुए। कहानी में एक कुतिया है लूसी जिसके माध्यम से घर के सभी प्राणी मृत्यु का साक्षात् करते हैं। लूसी, जिसे नन्हे घर लाये थे, बीमार है। उसकी पीड़ा असह्य है। बचने की कोई उम्मीद नहीं है। बाबू जो खुद बीमार हैं, लूसी के उल्टी करने की आवाज़ सुनते हैं। उन्हें "एक हलका-सा झटका लगता है, जैसे कोई फुसफुसाता हुआ उनके कानों में कह रहा हो – 'बच नहीं सकेगी'।"[102] नन्हे भी मृत्यु का साक्षात् करते हैं – "देखो, नन्हे चादर अपने इर्द-गिर्द लपेट लेते हैं। पैताने पर दो पाँव ऊपर उठे रहते हैं। खुद अपने को सफेद चादर में लिपटे हुए देखना... साँसं रुक जाती है....। देखो, एक दिन इसी तरह...।"[103]

निर्मल वर्मा अपनी कथा में कुछ बेचैन कर देने वाले प्रश्नों को उठाते हैं, न सिर्फ उठाते हैं बल्कि उनका सूक्ष्मता से मार्मिक चित्रण भी करते हैं। यह प्रश्न है जिंदगी के बाद के दूसरी जिंदगी का – मृत्यु का। जिसके बारे में अन्य लेखक चुप ही रहना पसंद करते हैं। निर्मल की कथा में मृत्यु से बात करने का साहस है। यहाँ न सिर्फ मृतात्माओं की उपस्थिति है वरन् अपनी ही मृत्यु को आते हुए 'देखना' भी है। निर्मल की बहुत सारी कहानियाँ – 'जिंदगी यहाँ और वहाँ', के सम्बन्धों पर विचार करती हैं। 'डायरी का खेल', 'परिंदे', 'टर्मिनल', 'कुत्ते की मौत', 'बीच बहस में', 'सुबह की सैर', 'कव्वे और काला पानी', 'जाले' आदि कहानियों में मृत्यु का ही विमर्श है।

'किसी अलग रोशनी में' कहानी के पात्र को पता है उसकी जिंदगी अब ज्यादा दिन नहीं बची है। डॉक्टर ने साफ कह दिया है वे कुछ नहीं कर सकते। पर आदमी इससे हताश नहीं होता। आसन्न मृत्यु का संकट उसे भयभीत नहीं करता वरन् उसे लगता है वह जीवन के बंधनों से मुक्त हो गया है। वह दुनिया को एक अलग ही रोशनी में देखता है। एक ऐसी रोशनी जिसे आदमी मृत्यु का साक्षी बनकर प्राप्त करता है। जब मृत्यु निश्चित है तो फिर हिचकिचाहट कैसी। अब वह जिंदगी को खुलकर जीता है। इसलिए आदमी कोस्ता के बार में अपनी पत्नी के साथ बेफ़िक्र होकर नाचता है। वह कहानी की एक पात्र से अपना अनुभव बयान करते हुए कहता है – "आपसे एक बात कहूँ – जब उन्होंने कहा वे कुछ नहीं कर सकते तो मुझे पहली बार अपने भीतर एक राहत–सी महसूस हुई जो सिर्फ़ रिहाई से आती है... मुझे लगा मैं अब कुछ भी कर सकता हूँ, कहीं भी पहुँच सकता हूँ, कुछ भी... मुझे लगा मैं दुनिया को किसी दूसरी रोशनी में देख रहा हूँ।"[104]

मृत्यु का साक्षात् 'कव्वे और काला पानी' का नैरेटर एक अलग ही रूप में करता है। वह एक पहाड़ी कस्बे में अपने संन्यासी भाई से मिलने जाता है। वह आसमान में उड़ते कव्वों को देखकर मृत्यु का साक्षात् करता है। नैरेटर आसमान में खूब सारे कव्वों को उड़ता देख चकित है। कहानी के एक पात्र मास्टर जी नैरेटर को बताते हैं – "आपे सोचेंगे, इतना छोटा शहर और इतने कव्वे? कहते हैं, इस शहर पर एक शाप पड़ा था कि यहाँ के सब

निवासी मृत्यु के बाद कव्वे की योनि प्राप्त करते हैं।"[105] नैरेटर कहता है – "मुझे यह सोचकर कुछ अजीब–सा लगा कि भुवाली के बादल यहाँ आते हैं, आगे नहीं जाते.... जैसे यह दुनिया का अंतिम छोर हो – मृतात्माओं और कव्वों का प्रदेश।"[106]

मृत्यु की छाया 'सुबह की सैर' कहानी में भी है। यहाँ भी आसमान में चील–कव्वे उड़ रहे हैं। जंगल में एक जगह निहालचन्द्र सोये हैं। खाना खाने के बाद। कुछ जूठन बची हुई है। जिसे परिंदे खा लेते हैं। "निहालचन्द्र की जूठन खाकर अब उनकी निगाहें निहालचन्द्र की देह पर चिपक जातीं – मानो सोच रहे हों, क्या यह देह भी उनके आहार में शामिल है?"[107]

यह नियति ही है जो 'टर्मिनल' कहानी के लड़के–लड़की के प्रेम को संभव नहीं होने देती। इस कहानी में एक लड़का–लड़की की मुलाकात थिएटर की टिकट–विण्डो पर बड़े नाटकीय ढंग से होती है। लड़की अपने साथ के एक्स्ट्रा टिकट पर लड़के को थियेटर ले जाती है। इस घटना के साथ ही उसे लड़के से प्रेम हो जाता है। लड़की जाने क्यों अपने इस प्रेम के भविष्य को लेकर संशय में पड़ जाती है और वह एक भविष्यवक्ता स्त्री से अपने प्रेम का भविष्य पूछती है। स्त्री एक रहस्यपूर्ण अनुष्ठान के बाद लड़की को लड़के से अलग हो जाने की सलाह देती है क्योंकि उनके साथ–साथ होने से कोई बड़ी अनहोनी यहाँ तक कि लड़के की मृत्यु भी हो सकती है। अन्त में लड़की लड़के को आख़िरी बार चूमकर उससे कभी न मिलने का यातनादायी अनुरोध कर वापस अपने स्टेशन चली जाती है और उनकी प्रेमकथा परवान चढ़ने से पहले ही खत्म हो जाती है। इस बारे में मदन सोनी लिखते हैं – "यह नियति ही है जो थियेटर के बाहर खड़े लड़के को विमोहित कर उसे उस यात्रा में शामिल करती है, जो प्रेम है और जिसमें लड़के की 'मुक्ति' की संभावना है। लेकिन इसके पहले कि यह मुक्ति चरितार्थ हो सके, इसके पहले कि यह यात्रा अपने 'उत्कर्ष' तक पहुँच सके, वह उस यात्रा को वापस मोड़ देती है, लड़के को उस मृत्यु से 'वंचित' करते हुए जो इस यात्रा का एक अनिवार्य पड़ाव है। यह नियति ही है जो 'मुक्ति' को 'मृत्यु' की तरह पढ़ती है।"[108]

निर्मल की और भी कई कहानियों में प्रेम की यात्रा को मंजिल पर पहुँचने से पहले ही नियति वापस मोड़ देती है। उनकी कहानियों में प्रेम अतृप्त ही रह जाता है। कथा के पात्र चाहकर भी अपने प्रेम को कोई अर्थ नहीं दे पाते। अपनी हसरतों को लिए वह भटकते रहते हैं अकेलेपन के बियावन में। कई कहानियों में तो उनका प्रेम अनकहा ही रह जाता है और जहाँ वह अभिव्यक्त भी किया गया है वहाँ भी अधूरा ही रहता है। पात्र कुछ देर के लिए आत्मीयता के उजले संसार में आते हैं फिर वह नियति द्वारा अकेलेपन के अँधेरे में उठाकर फेंक दिये जाते हैं। इस विषय में नंदकिशोर आचार्य लिखते हैं – "प्रेम अकेलेपन या अधूरेपन के अतिक्रमण का ही एक प्रयास है, लेकिन प्रेम करते हुए भी इस शाश्वत अकेलेपन या विलगाव से मुक्त न हो पाना और अपने प्रयास की दुखांत परिणति के बोध की वेदना ही निर्मल वर्मा की केन्द्रीय कहानी है।"[109] प्रेम के अधूरेपन की दृष्टि से निर्मल की 'मायादर्पण', 'तीसरा गवाह', 'लवर्स', 'जिंदगी यहाँ और वहाँ', 'पिक्चर पोस्टकार्ड', 'बुखार' आदि कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं।

'बुखार' कहानी के नैरेटर के सूने जीवन में एक लड़की का प्रवेश होता है। नैरेटर की माँ उसे लड़की के घर लेकर जाती है। शादी की बात चलाने के लिए। नैरेटर लड़की से पहली ही मुलाकात में अपने लिए आत्मीयता अनुभव करता है। दोनों का कुछ दिनों का संग साथ होता है। कहानी में उनके साहचर्य के कई सुखद पल आते हैं। लम्बी अँधेरी रात के बाद सूरज की पहली किरण की तरह। एक दृश्य देखिए – "....जब मैं उनके साथ चलने लगता, तो किसी गढ़हे या गोमड़ से मुझे बचाने के लिए मेरा हाथ पकड़ लेतीं जैसे मुझे नहीं, उन्हें मेरे सहारे की ज़रूरत है और तब तक पकड़े रहतीं जब तक बात ख़त्म न हो जाती या रास्ता पार न हो जाता।"[110] लड़की की नजर नैरेटर के गंदे जूते पर पड़ी – "वह परेशान-सी हो गईं, 'देखिए, यह मेरी ग़लती है, जो आपको ऐसे बेवकूफ़ रास्ते से ले आई।' ...फिर उन्हें कुछ याद आया, अपनी कमीज़ की जेब से उन्होंने टीशू पेपर का एक छोटा-सा बंडल बाहर निकाला और मेरे हाथ में पकड़ा दिया, 'देखिए सामने ढाबे की बेंच है, आप वहाँ बैठकर इन्हें साफ़ कर डालिए, इतने में मैं दूध ले आती हूँ।"[111] कुछ मुलाकातों के बाद नैरेटर को लगता है लड़की से अपने दिल की बात कह देनी चाहिए।

पर नहीं कह पाता। इस बीच लड़की अपने बुआ के घर आसनसोल चली जाती है। बरसों बाद नैरेटर ट्रेन से कलकत्ता जा रहा होता है। एक स्टेशन पर उसकी आँख खुलती है वह आसनसोल स्टेशन था। उसे अकस्मात् लड़की की याद आ जाती है। यहीं तो वह अपने बुआ के घर रहती हैं। वह सोचता है – "क्या वह अब भी यहाँ होंगी – वही–जिन्होंने मुझे कभी अपने चेहरे, अपनी हँसी, अपनी टोहती आँखों से उस एक चीज़ को दिखाया था, जिसे मैंने कभी पाया नहीं पर जिसे कभी खो भी नहीं सका था।"[112] नैरेटर के दिल में हूक सी उठती है वहीं उतर जाने के लिए। पर तब तक ट्रेन चल देती है – अब क्या फायदा – वह चुपचाप कातर निगाहों से उसके शहर को देखता रह जाता है – "एक बार पागल–सी इच्छा हुई कि सबकुछ छोड़कर वहीं उतर जाऊँ, जो मेरी यात्रा का अंतिम स्टेशन था, लेकिन तभी अँधेरे में चीत्कारती इंजन की सीटी सुनाई दी और ट्रेन धीरे–धीरे प्लेटफार्म छोड़कर आगे सरकने लगी।"[113] अन्ततः यह प्रेम कहानी अधूरी ही रह जाती है। इस संदर्भ में श्यामलाल का कथन याद आता है – "दो व्यक्तियों के बीच कुछ देर का तार जुड़ता है और फिर वे अनजान रास्तों पर चले जाते हैं। प्रेम का एक अंकुर फूटने का होता है और फिर धीरे से दोनों के बीच रेगिस्तान फैल जाता है। मित्र दूर बिखर जाते हैं और उनके बीच एक दर्दनाक दूरी खड़ी हो जाती है। निर्मल बेचैन कर देने वाले प्रश्नों की तरफ इशारा करते हैं पर उत्तर नहीं ढूंढते, यह जानते हुए कि उत्तर कहीं है ही नहीं।"[114]

"जिंदगी यहाँ और वहाँ" कहानी में ही देखें – दो प्रेमियों फैटी और इरा का क्षणिक साहचर्य होता है। वे एक दूसरे के करीब आते हैं और फिर अचानक ही अलग होने का फैसला करते हैं। वे एक दूसरे को बहुत प्यार करते थे पर अपने भवितव्य का बोध होते ही प्रेम उन्हें एक बुरा और डरावना स्वप्न लगने लगता था। इसे कथा में निहित मृत्यु का बोध कहें या फिर प्रेम में ऊब, क्यों वह एक दूसरे से मुक्ति चाहने लगते हैं – निर्मल इसकी ओर ज्यादा ध्यान नहीं देते। शायद यही सोचकर कि उत्तर कहीं है ही नहीं।' निर्मल बस इतना ही कहते हैं एक शाम उन दोनों ने मिंटो रोड ब्रिज के बीच एक ही इच्छा माँगी थी – "एक–दूसरे से अलग होने की... वे जितना ज्यादा एक–दूसरे को चाहते थे, उतना ही एक–दूसरे से छुटकारा पाने के लिए तड़पते थे – जैसा चाहना कोई पाप हो,

कोई बुरा स्वप्न...।"[115] और कथा का अन्त इरा के दिल्ली छोड़कर चले जाने से होता है, फैटी अकेला ही रह जाता है, इरा की आहटों को याद करता हुआ।

अनकहे प्रेम कहानी की दृष्टि से निर्मल की 'पिक्चर पोस्टकार्ड' कहानी को भी देखा जा सकता है। इस कहानी का नायक परेश नीलू से प्यार करता है। वह दोनों दिल्ली विश्वविद्यालय में एक साथ पढ़ते हैं। अपनी पढ़ाई पूरी कर नीलू दिल्ली से वापस चली जाती है। परेश नीलू से अपने मन की बात कहना चाहता है, पर नहीं कह पाता। वह उसके हॉस्टल मिलने भी जाता है अंतिम दिन। परेश से नीलू अपने पसंद के रिकॉर्ड उस रात के दस बजे बजाने के लिए कहती है। इस समय वह ट्रेन में होगी। परेश उस रात नीलू को विदाकर एसप्रेसो पहुँचता है और उसकी यादों में डूबा उसके पसंद के रिकॉर्ड बजाता है। उस रात वह नीलू से अपने मन की बात कहना चाहता था पर नहीं कह पाया था। उसकी आँखों में अवसाद की छाया है। आखिर नीलू चली गयी और वह देखता ही रह गया। परेश की यह इच्छा अधूरी ही रह गयी कि वह कभी नीलू के कालर बोन के गढ़े को चूमेगा। दिल्ली की सड़कों पर भटकते हुए परेश सोचता है - "क्योंकि कुछ बातें हैं, जो एक उम्र के संग जुड़ी होती हैं, और अगर उम्र बीत जाए, और वे अनकही रह जाएँ, तो उन्हें कभी कहना नहीं होता।"[116]

अधूरी प्रेम कहानियों की दृष्टि से 'लवर्स' कहानी की चर्चा भी अपेक्षित होगी। इस कहानी में भी प्रेम की स्निग्धता और साहचर्य के कुछ प्रगाढ़ पल आते हैं और फिर थोड़ी देर में ही नियति के धुएँ में विलीन हो जाते हैं। निन्दी, जो इस कहानी का नायक है, को एक लड़की के साथ उठते-बैठते प्रेम हो जाता है। वह लड़की को एक पत्र लिखकर अपनी भावनाएँ प्रकट करता है। लड़की पत्र पढ़ने के बाद उसके प्रेम-प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। वह निन्दी से कहती है उसने उसकी दोस्ती को इस तरह से कभी नहीं देखा। वह निन्दी के प्रति सहानुभूति रखती है फिर भी उसके प्रेम-प्रस्ताव को ठुकरा देती है। लड़की निन्दी से इस बारे में कहती है - "निन्दी, सच, तुम पागल हो। ...मैंने

कभी ऐसे नहीं सोचा। नॉट इन दैट वे!"[117] और इस तरह से यह प्रेम कहानी भी अधूरी रह जाती है।

निर्मल वर्मा की कहानियों में प्रेम के अधूरेपन और उसकी विडम्बनापूर्ण स्थिति के बारे में उदयन वाजपेयी लिखते हैं - "निर्मल वर्मा के कथा-लोक में प्रेम एक विडम्बनापूर्ण स्थिति में है। ऊपर से देखने पर तो वह अकेली आत्माओं का क़रीब आना प्रतीत हो सकता है लेकिन यहाँ ऐसा होता नहीं है। ये पात्र अकेलेपन से भागने एक-दूसरे के क़रीब नहीं आते, बल्कि इसके ठीक विपरीत अपने अकेलेपन के आलोक को पाने के लिए ही ये प्रेम करते हैं।"[118]

यह ठीक है कि प्रेम के क्षण निर्मल के पात्रों के अकेलेपन को और गहरा कर देते हैं पर इसी के साथ ध्यान देने वाली बात यह भी है कि पात्र जानबूझकर अकेलापन नहीं चुनते। यह नियति ही है जो उनकी प्रेमकथा को अधूरेपन से भरती है। मनुष्य अपनी नियति से लड़ने की तो कोशिश कर सकता है पर उसका अतिक्रमण नहीं। नंदकिशोर आचार्य के अनुसार - "लेकिन अतिक्रमण परिस्थिति का तो किया जा सकता है, नियति का नहीं।"[119] निर्मल के पात्रों में अपने अकेलेपन को लेकर छटपटाहट तो है पर उससे उबरने के लिए वह कुछ ठोस नहीं कर पाते क्योंकि उन्हें यह बोध बना हुआ है - इस अकेलेपन का कोई विकल्प नहीं, क्योंकि अब आगे जिंदगी खत्म है। 'परिंदे' कहानी में ही देखें - लतिका डॉ० मुखर्जी की बातों को ध्यान से सुनती है - जिंदगी को फिर से शुरू करने के बारे में - पर अमल नहीं कर पाती, क्योंकि उसे पता है गिरीश वापस नहीं आ सकता।

निर्मल के चरित्रों को अक्सर भाग्यवादी भी कह दिया जाता है क्योंकि वह अपने अकेलेपन से लड़ने का कोई प्रयास नहीं करते। इस प्रश्न पर विचार करने से पहले नियति और भाग्य के अंतर को समझना जरूरी है। व्यक्ति का यह मानना कि उसके प्रयास से चीजें बदलेंगी नहीं, जैसी है वैसी ही रहेंगी और यह सोचकर चुप बैठ जाना भाग्य है। जबकि भावी का बोध होना यह नियति है। नियति को लेकर हमारे भीतर छटपटाहट बनी रहती है। यह जानते हुए कि भी यह भवितव्य है। इस बात को एक खूंटे में बंधी हुई गाय

के उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। गाय का खूंटे से ही बंधे रहना भाग्यवाद है। एक दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि गाय के गले में जो रस्सी बँधी है। उतने व्यास के बराबर गोले में वह घूमती रहे। इस स्थिति में गाय न तो घेरे से बाहर निकल रही है और न ही खूंटे से बंधकर खड़ी है। निर्मल के पात्रों की स्थिति कुछ ऐसी ही है। वह न तो अपनी नियति का अतिक्रमण कर पाते हैं और न ही भाग्य मान चुप बैठे रहते हैं। 'डायरी का खेल' कहानी की बिट्टो को पता है कुछ दिनों बाद टी०बी० की बीमारी से उसकी मृत्यु हो जायेगी। फिर भी उसके भीतर जीने की ललक बनी हुई है। वह कथावाचक से कहती है – "मरने से पहले बहुत जी भरकर जीना चाहिए, बब्बू।"[120]

'बुखार' कहानी में नैरेटर से एक लड़की मिलने आती है। वह उससे कुछ कहना चाहती है पर नैरेटर की खामोशी उसे कहने नहीं देती। वह कुछ देर तक उसकी ओर देखती रहती है फिर वापस स्टेशन की ओर चल देती है। लड़की के चले जाने पर नैरेटर की जड़ता टूटती है – 'वह इतनी दूर मुझसे कुछ कहने आई थीं' – विवाह प्रस्ताव के बारे में। नैरेटर को लगता है उसने कुछ खो दिया है, कोई बहुत कीमती चीज़। वह स्टेशन की ओर 'भागता' है, भागते हुए गिर पड़ता है। तब तक ट्रेन चल देती है और उनकी प्रेम कहानी अधूरी ही रह जाती है।

'एक दिन का मेहमान' कहानी का 'आदमी' अपनी पत्नी से अलग रह रहा है, भारत में। पत्नी लंदन रहती है। उनके रिश्ते तनावपूर्ण दौर से गुजर रहे हैं। एक दिन वह लंदन जाता है पत्नी के पास। बिखरे हुए रिश्तों को सहेजने के लिए। वह पत्नी को भारत चलने के लिए कहता है। वह उससे कातर प्रार्थना करता है – रिश्ते को फिर से शुरू करने के लिए। लेकिन पत्नी इसके लिए साफ़ मना कर देती है। वह कहती है – "लीव मी अलोन... इससे ज्यादा मैं कुछ और नहीं चाहती।"[121] और आदमी हताश होकर वापस चला जाता है। निर्मल के पात्र अकेलेपन की कारा से बाहर आने के लिए जब-तब छटपटाते रहते हैं। इस छटपटाहट को उनकी कई कहानियों में देखा जा सकता है। वह भी चाहते हैं किसी के साथ रहना। आत्मीयता की तलाश उनके भीतर भी है। 'धूप का टुकड़ा'

की नैरेटर कहती है – "दिन-भर मैं यह देखती रहती हूँ कि धूप का टुकड़ा किस बेंच पर है – उसी बेंच पर जाकर बैठ जाती हूँ।"[122]

अकेलेपन से मुक्ति की आकाँक्षा को 'दूसरी दुनिया' कहानी बेहद संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त करती है। कहानी का नैरेटर लंदन में बेरोजगारी के दिन काट रहा है। वहीं उसकी मुलाकात ग्रेता नाम की एक बच्ची से होती है, जिसके साथ वह दिनभर पार्क में खेलता था। ग्रेता के साथ पेड़ों के इर्द-गिर्द खेलते, कबूतरों को दाना देते हुए वह भी बच्चा बन जाता था। जैसे ग्रेता की ही उम्र का उसका कोई दोस्त हो। वह एक बच्चे की तरह टॉयलेट में बहते पानी को देखता है – "हम दोनों विस्मय से टॉयलेट में पानी को बहता देखते रहे, जैसे यह चमत्कार ज़िंदगी में पहली बार देख रहे हों।"[123] ग्रेता के संग रहते हुए वह अकेलेपन को भूल गया था। इसी कारण एक दिन अनाचक ही ग्रेता के लंदन से चले जाने पर वह उदास हो जाता है।

'माया का मर्म' कहानी का नैरेटर भी बेरोजगार है। सारा दिन अकेले इधर-उधर भटका करता है। ऐसे ही एक दिन भटकते हुए उसकी मुलाकात लता माथुर नाम की एक बच्ची से होती है। लता माथुर के साथ बतियाते-खेलते हुए वह खुद को बहुत सहज पाता है। उसे कुछ देर के लिए अकेलेपन के दंश से मुक्ति मिल जाती है। उसे लगता है पीठ से कोई बोझ उतर गया है। वह काल के बंधन से मुक्त है। अकेलेपन से मुक्ति का यह आह्लाद नैरेटर के शब्दों में देखिए – "एक क्षण...मुझे लगा कि बीते हुए दिन बीत गए हैं, बढ़ती हुई उम्र पीठ से उतर गई है। आज कल से बँधा न होकर मुझसे जुड़ा है... जो आज हूँ। सब कुछ धुली हुई सीपी में समा गया है, जिस पर कोई बोझ नहीं, कोई बाँध नहीं... जो कालातीत, सुदूर छोर पर धूप और जल की उनींदी लहरों पर गिर-उठ रहा है, गिर-उठ रहा है...।

...और मुझे लगता है, जिन्दगी कितनी हल्की है।"[124] अकेलेपन से मुक्ति की आकाँक्षा का स्वर निर्मल की 'मायादर्पण', 'वीकएंड', 'अमालिया', 'आदमी और लड़की', 'जलती झाड़ी' आदि कहानियों में भी देखा जा सकता है। इन कहानियों के पात्रों के भीतर

अकेलेपन से मुक्ति को लेकर काफी छटपटाहट बनी हुई है जिसका मार्मिक चित्रण निर्मल वर्मा ने किया है।

निर्मल वर्मा के ऊपर यह आरोप लगाया जाता है कि वह जानबूझकर अपनी कहानियों को किसी परिणति पर नहीं पहुँचाते। अगर वह थोड़ा भी हस्तक्षेप करते तो उनकी कहानियों में अकेलेपन का संत्रास और आतंक नहीं होता। उदाहरण के तौर पर 'तीसरा गवाह' कहानी में देखिए – 'अगर' नीरजा तीसरे गवाह का कुछ देर और इंतजार कर लेती तो उसकी रोहतगी के साथ शादी हो गई होती। पर वह न कर सकी। क्यों? क्योंकि निर्मल ने अपने पात्रों को काल की लय पर स्वतंत्र छोड़ दिया है। वह अपनी कहानियों को द्रष्टा भाव से देखते रहते हैं घटते हुए। जैसे कि सारा दृश्य, सारे प्रपंच एक काँच के बंद गोले में चल रहा हो जिसे सिर्फ देखा जा सकता है, काँच के दूसरी तरफ से। उसके भीतर की दुनिया में कोई दखल नहीं। ज्यादा जोर दिया तो काँच टूट जायेगा, फिर उसके भीतर की सारी दुनिया भी बह जायेगी। इसलिए कथाकार को आत्महंता होना पड़ा है। वह जानता है काँच के भीतर चल रही लीला नियतिगत है। नियति का विकल्प प्रस्तुत करना स्वयं कथाकार के भी हाथों में नहीं है। इसलिए निर्मल साक्षी भाव से काँच के बंद गोले के भीतर की लीला को देखते रहते हैं। उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करते। इस बहस का एक पहलू यह भी है कि एक श्रेष्ठ कथा वही होती है जिसमें लेखक अपनी ओर से कम से कम हस्तक्षेप करे। चरित्रों का स्वतंत्र विकास होने दे। निर्मल की कहानियाँ इस मानदण्ड पर खरी उतरी हैं।

संक्षेप में नियति मनुष्य को किस तरह अकेला कर देती है, उसकी प्रेमयात्रा कैसे अधूरी रह जाती है, संबंध कैसे चाहकर भी नहीं जुड़ पाते, इन सबका मार्मिक अंकन निर्मल ने अपनी कहानियों में किया है। इसके साथ ही अकेलेपन और अधूरेपन से मनुष्य की मुक्ति की आकाँक्षा को भी उन्होंने चित्रित किया है।

निर्मल की कहानियाँ : शिल्प

निर्मल ने अपनी कहानियों की संवेदना के अनुरूप ही शिल्प को गढ़ा है। निर्मल का कथा-शिल्प भावों को अधिक तीव्र रूप में ग्राह्य बनाता है। वह अपनी संवेदना को जिस कलात्मक रचाव के साथ प्रस्तुत करते हैं वाकई वह बहुत मुग्धकारी है। सूक्ष्म भावों के बारीक-से-बारीक रेखाओं को उभारना, गंध, स्पर्श, वर्ण, ध्वनि के सुंदर बिंब, कदम-कदम पर उपमाएं, विशेषणों का प्रयोग, प्रतीकों का सार्थक प्रयोग, भाषा की लयात्मकता उनके शिल्प की विशेषताएँ हैं।

भाषा - निर्मल की भाषा अपने पूर्ववर्ती कहानीकारों की भाषा से भिन्न तेवर लिए हुए है। वह न तो संस्कृत की ओर झुकी हुई है, जैसाकि जैनेन्द्र और अज्ञेय की भाषा में देखने को मिलता है, न ही हिन्दुस्तानी की ओर जैसा प्रेमचंद की है। निर्मल की भाषा संस्कृत के भारी भरकम, सामासिक शब्दों से तो मुक्त है ही वह साधारण बोलचाल के नितान्त हल्के और रूखे शब्दों से भी मुक्त है। अर्थात् वह बिल्कुल तद्भव प्रधान भी नहीं है। उर्दू का प्रभाव उसमें नहीं के बराबर है। निर्मल की भाषा, अँग्रेजी के शब्दों और वाक्यों का प्रयोग होने के कारण नागर भाषा का रूप लिये हुये है। पर अँग्रेजी का प्रयोग कहीं से भी आरोपित नहीं है। वह परिवेश के ही अनुकूल है। उनकी अधिकतर कहानियों का प्लाट शहर केन्द्रित है और चरित्र भी शहरी जीवन के, अतः भाषा में नागर प्रभाव होना स्वाभाविक ही है। निर्मल की भाषा बहुत ही सहज, साफ़, जीवंत और आत्मीय है। आत्मीयता से भरी होने के कारण वह हर वर्ग के पाठक को अपने बहुत करीब लगती है। पाठक भाषा से अन्तरंगता स्थापित कर लेता है। निर्मल की भाषा कहानी के कथ्य के अनुकूल ही काफी संवेदनशील है। वह अपनी भाषा में शब्द की संवेदना के प्रति काफी सजग दिखाई देते हैं। उनकी भाषा परिवेश, चरित्र और भावों के अनुकूल है। भाव और भाषा की अंतरंगता निर्मल की कहानियों की विशिष्टता है। निर्मल की कहानियों में अकेलेपन, उदासी, दुख, वेदना, अतृप्ति आदि विभिन्न अनुभूतियों को व्यंजित करते बहुत से

शब्द मिल जायेंगे। पाठक के मन में इन अनुभूतियों को तीव्र रूप से जगाते अनगिनत बिंब, उपमाएँ, विशेषण निर्मल की भाषा का आकर्षण हैं।

निर्मल जब अँधेरे का जिक्र करते हैं तो सिर्फ कहने के लिए ही नहीं अँधेरा सचमुच मूर्त होने लगता है। यह निर्मल का ही भाषा सामर्थ्य है कि पाठक उनके चरित्रों की अनुभूतियों का साझीदार बन जाता है। 'लंदन की एक रात' कहानी में आतंक और त्रास को भाषा कैसे जीवंत करती है। इस उदाहरण में देखिए –

"कहाँ गई तुम्हारी डार्लिंग? – उसने झटके से विली की ठुड्डी को ऊपर उठा दिया।

– बोलो, कहाँ गई?

हर बार 'कहाँ गई' कहते समय वह विली के सिर को दीवार पर धकेल देता था... हर बार विली की देह एक शराबी की तरह झूम जाती थी।

और वे हँस रहे थे...

– बैश हिम देयर! दूसरे ने अपने... की ओर इशारा किया। खट-खट सिर के दीवार से टकराने की आवाज़। खट-खट मेरे दिल की पगली ज्वर-ग्रस्त धड़कन। पसीने और खून से लिथड़ी विली की कमीज़ और एक अनवरत, कभी न खत्म होने वाली खट-खट और एक भुतैली-सी हँसी...।"[125]

यहाँ खट-खट की ध्वनि किसी को भी विचलित कर देने में समर्थ है। इसके साथ ही यह पंक्तियाँ रंगभेद की पीड़ा की भयावह तस्वीर भी प्रस्तुत करती हैं।

'डायरी का खेल' कहानी से अनकहे दर्द को व्यक्त करती हुई मार्मिक भाषा का एक उदाहरण देखिए – "उसका स्वर इतना सहज, इतना शान्त था कि कितनी ही देर तक मैं जान भी नहीं सका कि बिट्टो रो रही हैं, अपने ही में, धीमे-धीमे... आँसू जो बिल्कुल ठंठे, वंचनारहित होते हैं, जिनको बहाने से रोना नहीं होता, दुख से छुटकारा नहीं मिलता, जो हृदय को एक मर्मान्तक, घनीभूत पीड़ा में निचोड़ते हुए चुपचाप बूँद-बूँद गिरते हैं...।"[126]

प्रेम की स्निग्धता और आत्मीयता को व्यक्त करते हुए निर्मल की भाषा कितनी रागात्मक, सहज और साफ़ हो जाती है, यह 'बुखार' कहानी की इन पंक्तियों में देखिए – "आपके जाने के बाद मैं अपने बारे में सोचती रही, मेरे साथ ऐसा पहले कभी नहीं हुआ कि मैं दूसरे को लेकर अपने बारे में सोचूँ... जबकि वह कब का वहाँ से जा चुका हो। मैं जब भी शाम को दूध लेने जाती हूँ, तो मुझे ढाबे की बेंच को देखकर लगता है कि आप वहाँ थे और तब मुझे कुछ ऐसी खुशी-सी होती है कि मैं आपसे कह भी नहीं सकती।"[127]

भावानुकूल भाषा का एक सुंदर उदाहरण 'बीच बहस में' कहानी में दिखता है जहाँ पिता-पुत्र के तनावपूर्ण संबंधों की झलक उनकी भाषा में मिलती है। पिता-पुत्र के संवाद यहाँ आवेश से भरे हुए हैं। देखें –

"बहस आप कर रहे हैं, या मैं कर रहा हूँ?" वह उचककर बैठ गया, जुबान लड़खड़ाने लगी, "आपको हमेशा मेरी चिन्ता लगी रहती है। आप यह नहीं जानते कि आप कितनी बार सोते हुए पलंग गीला कर देते हैं।" ---

"ये नर्से किसलिए हैं?" बूढ़े ने हिकारत भरे स्वर में कहा – पुरानी अफसरी का स्वर उनसे पूरी तरह छूटा नहीं था, हालाँकि दफ्तर से वह मुद्दत पहले रिटायर हो चुके थे।

"आप..." गुस्से में उसका स्वर रुआँसा हो आया –

"आप समझते हैं, वे घर की लौंडिया हैं, जो रात-भर आपकी चादरें बदलती रहेंगी?"[128]

इस तरह निर्मल की कहानियों में भावानुकूल भाषा के कई स्तर देखें जा सकते हैं। भाव के अनुरूप ही शब्द और वाक्य की भंगिमा इनकी भाषा की सबसे बड़ी विशिष्टता है।

निर्मल की भाषा सूत्रात्मक भी है। सूत्रात्मकता के कारण भाषा को एक विशेष अर्थवत्ता प्राप्त हुई है। इनकी कहानियों में जीवन का गहरा अनुभव छोटी-छोटी सूक्तियों के रूप में ढलकर प्रस्तुत हुआ है। ये सूक्तियाँ उनके गहन चिंतनशील मानस की परिचायक हैं। सूत्रात्मक भाषा के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं –

"दुख में कोई डर नहीं होता, किन्तु जिसे हम सुख कहते हैं, वह हमेशा डरों से घिरा आता है।"[129]

"हममें शायद 'कुछ' ऐसा है, जो हमेशा अनकहा रह जाता है, जो मौन की एकान्त छाया में पलता है, और वहीं चुपचाप झर जाता है।"[130]

"सोते हुए प्राणी को ढँकना उतना ही अनिवार्य जान पड़ता है, जितना मरे हुए आदमी की आँखे मूँदना।"[131]

"बन्द करने के लिए कितनी चाभियाँ हैं, खोलने के लिए एक भी नहीं।"[132]

निर्मल की कहानियों में शब्द-चयन - निर्मल की कहानियों में खड़ी बोली हिन्दी के शब्द, संस्कृत के प्रचलित शब्द, उर्दू के हिन्दी में प्रचलित शब्द और अँग्रेजी के शब्दों का प्रयोग हुआ है। निर्मल की भाषा चूंकि नागर भाषा है इसलिए उसमें खड़ी बोली हिन्दी के शब्दों और अँग्रेजी के शब्दों का प्रयोग बहुतायत से हुआ है। उनमें लोक-भाषा के शब्दों का प्रयोग लगभग नहीं के बराबर हुआ है।

संस्कृत शब्द - निर्मल ने संस्कृत के उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है जो भाषा में स्वाभाविक ढंग से आये हैं। उन्होंने संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से अपनी भाषा को बचाया है। यह शब्द हैं - विकृत, निर्विकार, प्रतीक्षा, कृतज्ञ, अकस्मात्, निस्तब्ध, स्वप्निल, मेघाच्छन्न, उद्भ्रान्त, लावण्य आदि।

उर्दू शब्द - निर्मल ने उर्दू के शब्दों का प्रयोग हिंदी की जातीय प्रकृति के अनुरूप किया है। वह हिंदी के स्वरूप में खप गये हैं - ग़लतफहमी, लहजा, दहलीज़, परिन्दे, स्याह, इमारत, खुशबू, मुलाकात, दायरा, निगाह, मुआवजा आदि।

अँग्रेजी शब्द - चूंकि निर्मल के पात्र उच्च मध्य वर्ग से आते हैं, अतः भाषा में स्वाभाविकता लाने के लिए उन्होंने अँग्रेजी शब्दों और वाक्यों का खुलकर प्रयोग किया है - रिव्यू, वैकेंसीज, कम्पीटीशन, कालर-बोन, काउच, पिक्चर पोस्टकार्ड, स्लो-फॉल, होम-सिक्नेस, चैपल, टैरेस, वीपिंग विलोज़, मीडोज़, फियान्स, कंसर्ट, पब, बार, डांसिंग-फ्लोर, समर-स्कर्ट, स्लीपिंग-किट, सिमिट्री, क्यूबिकल, बेसमेंट, साइक्लोस्टाइल,

इनलैंड, डेलीगेट, सेलीब्रेट, टर्मिनल, वीकएंड, ट्राम, एलोन, शेल्फ, ग्रामोफोन, वेटिंग रूम, पैरम्बुलेटर, स्क्वॉयर, नियोन-लाइट, पूल, प्रिमिटिव, ट्यून, ऐक्स्ट्रा, समर-हाउस, पिटीशन, टाइटिल, स्टेटमेंट, प्रोफाइल, मिस्ट्री, एप्रन, प्राइवेसी, स्लीव्स, कैफेटेरिया, सर्विर्सिंग, शॉवर।

निर्मल के कुछ विशिष्ट शब्द-प्रयोग - रूआँ-सा, भरमाती, ललाहट, सोनाली, गँदले, उनींदी, भुतैली, उन्नाबी, बिछल, धुँधलका, अकबकाकर, अनझिप, धुँधआती, गर्मीली उसाँस, बनैला, चाहना, तिरती, सिरसिराता, टिसटिसाने आदि।

विशेषणों का प्रयोग - निर्मल ने विशेषणों के प्रयोग से कुछ नये शब्दों का भी निर्माण किया है - जिससे भाषा का सौंदर्य निखर उठा है और अनुभूतियाँ स्पष्ट रूप से संप्रेषित हुई हैं - पतझर का हरा आलोक, नीला अँधेरा, फीका आलोक, नीला उजला अँधेरा, पगली सी आकाँक्षा, बोझिल चुप्पी, पीले करारे पत्ते, उज्ज्वल आलोक, कांपती हवा, बनैला आतंक, सहमा-सा सन्नाटा, शाम का बुझा बुझा सा पीलापन, चुनचुनाता-सा दर्द, बेचैन सिसकी, कच्ची रोशनी, गड़गड़ाता स्वर, भूरी मिट्टी, गुलाबी बादल, धुँधली सी छाया, फटी-फटी सी कराहट, गिलगिली-सी गन्ध, मुरमुराई-सी गन्ध, मैली पीली धूप, तितीरी धूप, निस्पन्द-सी धूप, पतझड़ी धूप, धूमिल छाया, करारी हवा।

लय - निर्मल की कहानियाँ अपनी लयात्मकता के कारण विशेष प्रभावित करती हैं। लयात्मकता के कारण ही उनकी भाषा में संगीत का प्रभाव पैदा होता है। कहानियों में लय की सृष्टि उन्होंने कई स्तरों पर की है। शब्दों का उचित विन्यास और उनकी सही पहचान, वाक्य का विशिष्ट संयोजन, विराम चिन्हों के प्रयोग में अतिरिक्त सजगता आदि के द्वारा वह कहानी को अपूर्व लयवत्ता से भर देते हैं।

निर्मल की भाषा में स्वर और व्यंजन का विशिष्ट प्रयोग देखने को मिलता है। वह संवेदना के अनुरूप ध्वनियों को पकड़ते हैं और उन्हें वाक्य की संरचना में इस तरह गूंथते हैं कि वह लयात्मक हो जाता है। निर्मल अपनी भाषा में शब्द की संवेदना के प्रति कितने जागरुक हैं इसे सहज ही देखा जा सकता है। शब्द की सही पकड़ से वाक्य में कैसे लय भरी जाती है। यह कुछ उदाहरणों में देखिए - "दोपहर की नींद के कच्चे कगारों पर ये

आवाज़ें, हल्की लहरों जैसी थप-थप टकराती हैं। ...तरन अकबकाकर जाग गई।"[133] पानी की लहर जब किनारे से टकराती है तो थप-थप की आवाज़ करती है। कुछ इस तरह से जैसे वह 'किनारे' को जगा रही हो अपनी थप-थप द्वारा। यहाँ भी तरन अकबकाकर जाग जाती है। इस दृश्य को बहुत ही लयात्मक भाषा में निर्मल ने मूर्त किया है।

शब्द का ऐसा ही एक कलात्मक प्रयोग उन्होंने 'जाले' कहानी की इन पंक्तियों में किया है - "वहाँ जहाँ से आग की लपट उठ रही थी, हवा में धुँआ सिरसिराता था, झाड़ियों से चिड़ियाँ उड़ती थीं... वहाँ जहाँ कमरे की गरमाई थी, रोटी की सोंधी गन्ध, जहाँ सब कमरे खुले थे...

जहाँ से गुज़री हुई जिन्दगी को आना था।"[134]

इन पंक्तियों में शब्दों का क्रम इस तरह से विन्यस्त किया गया है जो कि लय का सृजन करते हैं। इसी तरह हवा में धुएँ के फैलने के लिए 'सिरसिराना' शब्द का प्रयोग भी लय की दृष्टि से बिल्कुल सार्थक है।

कुछ विशिष्ट शब्द प्रयोगों के द्वारा वह सामान्य स्थितियों को भी लयात्मक भंगिमा में प्रस्तुत करते हैं। देखें -

"सुबह की बची नींद पलकों पर फड़फड़ाने लगी।"[135]

"किन्तु जब कभी मेह बरसने लगता है और कमरे में रूआँ-रूआँ-सा धुँधलका घिर आता है, तब आज की तरह सिगरेट पीने के बहाने बाहर निकल आता हूँ।[136]

"कुछ भी नहीं हिल रहा था, न झाड़ी, न पत्ता, न पेड़। कभी-कभी जंगल के भीतर से एक गर्म उसाँस-सी निकलती थी, सिर-सिर करती एक सीटी बजाती थी।"[137]

निर्मल ने वाक्य की संरचना भी लय की दृष्टि से की है। उनके यहाँ वाक्यों की प्रकृति एक जैसी नहीं मिलेगी। अर्थात् समान लम्बाई के वाक्य नहीं है। उनमें काफी उतार-चढ़ाव है। एक ही अवतरण में कई तरह के वाक्य। छोटे-बड़े। फिर थोड़े छोटे, और छोटे, उसी क्रम में अचानक एक बड़ा सा वाक्य। वाक्यों का यह क्रम एकरसता से तो

बचाता ही है, लय भी भरता है। निर्मल की कथा-भाषा में यह प्रवृत्ति खूब देखने को मिलती है। एक उदाहरण देखें -

"न, वह ऐसे नहीं लेटेगी। इस बार नितिन ने चारों ओर देखा। कोई स्वर नहीं। सिर्फ दूर किसी छत से कीर्तन-करतालों की गूँज तिर आती है। सोई, थकी-सी आवाज़ें। एक छत से दूसरी छत पर उड़ती है एक गुनगुनी-सी गूँज, गीले कोयलों के धुएँ की मानिन्द। बीच-बीच में हारमोनियम...। आश्वस्त होकर चप्पल उतारी। लूसी को गोद में लेकर स्वयं गद्दे पर लेट गए नितिन भाई।"[138]

इसी तरह कुछ अवतरणों में वाक्य क्रमशः छोटे से बड़ा होता जाता है। वाक्य का यह संयोजन भी लय भरता है। देखें - "वह जा रही थीं। मैं उन्हें देख रहा था। उनके हाथ में पीतल का बर्तन झूल रहा था। शाम की पीली धूप में चमचमा रहा था। वह रूँधे, संभलते क़दमों से उस लाइन के पीछे जा खड़ी हुई, जो मिल्क बूथ की खिड़की के आगे लगी थी। फिर उन्होंने सिर मोड़कर मुझे देखा और मुस्कुराने लगीं... एक अजीब आश्वासन-भरी मुस्कुराहट जिसे देखकर मैं कुछ भयभीत-सा हो गया, जैसे किसी के अनगढ़, औघड़ हाथों में कोई बहुत नाजुक-सी बेशक़ीमती चीज़ आ जाती है और उसे डर लगता है, जब वह कहीं उसकी पकड़ से छूटकर टूट न जाए।"[139]

निर्मल विराम-चिन्हों के प्रयोग द्वारा भी भाषा को लयात्मक बनाते हैं। किस वाक्य में कहाँ थोड़ा सा रूकना है, कहाँ अंतराल का प्रयोग करना है, कहाँ प्रवाह के साथ आगे बढ़ जाना है इसके प्रति वह काफी सजग हैं। यति और गति के इस संयोजन द्वारा भाषा में अपूर्व लयात्मकता की सृष्टि हुई है। देखें -

"वह मेरी ओर देख रही है - निन्दी, तुम... - उसने आगे कुछ कहा, जो बहुत धीमा था। मैंने उसकी ओर देखा। उसने अपनी दो उँगलियों में रूमाल कसकर लपेट लिया था - निन्दी, सच, तुम पागल हो! ... मैंने कभी ऐसे नहीं सोचा। नॉट इन दैट वे!"[140]

शब्दों और वाक्यांशों की आवृत्ति द्वारा भी निर्मल ने भाषा में लय पैदा किया है। शब्दों, एक जैसी मात्राओं, और वाक्यांशों की पुनरुक्ति भावों को क्रमशः सघन करती जाती हैं और वे एक लय में मन के भीतर खुलती हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं - "...वह कहता था, वह सुनती थी ...घर कहीं न था, इसलिए घर की आवाज़ अच्छी लगती थी। इस आवाज़ में धूप होती थी।"[141]

"...फिर चुनचुनाता-सा दर्द, दर्द को काटती एक साँस, साँस पर उमड़ती हुई एक निहायत बेचैन सिसकी और सिसकी को रास्ते में ही तोड़ती वह चीख...।"[142]

"वह फ्रॉक नीची करके खुबानियाँ बिखेर देती है, कच्ची, पक्की खूबानियाँ हैं, हरी, पीली, कुछ-कुछ लाल...।"[143] इस वाक्य में क्रमशः कच्ची, पक्की फिर हरी, पीली में दीर्घ ई की मात्रा की आवृत्ति द्वारा लय पैदा की गयी है।

वाक्यांश की आवृत्ति द्वारा लय का एक उदाहरण देखें -

"लतिका... सुनो..." गिरीश का स्वर कैसा हो गया था!
"ना, मैं कुछ भी नहीं सुन रही।"
"लतिका... मैं कुछ महीनों में वापस लौट आऊँगा..."
"ना... मैं कुछ भी नहीं सुन रही...।"[144]

निर्मल की भाषा में संगीत प्रायः मध्यम लय में आगे बढ़ता है। बजते-बजते थोड़ी देर के लिए रुकता है फिर एक स्ट्रोक के साथ तेजी से आगे बढ़ता है। यहाँ पर भाषा द्रुत विलम्बित राग को साधती है। इसका उदाहरण पात्रों के आपसी संवाद में देखा जा सकता है। जहाँ दो पात्र बहुत ही मध्यम लय में एक दूसरे से कुछ कहते हैं फिर कुछ पल के लिए मौन हो जाते हैं और रुका हुआ संगीत फिर एक स्ट्रोक के साथ थोड़ी सी तेज लय में बजने लगता है। 'सूखा' कहानी में नैरेटर और डॉ० देव की बातचीत में इस राग को लक्ष्य किया जा सकता है। कहानी के एक प्रसंग में नैरेटर डॉ० देव से पूछती है -

"लोग आपको आपकी किताबों से जानते हैं - इसमें आपको बुरा क्यों लगता है?

वह नीरव आँखों से झील को देखते रहे, जिसका एक हिस्सा चाँदनी में खुल गया था। कुछ देर तक सिर्फ़ टिड्डों और झींगुरों का स्वर सुनाई देता रहा... फिर उनकी आवाज़ सुनाई दी।

'बुरा नहीं लगता, सिर्फ ग़लतफ़हमी का एहसास होता है।'

"मैं समझी नहीं... ग़लतफ़हमी कैसी?

'मुझे लगता है, मैं कोई पार्ट खेल रहा हूँ। अकेले कमरे में जो आदमी लिखता है वह...' एक क्षण वह झिझके जैसे कुछ टटोल रहे हों, 'वह उससे बहुत अलग है, जिसे कल पेपर पढ़ना है जो...जो...जो... आपके सामने बैठा है।"[145]

इस अवतरण में बातचीत का रुक-रुक कर चलना बहुत ही अर्थ-गर्भित है। यह प्रसंग डॉ० देव के भीतर की पीड़ा को उभारता है।

'कव्वे और काला पानी' में नैरेटर और उसके भाई के बीच के संवाद में भी संगीत का यही लहजा चलता है। एक अंश देखिए - जब नैरेटर भाई से काफी दिनों बाद घर पर चिट्ठी भेजने का कारण पूछता है -

"फिर इतने दिनों बाद चिट्ठी भेजने का क्या फायदा था? मैंने पूछा। वे कुछ देर चुप खड़े रहे। 'हाँ', शायद नहीं भेजनी चाहिए थी लेकिन...' उन्होंने अँधेरे में एक लम्बी साँस ली।

'मुझे दस साल लगे कि तुम्हें कुछ लिख सकूँ; मैंने सोचा अब तुम्हें कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि मैं जीवित हूँ या नहीं..."[146]

बिंब - बिंब शब्द अंग्रेजी के इमेज (Image) शब्द का हिंदी रूपांतरण है। इसका अर्थ है किसी पदार्थ या भाव को मूर्त रूप प्रदान करना। उसे चित्रबद्ध करना अथवा मानसी प्रतिकृति उतारना। बिंब शब्दों से निर्मित वह चित्र है जो कवि की अनुभूति को पाठक तक सम्प्रेषित करता है। डॉ० अमरनाथ के अनुसार "ऐसी रूप-योजना जो मन के समक्ष वर्ण्य-वस्तु को प्रत्यक्ष कर दे, बिंब कहलाती है।"[147]

सी०डी० लेविस के अनुसार – "Image is a picture made of words"[148] (बिंब शब्दों से निर्मित आकृति है।) बिंब विधान के लिए कल्पना, स्मृति, भावोद्रेक, ऐन्द्रिकता का होना मुख्य है। बिंब के कई वर्गीकरण किये गये हैं जिसमें ऐन्द्रिय आधार पर किया गया वर्गीकरण मुख्य है। इसके पाँच भेद माने गये हैं – 1. दृश्य (चाक्षुष बिंब), 2. श्रव्य बिंब, 3. स्पृश्य बिंब, 4. गंध बिंब, 5. स्वाद बिंब।

संक्षेप में बिंब–विधान का कार्य है किसी वर्णन को बिंबों द्वारा चित्रमय बना देना कि वह हमारी आँखों के सामने जीवंत हो उठे। इस तरह बिम्ब का कार्य है वर्णन एवं भाव को रूप और आकार देना।

निर्मल की कहानियों की भाषा की एक प्रमुख विशेषता उसकी बिंबधर्मिता है। इनकी कहानियों में जितने सघन ऐन्द्रिय बिम्ब मिलते हैं, वह हिंदी कहानी में दुर्लभ हैं। स्पर्श, वर्ण, गंध, श्रव्य के अनगिनत बिंब। वह इन बिंबों के द्वारा अमूर्त अनुभूतियों को भी ऐसी प्रभावशाली अभिव्यक्ति देते हैं कि वे हमारे समक्ष मूर्तिमान हो उठती हैं। निर्मल का पाठक गिरती हुई चाँदनी, उड़ते हुए पत्तों, बर्फ के फाहों और दुधैले धुएं के बीच अपनी उपस्थिति पाता है। यह निर्मल ही है जो कमरे के बेसमेंट की गंध तक को पहचान लेते हैं और आखिरी धूप के टुकड़े को कमरे में खरगोश की तरह दुबका हुआ देख लेते हैं। उनकी कहानियों से वर्ण बिम्ब के कुछ नयनाभिराम उदाहरण प्रस्तुत हैं –

"सुरमई रंग के बादल नीचे झुके आ रहे हैं। टैरेस के पीछे पहाड़ियाँ काली, भूरी–सी हो गई हैं।"[149]

"काली देवी के मंदिर के आस–पास फीके गुलाबी धुएँ का बादल क्षण–प्रतिक्षण गाढ़ा होने लगा था।"[150]

"सामने पहाड़ी के ऊपर पेड़ों की एक लम्बी कतार चली गई है। उसके पीछे डूबते सूरज की पीली, गुलाबी, सोनाली छायाएँ आकाश पर खिंच आई हैं।"[151]

वर्ण बिंब द्वारा असान्न मृत्यु की छाया की कल्पना देखिए 'डायरी का खेल' कहानी से – "क्षुब्ध कुहासा – धूल की तहों में दबा, लिपटा पीलापन – अजीब भुतैली–सी थकी–थकी चाँदनी, जो ईंटों की टूटी दीवार पर गिर रही है... बिट्टो के सारे शरीर पर – बिट्टो की आँखों, बाँहों, बालों की लटों पर गिर रही है..."[152]

स्पर्श, वर्ण और ध्वनि का एक संश्लिष्ट बिंब प्रस्तुत है – "परदे के रिंग चाँदनी में बड़े–बड़े छल्लों से चमक रहे हैं और जब हवा चलती है, तो धीरे से खनखना उठते हैं।"[153]

ध्वनि बिंब के कुछ उदाहरण –

उदासी को व्यंजित करता ध्वनि बिंब –

"कॉन्वेंट स्कूल के बाहर फैले लॉन से झींगुरों का अनवरत स्वर चारों और फैली निस्तब्धता को और भी अधिक घना बना रहा था।"[154]

"बाहर बूँदाबाँदी होने लगी थी – कमरे की टीन की छत खट–खट बोलने लगी।"[155]

मृत्युबोध को गहराता हुआ ध्वनि बिंब – "कोठरी के नीचे कव्वों की काली कतार उतर रही थी – अपनी कर्कश चीखो से समूचे वायुमंडल को थरथराती हुई।"[156]

गंध बिंब के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं –

"हवा में खत्म होती गर्मियों की गन्ध थी – एक सोनाली सी गन्ध, जो उन दिनों समूचे शहर में तिरती रहती थी।"[157]

"थोड़ी सी बारिश की बूँदे छत की धूल को समेट लेतीं और एक सोंधा, दुधैला–सा धुआँ हवा में उड़ने लगता।"[158]

"मेरा चेहरा बानो के सिर पर टिका है। मेरे मुँह के जरा नीचे बानो के अखरोटी रंग के बाल हैं, उन बालों की गन्ध पानी में भीगी मिट्टी की गन्ध से मिलती है।"[159]

"एक नशीली-सी गन्ध उसे घेरने लगती, नर्सों के उतरे हुए कपड़ों से आती हुई, जिन्हें वे काउच पर छोड़ जातीं।"[160]

स्पर्श बिंब के उदाहरण - "वह खिड़की से बाहर देखने लगा, लड़की की गरम साँसे उसके गालों को सहलाने लगीं।"[161]

आत्मीयता की गरमाहट का अहसास कराता यह स्पर्श-बिंब देखिए - "अचानक मेज़ पर टिके मेरे हाथ पर उन्होंने अपना हाथ रख दिया, किसी नर्म-सी आँच में सुलगता हुआ, पहली बार अपनी देह में मेरी देह को टोहता हुआ।"[162]

देह का स्पर्श स्मृति को कैसे जगाता है इसका एक बिंब देखिए - "उनके हाथों की छुअन मेरी देह में घूमने लगी, एक शिकारी की तरह मेरी शिराओं में किसी दुबकी हुई याद को टोहती हुई - बीता हुआ स्नेह अँधेरे में जगमगा-सा उठा।"[163]

निर्मल की कहानियों में उपमाओं का सुंदर प्रयोग हुआ है। उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिए बहुत सी अनूठी उपमाएं दी हैं, जिनसे उनकी रचनात्मक सामर्थ्य का पता चलता है। प्रकृति के सौंदर्य को उकेरती कुछ विशिष्ट उपमाओं का प्रयोग देखिए -

"खिड़की के बाहर कहीं आकाश नहीं था, केवल गर्द की चादर थी, जिसके पीछे सूरज मैले आईने में बुझते दीये-सा जल रहा था।"[164]

"अल्मोड़ा की ओर से आते हुए छोटे-छोटे बादल रेशमी रूमालों से उड़ते हुए सूरज के मुँह पर लिपट से जाते थे, फिर हवा में बह निकलते थे।"[165]

"खिड़की खोलकर बाहर झाँका, तो न धुन्ध, न कोहरा, लन्दन का आकाश नीली मखमली डिबिया-सा खुला था, जिसमें किसी ने ढेर-से तारे भर दिये थे।"[166]

चेहरे पर छाई उदासी की उपमा - "माथा बहुत छोटा था और आँखों के नीचे हल्के नीले गड्ढे थे, मानो बहुत-सी जगी हुई रातें उन गड्ढों में घुलती गई हों।"[167]

आंसू की उपमा – "उन्हें देखते ही वह आँखे मूंद लेती, इतनी कसकर भींच लेती कि पलकों की छत पर काली-सफेद बुंदकियाँ चमकने लगतीं – जैसे धूप में बारिश की बूँदे झर रही हों...।"[168]

निर्मल की भाषा चित्रात्मक भी है। बिंबों और उपमाओं के प्रयोग से स्थितियाँ और अनुभूतियाँ दृश्यों के रूप में साकार हो उठी हैं। वह बारीक से बारीक रेखाओं को भी उभारने का कौशल जानते हैं। चाहे देह का सौंदर्य हो या प्रकृति का कोई दृश्य उसे वह चित्र रूप में आँखों के समक्ष जीवंत कर देते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं –

"मैं उसकी बाँहों को देख रहा हूँ। प्लास्टिक की चूड़ी और ज़्यादा नीचे खिसक आई है। उसका निचला हिस्सा प्याले की कॉफ़ी में भीग रहा है, भीग रहा है और चमक रहा है।"[169]

बाहर पेड़ की छाया बाबू के तकिए पर गिर रही थी... हवा में डोलते हुए कभी-कभार खून पर जा गिरती, लाल बूँदों के बीच जैसे कोई बड़ी तितली फँस गई हो।"[170]

"बाईं ओर पुराने किले के टूटे पत्थर थे, धूप में सोते-से। सामने ऊबड़खाबड़ मैदान था, जिसे बाढ़ के दिनों में जमुना भिगो गई थी, और जहाँ चूने-सी सफेदी बिछल आई थी।"[171]

प्रतीक – प्रतीक किसी सूक्ष्म भाव, विचार या अमूर्त तत्व को साकार करने वाला शब्द चिन्ह है। डॉ० भगीरथ मिश्र के अनुसार "अपने रूप, गुण, कार्य या विशेषताओं की समानता या प्रत्यक्षता के आधार पर जब कोई वस्तु या कार्य किसी अप्रस्तुत वस्तु, भाव, विचार, क्रियाकलाप, देश, जाति, संस्कृति आदि का संकेत या प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रकट किया जाता है, तब वह प्रतीक कहलाता है।"[172] जैसे सिंह वीरता का प्रतीक है, गीदड़ कायरता का प्रतीक है। सुल्तान अहमद प्रतीक के विषय में लिखते हैं – "रचनाकार प्रतीकों का प्रयोग अव्यक्त एवं सूक्ष्म अनुभूतियों को मूर्त्त अभिव्यक्ति देने के लिए, उन्हें एक विशाल परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने के लिए रचना को मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक बनाने

के लिए तथा अभिव्यंजना में नूतन प्रयोग कर सौंदर्यानुभूति को अभिव्यक्त एवं विकसित करने के लिए करते हैं।"[173] संक्षेप में प्रतीक अप्रस्तुत का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रस्तुत विधान को कहते हैं। प्रतीक मन में किसी भाव को तीव्र रूप से जाग्रत कर देता है। प्रतीकों के कई भेद होते हैं। इनमें प्रमुख हैं - पारम्परिक प्रतीक, साम्प्रदायिक प्रतीक, आध्यात्मिक प्रतीक, सांस्कृतिक प्रतीक, प्रकृति परक प्रतीक, वैयक्तिक प्रतीक आदि।

निर्मल वर्मा की कहानियों में प्रतीकों का सार्थक प्रयोग हुआ है। जिनके द्वारा सूक्ष्म संवेदनाओं को प्रभावशाली ढंग से मूर्त किया गया है। निर्मल ने अपनी कहानियों में अधिकतर निजी प्रतीकों का प्रयोग किया है जो परम्परा से मुक्त हैं। उनमें प्रकृतिपरक प्रतीक अधिक प्रयुक्त हुए हैं।

निर्मल की कहानियों के शीर्षक प्राय: प्रतीकात्मक है। निर्मल की 'परिन्दे' कहानी अपनी प्रतीकात्मकता के लिए काफी चर्चित हुई। इस कहानी में परिंदे उन प्रवासी और विस्थापित प्राणियों के प्रतीक हैं, जो अपनी-अपनी जगहों से टूटकर एक पहाड़ी स्थान पर एकत्र हो गये हैं। कहानी के पात्र लतिका, डॉ० मुकर्जी और मिस्टर ह्यूबर्ट परिंदे ही हैं जो अपनी-अपनी जगहों से उड़कर इस पहाड़ी स्टेशन पर एकाकी जीवन बिता रहे हैं। निर्मल ने 'परिंदे' के प्रतीक द्वारा इनकी विवशतापूर्ण नियति को मार्मिकता के साथ चित्रित किया है। परिंदे तो एक जगह बसेरा करने के बाद दूसरी जगह को उड़ जाते हैं। पर कहानी के यह पात्र ऐसे परिंदे हैं जो कहीं नहीं जा पाते बस उसी पहाड़ी स्टेशन पर भटकते रहते हैं। यह सिर्फ प्रवासी ही नहीं, विस्थापित भी हैं। लतिका उड़ते हुए परिंदों को देख सोचती है - "हर साल सर्दी की छुट्टियों से पहले ये परिन्दे मैदानों की ओर उड़ते हैं, कुछ दिनों के लिए बीच के इस पहाड़ी स्टेशन पर बसेरा करते हैं बर्फ के दिनों की, जब वे नीचे अजनबी, अनजाने देशों में उड़ जाएँगे...

क्या वे सब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं? वह, डॉक्टर मुकर्जी, मि० ह्यूबर्ट - लेकिन कहाँ के लिए, हम कहाँ जाएँगे.."[174]

'अँधेरे में' कहानी माता-पिता के तनावपूर्ण संबंधों के बीच जी रहे बच्चे के संत्रास का प्रतीक है। 'अंतर' कहानी प्रेम संबंधों में आये अंतर का प्रतीक है। 'वीकएंड' स्वच्छंद प्रेम-संबंध का प्रतीक है। 'दो घर' कहानी मनुष्य की विडम्बना और आत्म निर्वासन का प्रतीक है। 'धूप का टुकड़ा' कहानी आत्मीयता की तलाश का प्रतीक है। 'धागे' कहानी उलझे हुए रिश्तों की प्रतीक है। 'जाले' कहानी मनुष्य के जीवन में छाये मृत्यु के संत्रास का प्रतीक है। 'टर्मिनल' कहानी प्रेम-यात्रा की दुख समाप्ति का प्रतीक है। 'कुत्ते की मौत' कहानी एक परिवार के सदस्यों के बीच धीरे-धीरे मरते जाने वाले संबंधों की प्रतीक है।

निर्मल की कहानियों में शीर्षक तो प्रतीकात्मक हैं ही इनमें कहानी की कुछ घटनाएँ और स्थितियाँ भी प्रतीकात्मक है। 'माया दर्पण' कहानी में इंजीनियर बाबू सीढ़ियाँ उतरते हैं तो सारा घर हिल उठता है। यहाँ घर का हिल उठना तरन के सूने जीवन में उठने वाली हलचल का प्रतीक है - "यह इंजीनियर बाबू भी अजीब हैं, इस तरह धम-धम करते आते हैं कि सारा घर हिल उठता है।"[175]

'लवर्स' कहानी में नीलकण्ठ का उड़ जाना अशुभ का प्रतीक है - "यह नीलकण्ठ है। ...तुमने कभी देखा है? - उसने बहुत धीरे-से कहा - नीलकंठ को देखना बड़ा शुभ माना जाता है।

क्या हम दोनों के लिए भी? - मैं हँसने लगा। मेरी हँसी से शायद वह डर गया और अपने पंख फैलाकर गुम्बद के परे उड़ गया था।"[176]

निर्मल के यहाँ प्रकृति-परक प्रतीकों का खूब प्रयोग हुआ है। उनकी कहानी में उड़ते हुए पत्ते और झरते पत्ते बार-बार आते हैं, जो कि व्यक्ति के उदासी, अवसाद, व्यर्थता बोध और अकेलेपन की भावना के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसी तरह मैली पीली धूप, फीका आलोक, कच्ची रोशनी, शाम का बुझा-बुझा सा पीलापन भी उदासी और अवसाद के प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। कुहासा, पीली चाँदनी, कव्वे मृत्यु-बोध के प्रतीक हैं। धुंध उलझन की प्रतीक है। अँधेरा भय और संत्रास का प्रतीक है।

निर्मल ने ईसाई धर्म से लिये गये प्रतीकों का भी खूब प्रयोग किया है। जिनमें सिमिट्री, चर्च, चैपल, गिरजे की घंटियाँ प्रमुख हैं। सिमिट्री मृत्यु का प्रतीक है तो चैपल और गिरजे की घंटियाँ स्मृति की प्रतीक हैं। संगीत के प्रतीकों में पियानो का स्वर, किसी रेकॉर्ड की धुन का जिक्र आता है। पियानो की स्वर-लहरियाँ उदासी को गहराने के अर्थ में और कहीं स्मृति को जाग्रत करने के अर्थ में प्रयुक्त हुयी हैं। अन्य प्रतीकों में 'पब' मनुष्य की अतृप्ति और प्यास का प्रतीक है।

निर्मल की कहानियाँ प्रतीकात्मक के साथ सांकेतिक भी है। "प्रतीक और संकेत में एक प्रकार का साम्य है। लेकिन दोनों में व्याप्ति और संकोच का अन्तर है। प्रत्येक प्रतीक संकेत हो सकता है लेकिन प्रत्येक संकेत प्रतीक नहीं हो सकता।"[177]

निर्मल ने अपनी कहानियों में पात्रों की जटिल और सूक्ष्म मनःस्थितियों को प्रायः प्रकृति की किसी घटना या स्थिति के माध्यम से सांकेतिक रूप में अभिव्यक्त किया है। इससे उनकी भाषा को सूक्ष्म अर्थवत्ता प्राप्त हुई है और वह वर्णन की अतिरंजना से बची है। उनमें बात को बिना कहे अभिव्यक्त कर देने का कौशल है। प्रेम की समस्या हो या अकेलेपन की अथवा विगत स्मृतियाँ, वह इन संवेदनों को हल्के-हल्के स्केच देकर इशारे में ही उभारते हैं। उनकी कहानियों में गलियारे में भागते हुए पत्तों का दरवाजा खटखटाना स्मृतियों को जगाना है तो अँधेरे में झींगुरों का स्वर अवसाद को गहरा करना। 'परिंदे' कहानी में बादलों का छाये रहकर भी न बरसना लतिका के मन की घुमड़न को व्यक्त करना है। 'कव्वे और काला पानी' के नैरेटर का बड़ा भाई संन्यासी है। सभी उनका सम्मान करते हैं, प्रकृति भी। इसे बहुत ही मर्मस्पशी भाषा में व्यक्त किया है निर्मल ने - "मैंने उन्हें देखा, वे थोड़ा-सा मुड़ गये थे, बाहर पेड़ों से छनती धूप उनके पैरों पर गिर रही थी। मैं भी झुका गया.. और मुझे लगा, जैसे कोई मेरे सिर को सहला रहा है।"[178]

'डायरी का खेल' कहानी में मृत्युबोध को संकेतित करती हुई भाषा का एक उदाहरण देखिए - "आधी रात के समय हवा में सरसराती यूक्लिप्टस वृक्षों की टेढ़ी-मेढ़ी छायाओं के पीछे चैपल की उन सफेद दीवारों को देखकर शरीर में एक झुरझुरी-सी आ गई थी।"[179]

लवर्स कहानी के पात्र रेस्त्रां में काफी पी रहे हैं। वहाँ नायिका ने अनजाने में ही मेज़पोश पर दोनों प्यालों के बीच लकीर खींच दी है जो उनके वियोग को संकेतित करता है – "मेज़पोश पर वे लकीरें अब भी अंकित हैं, जो अनजाने में उसने चम्मच से खींच दी थीं। उन लकीरों के दोनों ओर दो प्याले हैं, जिनसे हमने अभी कॉफ़ी पी थी।"[180]

'पिक्चर पोस्टकार्ड' कहानी का परेश पूरी कहानी में यह कहीं भी नहीं कहता कि उसे नीलू से प्यार है। नीलू के प्रति उसके प्यार का पता परेश की इस इच्छा से चलता है – "मैंने नीलू को देखा और मेरी आँखे नीचे उतर आईं। मैंने उसकी कालर-बोन के पास छोटे से गिट्टे को देखा। उसके तनिक ऊपर बित्ते भर का गढ़ा था। मेरी आँखें उस गढ़े में टिक गईं। मैंने कई बार सोचा है कि किसी दिन मैं कालर-बोन के उस गढ़े को अपनी जुबान की नोक से स्पर्श करूँगा।"[181]

संक्षेप में निर्मल की कहानियों का शिल्प संवेदना के अनुरूप ही गढ़ा गया है। इसमें परिवेश और चरित्रों को जीवन्त करती भाषा का प्रयोग हुआ हैं बिंबों, उपमाओं और प्रतीकों के सार्थक प्रयोग से उसे सूक्ष्म अर्थवत्ता प्राप्त हुई है। भाषा की सहजता, तरलता और लयात्मकता उनके शिल्प की विशिष्टता है।

संदर्भ

1. हिंदी गद्य : विन्यास और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2006, पृ० 119 से उद्धृत
2. वही, पृ० 119 से उद्धृत
3. वही, पृ० 120
4. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी, सभा, काशी, सं० 2057 वि०, पृ० 275
5. हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, विश्वनाथ त्रिपाठी, ओरियंट लांग्मैन, दिल्ली, सं० 2007, पृ० 98
6. हिंदी कहानी : पहचान और परख, सं० इन्द्रनाथ मदान, लिपि प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1973, पृ० 14-15
7. नई कहानी नए सवाल, सत्यकाम, अनुपम प्रकाशन, पटना, सं० 2002, पृ० 18
8. हिंदी कहानी का विकास, मधुरेश, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2000, पृ० 16
9. हिंदी कहानी : पहचान और परख, वही, पृ० 13
10. वही, पृ० 13
11. नई कहानी नए सवाल, वही, पृ० 19
12. हिंदी कहानी का सफर, रमेशचंद्र शर्मा, प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, सं० 1982, पृ० 53
13. वही, पृ० 55
14. वही, पृ० 52
15. वही, पृ० 57
16. कथा भूमि, सं० चितरंजन मिश्र, गणेश प्रसाद पांडे, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1999, पृ० 12
17. वही, पृ० 12-13
18. हिंदी कहानी : पहचान और परख, वही, पृ० 24
19. हिंदी कहानी का विकास, मधुरेश, वही, पृ० 55
20. हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, वही, पृ० 221 से उद्धृत
21. हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, वही, पृ० 223
22. हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, विश्वनाथ त्रिपाठी, वही, पृ० 163
23. हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, वही, पृ० 231
24. हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, विश्वनाथ त्रिपाठी, वही, पृ० 161
25. हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, वही, पृ० 247

26. संसार में निर्मल वर्मा, सं० गगन गिल, रेमाधव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, नोएडा, सं० 2006, पृ० 121
27. शब्द और स्मृति, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1976, पृ० 16-17
28. बीच बहस में, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2010, पृ० 103
29. पिछली गर्मियों में, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2004, पृ० 37
30. इतिहास स्मृति आकाँक्षा, निर्मल वर्मा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2010, पृ० 19
31. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2008, पृ० 9-10
32. वही, पृ० 10
33. कव्वे और काला पानी, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2007, पृ० 216
34. वही, पृ० 82
35. वही, पृ० 84
36. वही, पृ० 12
37. निर्मल वर्मा, सं० अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1999, पृ० 180
38. बीच बहस में, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 62
39. निर्मल वर्मा, सं० अशोक वाजपेयी, वही, पृ० 180
40. सूखा तथा अन्य कहानियाँ, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2008, पृ० 241-242
41. परिंदे, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2008, पृ० 7
42. वही, पृ० 56
43. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 77
44. कव्वे और काला पानी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 22
45. बीच बहस में, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 48
46. परिंदे, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 23
47. वही, पृ० 45
48. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 11
49. वही, पृ० 148
50. पिछली गर्मियों में, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 56-57
51. वही, पृ० 58
52. कव्वे और काला पानी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 15
53. कव्वे और काला पानी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 165
54. पिछली गर्मियों में, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 71
55. वही, पृ० 32
56. बीच बहस में, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 33-34

57. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 55
58. पिछली गर्मियों में, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 33
59. परिंदे, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 25
60. वही, पृ० 139
61. वही, पृ० 13
62. वही, पृ० 132
63. वही, पृ० 132
64. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 39-40
65. कव्वे और काला पानी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 52
66. वही, पृ० 87-88
67. बीच बहस में, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 76
68. वही, पृ० 121-122
69. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 50-51
70. कव्वे और काला पानी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 157
71. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 149
72. संसार में निर्मल वर्मा, सं० गगन गिल, वही, पृ० 96
73. कव्वे और काला पानी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 60
74. सूखा और अन्य कहानियाँ, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 192
75. वही, पृ० 192
76. वही, पृ० 234
77. पिछली गर्मियों में, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2004 पृ० 23
78. निर्मल वर्मा, सं० अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1990, पृ० 26
79. कला का जोखिम, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2001, पृ० 59
80. पिछली गर्मियों में, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 21
81. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 45
82. कव्वे और काला पानी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 189
83. पिछली गर्मियों में, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 24
84. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 45
85. वही, पृ० 45
86. परिंदे, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 135
87. कव्वे और काला पानी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 87
88. परिंदे, वही, पृ० 45
89. वही, पृ० 37

90. संवेद, अप्रैल 2006, पृ० 48
91. कथा पुरुष, मदन सोनी, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, सं० 2000, पृ० 67
92. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 49
93. सूखा तथा अन्य कहानियाँ, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2008, पृ० 106
94. वही, पृ० 143
95. पिछली गर्मियों में, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 22
96. परिंदे, वही, पृ० 70
97. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 106
98. वही, पृ० 111
99. वही, पृ० 45
100. सूखा तथा अन्य कहानियाँ, वही, पृ० 208
101. वही, पृ० 234
102. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 61
103. वही, पृ० 62
104. सूखा तथा अन्य कहानियाँ, वही, पृ० 146
105. कव्वे और काला पानी, वही, पृ० 180
106. वही, पृ० 180
107. वही, पृ० 96-97
108. कथा पुरुष, वही, पृ० 65-66
109. अन्तर्यात्रा, सं० नंदकिशोर आचार्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2003, पृ० 18
110. सूखा तथा अन्य कहानियाँ, वही, पृ० 193
111. वही, पृ० 193
112. वही, पृ० 216
113. वही, पृ० 216
114. निर्मल वर्मा : सृजन और चिंतन, सं० प्रेम सिंह, फिफ्थ डायमेंशन पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सं० 1989, पृ० 75
115. कव्वे और काला पानी, वही, पृ० 63
116. परिंदे, वही, पृ० 95
117. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 18
118. निर्मल वर्मा, सं० अशोक वाजपेयी, वही, पृ० 86
119. अन्तर्यात्रा, वही, पृ० 19
120. परिंदे, वही, पृ० 22
121. कव्वे और काला पानी, वही, पृ० 209

122. वही, पृ० 21
123. वही, पृ० 41
124. परिंदे, वही, पृ० 34
125. जलती झाड़ी, वही, पृ० 145-146
126. परिंदे, वही, पृ० 22
127. सूखा तथा अन्य कहानियाँ, वही, पृ० 208
128. बीच बहस में, वही, पृ० 95
129. कव्वे और काला पानी, वही, पृ० 72
130. परिंदे, वही, पृ० 43
131. बीच बहस में, वही, पृ० 28
132. वही, पृ० 113
133. जलती झाड़ी, वही, पृ० 23
134. सूखा तथा अन्य कहानियाँ, वही, पृ० 242
135. वही, पृ० 111
136. परिंदे, वही, पृ० 35
137. कव्वे और काला पानी, वही, पृ० 102
138. जलती झाड़ी, वही, पृ० 59
139. सूखा तथा अन्य कहानियाँ, वही, पृ० 193-194
140. जलती झाड़ी, वही, पृ० 18
141. बीच बहस में, वही, पृ० 35
142. जलती झाड़ी, वही, पृ० 62
143. परिंदे, वही, पृ० 73
144. वही, पृ० 120
145. सूखा तथा अन्य कहानियाँ, वही, पृ० 87-88
146. कव्वे और काला पानी, वही, पृ० 169
147. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ० अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2009, पृ० 359
148. वही, पृ० 355
149. परिंदे, वही, पृ० 74
150. जलती झाड़ी, वही, पृ० 29
151. परिंदे, वही, पृ० 80
152. परिंदे, वही, पृ० 23
153. पिछली गर्मियों में, वही, पृ० 27

154. परिंदे, वही, पृ० 138
155. वही, पृ० 115
156. कव्वे और काला पानी, वही, पृ० 163
157. बीच बहस में, पृ० 76
158. कव्वे और काला पानी, वही, पृ० 70
159. परिंदे, वही, पृ० 76
160. बीच बहस में, पृ० 105-106
161. सूखा तथा अन्य कहानियाँ, वही, पृ० 158
162. वही, पृ० 211
163. कव्वे और काला पानी, वही, पृ० 166
164. परिंदे, वही, पृ० 90
165. वही, पृ० 124
166. कव्वे और काला पानी, वही, पृ० 24-25
167. पिछली गर्मियों में, वही, पृ० 102
168. सूखा तथा अन्य कहानियाँ, वही, पृ० 116
169. जलती झाड़ी, वही, पृ० 17
170. बीच बहस में, पृ० 114
171. जलती झाड़ी, वही, पृ० 11
172. पाश्चात्य काव्य शास्त्र : इतिहास, सिद्धांत और वाद, डॉ० भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं० 2007, पृ० 221
173. कहानीकार, निर्मल वर्मा, सुल्तान अहमद, संस्कृति प्रकाशन, अहमदाबाद सं० 1989, पृ० 84
174. परिंदे, वही, पृ० 135
175. जलती झाड़ी, वही, पृ० 27
176. वही, पृ० 11
177. कहानीकार, निर्मल वर्मा, सुल्तान अहमद, वही, पृ० 77
178. कव्वे और काला पानी, वही, पृ० 189
179. परिंदे, वही, पृ० 18
180. जलती झाड़ी, वही, पृ० 21
181. परिंदे, वही, पृ० 88

चतुर्थ अध्याय

निर्मल वर्मा का गद्य : उपन्यास

(i) निर्मल पूर्व हिन्दी उपन्यास

निर्मल वर्मा के पूर्व हिन्दी उपन्यास की विकास यात्रा को तीन चरणों में बाँटकर देखा जा सकता है। ये तीन चरण हैं -

(क) प्रेमचंद पूर्व हिन्दी उपन्यास

(ख) प्रेमचंद कालीन हिन्दी उपन्यास

(ग) प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास

(क) प्रेमचंद पूर्व हिन्दी उपन्यास - प्रेमचंद के पूर्व लिखे गये हिन्दी उपन्यास मूलतः नीतिपरक एवं उपदेशात्मक हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन ही माना जा सकता है। इस काल के उपन्यासों की एक सामान्य विशेषता है - घटना-प्रधानता। इनमें पात्रों के मानसिक सत्य को प्रकट करने पर ध्यान नहीं दिया गया है। इनमें जीवन यथार्थ की उपेक्षा कर कल्पना तत्व को ही प्रमुखता दी गयी है। इस विषय में डॉ० रामदरश मिश्र लिखते हैं - "पूर्व-प्रेमचंद उपन्यासों की सबसे प्रमुख और सामान्य विशेषता है उनका घटना-प्रधान होना। यानी ये उपन्यास घटना-चमत्कार का प्रदर्शन कर या तो मात्र मनोरंजन करना चाहते हैं या कोई उपदेश देना चाहते हैं। हम देखें तो पाएँगे कि प्रेमचंद के पूर्व जासूसी, तिलिस्मी, ऐयारी, ऐतिहासिक, सामाजिक सभी तरह के उपन्यास लिखे गये किन्तु ये सभी घटना-चमत्कार पर आधारित हैं।"[1] प्रेमचंद पूर्व उपन्यास साहित्य को सुविधा के लिए पाँच श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं - 1. सामाजिक उपन्यास, 2. ऐयारी-तिलिस्मी उपन्यास, 3. जासूसी उपन्यास, 4. ऐतिहासिक उपन्यास, 5. भावप्रधान उपन्यास।

1. **सामाजिक उपन्यास** - भारतेन्दु युग में देश में कई तरह के सुधारवादी आंदोलन चल रहे थे। जिसके कारण एक नई सांस्कृतिक चेतना विकसित हो रही थी। राष्ट्रीय और सामाजिक जागृति की चेतना उपन्यासकारों में भी विकसित हो रही थी। इस युग के उपन्यासों पर आर्य समाज के सुधारवादी आंदोलन का काफी प्रभाव पड़ा है। इस बारे में मधुरेश लिखते हैं - "इस काल के सामाजिक उपन्यासों में एक ओर यदि सनातन धर्म

और आर्य समाज के संघर्ष को अंकित किया गया है, वहीं अधिकतर उपन्यासों में आर्य समाज की प्रगतिशील भूमिका के प्रभाव में स्त्री की शिक्षा, विधवाओं की स्थिति और सबसे अधिक विदेशी शिक्षा और संस्कृति के दुष्प्रभावों को उद्घाटित किया गया है।"[2] सुधारवादी आंदोलन से प्रभावित उपन्यासकारों में श्रद्धाराम फुल्लौरी, लाला श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, लज्जाराम मेहता आदि का नाम प्रमुख है।

श्रद्धाराम फुल्लौरी (1863 ई०) ने भारतीय स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के उद्देश्य से 'भाग्यवती' नामक उपन्यास 1877 ई० में लिखा। यह उपन्यास उपदेशात्मक है। इसकी "नायिका भाग्यवती के रूप में लेखक एक आदर्श भारतीय स्त्री का रूप प्रस्तुत करता दिखाई देता है। एक शिक्षित और गुणवती स्त्री अपने मायके और ससुराल दोनों ही परिवारों में कैसे उजाला कर सकती है, भाग्यवती के चरित्र द्वारा लेखक इस बात पर जोर देता है।"[3]

लाला श्रीनिवास दास (1851-1887 ई०) का 'परीक्षा गुरु' (1882 ई०) उपन्यास भी उपदेशात्मक है। शुक्ल जी ने इसे हिंदी में पहला "अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास"[4] कहा है। परीक्षा गुरु की कहानी दिल्ली के एक रईस मदनमोहन के मानसिक-चारित्रिक उद्धार की है। यह युवक कुसंगत में पड़कर अपनी सारी सम्पत्ति को भोग-विलास में व्यय करता है। उसका एक वकील मित्र है ब्रजकिशोर जो उसका सच्चा हितैषी है। वह मदनमोहन को उसके चापलूस और भ्रष्ट मित्रों से बचाता है। और अपने प्रत्यनों से उसे सही रास्ते पर ले आता है।

बालकृष्ण भट्ट (1844-1914 ई०) भारतेन्दु युग के प्रमुख निबंधकार हैं। इनके दो उपन्यास प्रसिद्ध हुए - 'नूतन ब्रह्मचारी' (1866) और 'सौ अजान एक सुजान' (1892)। यह दोनों उपन्यास भी उपदेशात्मक हैं, जो युवकों को चारित्रिक शिक्षा देने के उद्देश्य से लिखे गये हैं।

मेहता लज्जा राम शर्मा (1863-1931 ई०) ने हिन्दू पारिवारिक व्यवस्था की श्रेष्ठता का परिचय देते हुए कई उपन्यास लिखे जिनमें प्रमुख हैं - 'धूर्त रसिक लाल' (1899),

'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (1899), 'हिन्दू गृहस्थ' (1903), 'बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखी देवी' (1907) और 'आदर्श हिन्दू' (1915)। 'धूर्त रसिक लाल' में रसिक लाल की बेईमानी दिखायी गयी है। रसिक लाल अपने मित्र सेठ सोहनलाल को अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों में फंसाकर उसे पतन के रास्ते पर ले जाता है, लेकिन अन्ततः वह अपने किये की सजा पाता है और सेठ दम्पत्ति फिर से सुखी जीवन बिताते हैं। 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' में दो सगी बहनों रमा और लक्ष्मी को आमने-समाने रखकर भारतीय और पश्चिमी जीवन पद्धति की तुलना की गयी है। लेखक भारतीय नारी की श्रेष्ठता सिद्ध करता है।

राधाकृष्ण दास (1865-1907 ई०) ने 'निःसहाय हिंदू' नामक उपन्यास (1890) लिखा। इनके विषय में मधुरेश लिखते हैं - "परम्परागत सनातन हिन्दू दृष्टि से भिन्न साम्प्रदायिक सद्भाव की दृष्टि से राधाकृष्ण दास का 'निसहाय हिंदू' इस कालावधि का एक उल्लेखनीय उपन्यास है। ....यह उपन्यास गोवध की समस्या को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। लेकिन इसका प्रशंसनीय पक्ष यह है कि यह किसी रूढ़ हिन्दू या धार्मिक दृष्टि के उत्साहपूर्ण समर्थन से मुक्त है।"[5] इस उपन्यास में नायक मदनमोहन द्वारा गोवध रोकने के प्रयास में उसका एक मुस्लिम मित्र अब्दुल अजीज मदद करता है।

अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध (1865-1941 ई०) के दो उपन्यास प्रसिद्ध हुए - 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (1899) और 'अधखिला फूल' (1907)। "ठेठ हिन्दी का ठाठ में अनमेल विवाह का दुष्परिणाम दिखाया गया है। अधखिला फूल में धर्म की महत्ता प्रतिपादित की गयी है और धार्मिक अंधविश्वासों का कुपरिणाम भी दिखाया गया है।"[6]

2. ऐयारी-तिलिस्मी उपन्यास - इस तरह के उपन्यासों में लेखक ऐयारों और तिलिस्म के बड़े विचित्र-विचित्र करिश्मे दिखलाता है। इनमें लेखक घटनाओं का एक ऐसा मायाजाल रचता है कि पाठक उसी में खो जाता है। इन उपन्यासों का उद्देश्य पाठक की कौतुहल वृत्ति जगाना और उनका मनोरंजन करना है। हिन्दी में ऐयारी तिलिस्मी उपन्यासों का प्रवर्तक देवकीनंदन खत्री को माना जाता है। इनके उपन्यास हिन्दी साहित्य जगत में

काफी लोकप्रिय हुए। आचार्य शुक्ल के अनुसार "पहले मौलिक उपन्यास लेखक, जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री (1861-1913) थे।"[8] इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं - 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता संतति' (24 भाग), 'नरेन्द्र मोहिनी' (1893), 'कुसुम कुमारी' (1899), 'भूतनाथ', 'वीरेन्द्रवीर अर्थात् कटोर भर खून' (1895)। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास में नौगढ़ के राजा सुरेन्द्र सिंह के पुत्र राजकुमार वीरेन्द्र सिंह और विजयगढ़ के राजा जयसिंह की पुत्री राजकुमारी चन्द्रकान्ता की प्रेम कथा वर्णित है। 'चन्द्रकान्ता संतति' में महारानी चन्द्रकान्ता के दो पुत्रों की कहानी वर्णित है। 'भूतनाथ' में एक ऐयार भूतनाथ के दिलचस्प कारनामों का जिक्र है। खत्री जी के उपन्यासों पर मधुरेश की टिप्पणी है - "चन्द्रकांता और चन्द्रकांता संतति का महत्व एक ओर यदि असाधारण कल्पना शक्ति में निहित है तो दूसरी ओर रहस्य को सुरक्षित रखने वाले कथा-संगठन में।"[9]

खत्री जी के अतिरिक्त हरेकृष्ण जौहर ने - 'कुसुमलता' (1899), 'भयानक भ्रम' (1900), 'नारी पिशाच' (1901), 'मयंकमोहिनी या माया महल' (1901), 'जादूगर' (1901) आदि कई तिलिस्मी उपन्यास लिखे।

किशोरी लाल गोस्वामी ने भी 'शीशमहल' (1905) नाम से तिलिस्मी उपन्यास लिखा।

3. जासूसी उपन्यास - हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की चर्चा गोपालराम गहमरी (1866-1946) से होती है। अंग्रेजी के जासूसी उपन्यासों जिनमें सर आर्थर कानन डायल के उपन्यास प्रसिद्ध हैं, से प्रभावित होकर गहमरी ने कई जासूसी उपन्यासों की रचना की। इन्होंने 'जासूस' नामक एक मासिक पत्र भी 1900 ई० में निकाला। इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं - 'अद्भुत लाश' (1896), 'गुप्तचर' (1899), 'बेकसूर की फांसी' (1900), 'सरकटी लाश' (1900), 'डबल जासूस' (1900), 'खूनी कौन' (1900), 'जमुना का खून' (1901), 'जासूस की डायरी' (1912), 'गाड़ी में लाश' (1920) आदि। इनके उपन्यासों में प्रायः चोरी, डकैती, हत्या, ठगी आदि से संबंधित कोई घटना होती है। जिसका

पर्दाफाश जासूस अपने साहस, धैर्य और कौशल से करता है। इन उपन्यासों का उद्देश्य मनोरंजन और सत्य का उद्घाटन करना है। गोपाल राम गहमरी के अतिरिक्त रामलाल वर्मा ने 'चालाक चोर', 'जासूस के घर खून', 'जासूसी कुत्ता', किशोरीलाल गोस्वामी ने 'जिन्दे की लाश', 'जयरामदास गुप्त ने 'लंगड़ा खूनी' नामक जासूसी उपन्यासों की रचना की।

4. **ऐतिहासिक उपन्यासकार** - इस युग के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं किशोरी लाल गोस्वामी (1865-1931 ई०) इनके उपन्यास सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों विषयों पर मिलते हैं। इनके सामाजिक उपन्यासों में 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी' (1890), 'लीलावती वा आदर्श सती' (1901), 'राजकुमारी' (1902), 'चपला व नव्य समाज' 1903) आदि प्रसिद्ध हैं। "गोस्वामी जी के प्राय: सभी उपन्यास स्त्री प्रधान हैं और उनमें प्रेम के विविध रूपों का चित्रण मिलता है।"[7] इनके ऐतिहासिक उपन्यासों में 'हृदय हारिणी व आदर्श रमणी', 'लवंगलता या आदर्श बाला', 'तारा व क्षात्रकुल कमलिनी' (1902), 'सुलताना रजिया बेगम व रंगमहल में हलाहल' (1904), 'सोना और सुगंध व पन्नाबाई' (1911), 'लखनऊ की कब्र व शाही महलसरा' आदि मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासकारों में गंगा प्रसाद गुप्त (1885) का नाम भी प्रसिद्ध है। इनके उपन्यास हैं - 'नूरजहाँ' (1902), 'वीर पत्नी' (1903), 'कुमार सिंह सेनापति' (1903) और 'हम्मीर' (1903)।

जयराम दास गुप्त ने 'काश्मीर पतन' (1907), 'रंग में भंग' (1907), 'मायारानी' (1908), 'नवाबी परिस्तान वा वाजिद अलीशाह' नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे।

इनके अतिरिक्त मथुरा प्रसाद शर्मा का 'नूरजहाँ बेगम', ब्रजनंदन सहाय का 'लाल चीन', मिश्रबन्धुओं का 'वीरमणि' नामक ऐतिहासिक उपन्यास मिलता है।

5. **भाव प्रधान उपन्यास** - इस तरह के उपन्यासों में घटनाओं की बहुलता नहीं है। इनमें भावतत्व की प्रधानता मिलती है। इस युग में ऐसे उपन्यास कम ही लिखे गये हैं। शुक्ल जी ने इन उपन्यासों को - "काव्य कोटि में आने वाले भाव प्रधान उपन्यास, जिनमें

भावों या मनोविकारों की प्रगल्भ और वेगवती व्यंजना का लक्ष्य प्रधान हो"[10] कहा है। ठाकुर जगमोहन सिंह (1847-1899 ई०) का 'श्यामा-स्वप्न' (1888) और ब्रजनंदन सहाय का 'सौंदर्योपासक' इसी कोटि का उपन्यास है। 'श्यामा स्वप्न' उपन्यास में एक क्षत्रिय युवक और श्यामा नामक एक लड़की की प्रेमकथा वर्णित है। "प्रगाढ़ प्रेमानुभूति और सामाजिक रूढ़ियों का द्वन्द्व उपन्यास में गहरी करुणा के साथ अंकित है।"[11] सौंदर्योपासक में नायक की असफल प्रेमकथा को हार्दिक संवेदना के साथ चित्रित किया गया है।

इस काल के उपन्यासों के शिल्प में प्रौढ़ता का अभाव दिखाई देता है। इनमें स्थूलता और वर्णनात्मकता की प्रवृत्ति दिखाई देती है। सुधारवारी उपन्यासों का शिल्प सीधा-सपाट है। वस्तु-विन्यास सुगठित नहीं है। तिलिस्मी एवं जासूसी उपन्यासों में घटनाओं की बहुलता से उपन्यासकारों ने वर्णन की शैली अपनायी है। घटनाओं की भरमार में पात्रों का चरित्र चित्रण दब गया है। किस्सागोई भी खूब मिलती है। भाषा के स्तर पर उर्दू प्रधान एवं संस्कृत प्रधान दोनों तरह की रचनाएँ देखने को मिल जाती हैं।

संक्षेप में इस युग में उपन्यास विधा अपना स्वरूप ग्रहण कर रही थी। इस में मुख्यत: सुधारवादी एवं उपदेशवादी उपन्यास लिखे गये। एक अन्य मुख्य धारा जासूसी एवं तिलिस्मी उपन्यासों की थी जिनका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन था। इस काल-खण्ड में ही हिन्दी उपन्यास के कई रूप देखने को मिल जाते हैं। शिल्प के स्तर पर भी विकास लक्षित किया जा सकता है जो आगे चलकर प्रेमचंद युग में और उन्नत होता है।

(ख) प्रेमचंद कालीन हिन्दी उपन्यास (1918-1936) - प्रेमचंद (1880-1936) के आगमन से हिन्दी उपन्यास की यथार्थवादी परम्परा की शुरूआत होती है। प्रेमचंद के पूर्व हिन्दी-उपन्यास जादुई-तिलिस्मी और कल्पित आदर्शवाद की रचनाओं में ही प्रवृत्त था। उसमें यथार्थ की संश्लिष्टता, जटिलता और चरित्रों की मनोवैज्ञानिक पड़ताल का सर्वथा अभाव देखने को मिलता है। प्रेमचंद ने उपन्यास को जीवन की व्यापक समस्याओं से जोड़ा और निम्नवर्गीय एवं मध्यवर्गीय जीवन की सच्ची और प्रामाणिक तस्वीर प्रस्तुत की। डॉ०

राम दरश मिश्र के अनुसार – "एक ओर वे सामाजिक यथार्थ को उसके विविध स्वरूपों में प्रस्तुत कर रहे थे, दूसरी ओर विभिन्न प्रकार की परिस्थतियों और संस्कारों में पले व्यक्तियों की मानसिक गहराइयों में पैठकर मन-सत्यों का उद्‌घाटन कर रहे थे।"[12] प्रेमचंद ने न केवल उपन्यास की संवेदना को विस्तृत किया और गहराई दी वरन उसके शिल्प को भी निखारा। प्रेमचंद के उपन्यासों में महाजनी और सामन्ती सभ्यता से उत्पीड़ित किसानों और मजदूरों की दुर्दशा का मार्मिक चित्रण मिलता है। इसके अतिरिक्त मध्यवर्गीय जीवन की त्रासदी, अनमेल विवाह, विधवा समस्या, दहेज समस्या, वेश्यावृत्ति, झूठी शान और आर्थिक अभाव आदि अनेक जीवन संदर्भों का व्यापक एवं प्रभावशाली चित्रण हुआ है।

'सेवा सदन' (1818) प्रेमचंद का पहला उपन्यास है। इसमें उन्होंने सुमन के चरित्र के माध्यम से वेश्यावृत्ति की समस्या, वेश्याओं का उद्धार, दहेज की समस्या, अनमेल विवाह आदि विषयों को उठाया है। प्रेमचंद इस उपन्यास में वेश्यावृत्ति की समस्या को अशिक्षा और दहेज से जोड़कर देखते हैं।

'प्रेमाश्रम' (1921) किसान जीवन के संघर्ष को व्यापक फलक पर चित्रित करता है। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के अनुसार "इसमें किसानों की दुरवस्था, जमींदारों का अत्याचार, बड़े तालुकेदारों का विलासमय जीवन, वकीलों की बेरहमी, पटवारियों, कारिन्दों और मुंशियों के काले कारनामे, पुलिस की ज्यादती, अदालतों की पोल, अफसरों की धाँधली आदि प्रेमचंद की कुशल लेखनी से मूर्त हो उठे हैं।"[13]

'रंगभूमि' (1925) उपन्यास नवविकसित पूंजीवाद और किसान-जीवन के द्वन्द्व को चित्रित करता है। इसमें औद्योगिक समस्या के दुर्गुणों की ओर संकेत किया गया है। प्रेमचंद इसमें सूरदास के चरित्र द्वारा भारतीय किसान के संघर्ष को चित्रित करते हैं।

'कायाकल्प' (1926) पुनर्जन्म से संबंधित है। इसमें जगदीशपुर की रानी देवप्रिया की विलास लीलाओं की कहानी चलती है।

'निर्मला' (1927) में प्रेमचंद ने दहेज प्रथा और अनमेल विवाह की समस्या को प्रस्तुत किया है।

'प्रतिज्ञा' (1929) में विधवा नारी की समस्या के अनेक पक्षों को उठाया गया है।

'गबन' (1931) उपन्यास स्त्री की आभूषण प्रियता के साथ-साथ मध्यवर्ग की झूठी शान-शौकत की समस्या का प्रभावशाली चित्रण करता है। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में जालपा, रमानाथ आदि चरित्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का मार्मिक अंकन किया है।

'कर्मभूमि' (1932) में स्वतंत्रता आंदोलन की झलक है। इसमें ग्रामीण और शहर दोनों जगहों में विकसित हो रही चेतना को चित्रित किया गया है। अछूत समस्या, पूंजीपतियों का शोषण, स्त्रियों की समस्या, सरकारी दमन आदि विभिन्न मुद्दों को उठाया गया है। यह उपन्यास प्रेमचंद के यथार्थवादी दृष्टिकोण के विकास की सूचक है।

'गोदान' (1936) किसान जीवन की समस्या को बहुत विस्तार और गहराई से चित्रित करता है। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में ग्रामीण और शहरी जीवन को उभारने में अपना सम्पूर्ण जीवन अनुभव निचोड़ दिया है। वह पात्रों के चारित्रिक विशेषताओं का प्रभावशाली अंकन कर सके हैं। गोदान की कथा में उन्होंने होरी के चरित्र के माध्यम से दिखाया है कि एक किसान किस तरह जमींदारों, धर्मसत्ता, पूंजीपतियों के शोषण चक्र में पिसता हुआ मजदूर बनने पर विवश हो जाता है। किसान के लिए एक गाय की लालसा बहुत महत्व रखती है। गाय को पाने के लिए होरी अथक प्रयत्न करता है। वह गाय किसी तरह घर ले तो आता है पर उसे रख सकने में असमर्थ हो जाता है। इस पूरे प्रकरण में वह त्रासदी के चरम पर जा पहुँचता है और अन्त में उसकी दुखदायी मृत्यु हो जाती है।

प्रेमचंद के समकालीन उपन्यासकारों में जयशंकर प्रसाद, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, भगवती प्रसाद वाजपेयी, निराला आदि प्रमुख हैं।

जयशंकर प्रसाद (1890-1937 ई०) ने दो उपन्यास लिखे - 'कंकाल' (1929) और 'तितली' (1934)। उनका 'इरावती' नामक उपन्यास अधूरा ही रह गया। 'कंकाल' में

प्रसाद ने धार्मिक और सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया है। 'तितली' प्रेम के आदर्श स्वरूप को चित्रित करने के साथ ग्रामीण जीवन का यथार्थ भी प्रस्तुत करता है।

विश्वंभर नाथ शर्मा कौशिक (1891-1945) के दो उपन्यास 'माँ' (1929) और 'भिखारिणी' (1929) प्रसिद्ध हुए। 'माँ' उपन्यास में एक आदर्श माँ का चरित्र प्रस्तुत हुआ है। 'भिखारिणी' में अन्तर्जातीय विवाह की समस्या को उठाया गया है।

चंडी प्रसाद हृदयेश (1898-1936) के दो उपन्यास हैं - 'मनोरमा' (1924) और 'प्रभात' (1926)। यह भावपूर्ण आदर्शवाद को लेकर चलने वाला उपन्यास है।

शिवपूजन सहाय (1893-1963 ई०) का 'देहाती दुनिया' (1925) उपन्यास काफी प्रसिद्ध हुआ। इसमें ग्रामीण जीवन की सहजता और सरलता का चित्रण ठेठ देशज भाषा में हुआ है।

ऋषभ चरण जैन (1912 ई०) के उपन्यासों में सामाजिक विकृतियों का नग्न चित्रण हुआ है। इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं - 'वेश्या पुत्र', 'मास्टर साहब' (1927), 'गदर', 'सत्याग्रह' (1930), 'बुर्केवाली', 'भाग्य' (1931), 'दिल्ली का व्यभिचार' (1938)।

सियाराम शरण गुप्त (1895-1963) के उपन्यास हैं - 'गोद' (1932), 'अंतिम आकांक्षा' (1934) और नारी (1937)। इनके उपन्यासों की विषय वस्तु भारतीय ग्रामीण जीवन है।

वृन्दावन लाल वर्मा (1989) हिन्दी के श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। 'गढ़कुण्डार' (1929), 'विराटा की पद्मिनी' (1936), उनके प्रेमचंद युग में प्रकाशित प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास हैं। 'संगम' (1929), 'लगन' (1932), 'प्रत्यागत' (1929), 'कुण्डली चक्र' (1929) इनके सामाजिक उपन्यास हैं।

चतुरसेन शास्त्री (1891-1960 ई०) के 'हृदय की परख' (1931) 'अमर अभिलाषा' (1933) और 'आत्मदाह' (1934) प्रेमचंद युग में लिखे गये महत्वपूर्ण उपन्यास हैं। इनके उपन्यासों में सामाजिक विकृतियों का चित्रण मिलता है।

राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह (1890-1971 ई०) के उपन्यासों में 'राम रहीम' (1936), 'पुरुष और नारी' (1939), 'संस्कार' (1942) और 'चुम्बन और चांटा' (1956) उल्लेखनीय हैं।

भगवती प्रसाद वाजपेयी (1899-1973 ई०) ने प्रेम की जटिलता, नारी जीवन की समस्या आदि को लेकर कई उपन्यास लिखे। जिनमें 'प्रेम पथ' (1926), 'मीठी चुटकी' (1928), 'अनाथ पत्नी' (1928), 'मुस्कान' (1929), 'त्यागमयी' (1932), 'प्रेम निर्वाह' (1934), 'लालिमा' (1934) तथा 'पतिता की साधना' (1936) महत्वपूर्ण हैं।

प्रताप नारायण श्रीवास्तव (1904) का 'विदा' (1927) विजय, बेकसी का मजार उपन्यास प्रसिद्ध हुआ।

निराला (1897-1963 ई०) ने 'अप्सरा', 'अलका', 'निरूपमा', 'प्रभावती', 'चोटी की पकड़', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'कुल्ली भाट' उपन्यास सामाजिक विषयों पर लिखे।

पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र (1900-1967 ई०) ने सामाजिक यथार्थ को लेकर कई उपन्यास लिखे जिनमें 'चन्द हसीनों के खतूत', 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटी' प्रसिद्ध है।

उषा देवी मित्रा (1897-1966) के उपन्यासों में नारी जीवन का यथार्थ प्रकट हुआ है। इनके उपन्यास हैं - 'वचन का मोल' (1936), 'जीवन की मुस्कान' (1939), 'पिया' तथा 'पथचारी' (1940)।

हिंदी उपन्यास शिल्प परिपक्व होता है प्रेमचंद के उपन्यासों से। उनके उपन्यासों की कथा-वस्तु यथार्थ की भूमि पर खड़ी होती है। यहाँ तिलिस्मी एवं अलौकिक चरित्रों से मुक्ति है। प्रेमचंद ने उपन्यास को मनुष्य से जोड़ा। उसे साधारण मनुष्य की कहानी बनाया। जनसाधारण के जीवन का व्यापक चित्रण है उनके उपन्यासों में। पात्रों के मनोविज्ञान का सूक्ष्म अंकन प्रेमचंद के उपन्यासों में देखने को मिलता है। प्रेमचंद के साथ प्रसाद, निराला एवं इस युग के अन्य उपन्यासकारों में भी यथार्थ चित्रण का आग्रह दिखाई देता है। वर्णन-प्रियता इस युग में भी बनी रही पर कल्पना की जगह यथार्थ को प्रमुखता दी गई।

आदर्शवाद इस युग में भी देखने को मिल जाता है, पर अधिकांशत: इसका स्वर यथार्थवादी ही है। इस युग के उपन्यासों की भाषा बोलचाल की भाषा के करीब है और मंजी हुई है।

संक्षेप में प्रेचमद युग में हिंदी उपन्यास प्रौढ़ता पर पहुँचता है। इस युग में हिंदी उपन्यास का विविध रूपों में प्रसार हुआ। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि विविध विषयों पर उपन्यास लिखे गये। तरह-तरह के चरित्रों का निर्माण हुआ। किसान-मजदूर से लेकर मध्यवर्गीय एवं निम्नमध्यवर्गीय स्त्री-पुरुषों को उनकी पूरी वास्तविकता एवं अन्तरंगता के साथ प्रस्तुत किया गया। शिल्प के स्तर पर भी उल्लेखनीय प्रगति हुई।

(ग) प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास - प्रेमचंद के बाद हिंदी उपन्यास में अनेक प्रवृत्तियों का विकास होता है। प्रेमचंद के बाद और निर्मल वर्मा के पूर्व हिंदी उपन्यास की मुख्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं -

1. मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के उपन्यास
2. प्रगतिशील और सामाजिक यथार्थवादी प्रवृत्ति के उपन्यास
3. ऐतिहासिक और सांस्कृतिक उपन्यास
4. आंचलिक उपन्यास

इसके अतिरिक्त उपन्यासों की एक प्रवृत्ति वह भी है जो मूलत: स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लिखा गया है। जिसमें मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं, देश का विभाजन, नई और पुरानी पीढ़ी का द्वन्द्व, आर्थिक संकट और बेरोजगारी, स्त्रियों की समस्या आदि कई विषयों को उठाया गया है। इन उपन्यासों में कथ्य और शिल्प के स्तर पर कई तरह की प्रयोगशीलता देखने को मिलती है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन उपन्यासों को 'स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास' के अंतर्गत रखकर देख सकते हैं। निर्मल वर्मा के उपन्यासों की सृष्टि इसी काल-खण्ड में होती है।

1. **मनोवैज्ञानिक और प्रयोगशील उपन्यास** - मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों ने मनुष्य के अन्तर्जगत की सूक्ष्म एवं गहन पड़ताल करके उनके अन्त:सत्य को उद्‌घाटित करने का कार्य किया। प्रेमचंद में भी अपने चरित्रों के अन्तर्जगत की पड़ताल है पर वह उसे समाज के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही देखते हैं। उनका ध्यान घटनात्मकता पर अधिक है। मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों ने व्यक्ति का स्वतंत्र मूल्यांकन किया। उन्होंने चरित्रों का विश्लेषण सूक्ष्मता के साथ किया और उसकी जटिलता को रेखांकित किया। इन लेखकों ने मनुष्य की कुंठाओं, उसकी अहंभावना, हीनता, दमित चेतना, काम-प्रवृत्ति आदि का चित्रण कर उसके अन्तर्जगत की यथार्थ छवि प्रस्तुत की। मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों में जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, डॉ० देवराज का नाम महत्वपूर्ण है।

जैनेन्द्र (1905-1988 ई०) का नाम मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों में अग्रणी है। जैनेन्द्र ने भी प्रेमचंद की तरह स्त्री की समस्याओं का चित्रण किया है। उनके यहाँ स्त्री की समस्या ही मुख्य विषय है। वह विधवा समस्या, दाम्पत्य की कटुता, बेमेल विवाह आदि को अपने उपन्यासों का विषय बनाते हैं। पर इन दोनों में अंतर यह है कि जहाँ प्रेमचंद समाज में घटित होने वाली बाह्य घटनाओं में अधिक रुचि लेते हैं, वहीं जैनेन्द्र स्त्री के अंतस में घटित होने वाले व्यापारों में। वह स्त्री के अन्तर्जगत का एक आत्मीय एवं भावपूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं। वह अपने उपन्यासों में नारी के आत्मपीड़न की कहानी का मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हैं। जैनेन्द्र गांधीवाद से बहुत प्रभावित हैं। इसी कारण उनकी स्त्रियाँ प्रतिरोध नहीं करती वरन् चुपचाप सब कुछ सहन करती रहती हैं। इस बारे में डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं - "जैनेन्द्र गांधीवाद के अध्यात्मपक्ष पर बल देते हुए आत्मपीड़न के द्वारा हृदय परिवर्तन में विश्वास करते हैं। ...जैनेन्द्र ने 'अहं' की निस्सारता दिखाकर समर्पण द्वारा 'स्व' और 'पर' में अभेद स्थापित करने की चेष्टा की है। 'अहं' को विगलित करने में पीड़ा और व्यथा ही समर्थ है। व्यथा का तीव्रतम रूप कामगत यातना में प्राप्त होता है। इसलिए जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में काम-पीड़ा और समर्पण का चित्रण करके अहं का विसर्जन किया है।"[14] 'त्यागपत्र' की मृणाल, 'कल्याणी' की कल्याणी, 'परख' की कट्टो, 'सुनीता' की सुनीता, 'सुखदा' की सुखदा ऐसे ही स्त्री चरित्र हैं जो आत्मपीड़न में

ही विश्वास रखती हैं। जैनेन्द्र के प्रमुख उपन्यास हैं - 'परख', (1929), 'सुनीता' (1934), 'त्यागपत्र' (1937), 'कल्याणी' (1939), 'सुखदा' (1952), 'व्यतीत' (1953), 'व्यतीत', (1953), 'जयवर्धन' (1956), 'मुक्तिबोध' (1965), 'दशार्क' (1985)।

इलाचन्द्र जोशी (1902-1982 ई०) ने मनुष्य की हीनता-ग्रन्थि का उद्‌घाटन करने में फ्रायड, एडलर, युंग के सिद्धांतों का प्रयोग किया है। वह इन्हीं मनोविश्लेषणवादियों के सिद्धांतों के आधार पर अपने चरित्रों को गढ़ते हैं। सिद्धांतों पर ही निर्भर रहने के कारण उनके चरित्रों का विश्लेषण किताबी बनकर रह गया है। उसमें जैनेन्द्र और अज्ञेय की तरह स्वाभाविकता नहीं है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों के सभी पात्र असामान्य जीवन जीते हैं। वे सभी अनेक मनोग्रन्थियों से पीड़ित बीमार और कमजोर चरित्र हैं। जोशी के प्रमुख उपन्यास हैं - 'लज्जा' (1929), 'संन्यासी' (1941), 'पर्दे की रानी' (1941), 'प्रेत और छाया' (1946), 'निर्वासित' (1946), 'मुक्तिपथ' (1950), 'जिप्सी' (1952), 'सुबह के भूले' (1952), 'जहाज का पंछी' (1955)।

अज्ञेय (1911-1987) मनोविश्लेषणवादी परम्परा के एक महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं। इनके उपन्यासों - 'शेखर एक जीवनी' (1941), 'नदी के द्वीप (1951), और 'अपने-अपने अजनबी' (1961) में मनोविश्लेषण की गहन क्षमता के साथ-साथ सूक्ष्म सौंदर्यबोध विद्यमान है। इन्होंने अनुभूतियों के विविध आयामों को कलात्मक रचाव के साथ प्रस्तुत किया है। अज्ञेय को अन्य मनोविश्लेषणवादियों से अलगाते हुए डॉ० रामदरश मिश्र लिखते हैं - "जीवन की अनुभूतियाँ जीवन से ही ली गई हैं, मनोविज्ञान की पोथियों से नहीं। जीवन की अनुभूतियाँ मनोविज्ञान के आलोक में विश्लेषित की गई हैं किन्तु वे ली गई हैं जीवन जीकर ही। इन अनुभूतियों में बेहद सच्चाई है, तीव्रता है, सूक्ष्मता है।"[15] अज्ञेय ने मनुष्य के अहं, वरण की स्वतंत्रता, उसकी विद्रोह भावना और काम-चेतना का सच्चा और जीवंत तस्वीर प्रस्तुत किया है। 'शेखर एक जीवनी' में अज्ञेय ने वयःसन्धि में मनुष्य के भीतर होने वाले विद्रोह का प्रामाणिक चित्रण किया है। इसमें शेखर के विद्रोह की भावना, उसके अहं और व्यक्ति स्वातंत्र्य को चित्रित करने के साथ-साथ उसके जटिल

प्रेम-संबंधों की भी अभिव्यक्ति की गई है। 'नदी के द्वीप' में उन्होंने मध्यवर्गीय कुण्ठित जीवन के प्रतीक के रूप में नदी के द्वीप की कल्पना की है। उपन्यास का प्रमुख पात्र भुवन एक आत्मकेन्द्रित व्यक्ति है जिसके गौरा और रेखा के साथ जटिल संबंधों का चित्रण अज्ञेय ने प्रभावशाली ढंग से किया है। 'अपने-अपने अजनबी' अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित उपन्यास है। इसके पात्र बर्फ़ के घर के भीतर मृत्यु का साक्षात्कार करते हैं। यहाँ अज्ञेय ने वरण की स्वतंत्रता के प्रश्न को भी उठाया है।

मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों में देवराज का नाम भी महत्वपूर्ण है। इन्होंने 'पथ की खोज', 'बाहर-भीतर', 'मैं वे और आप', 'अजय की डायरी' आदि उपन्यास लिखें।

धर्मवीर भारती की 'सूरज का सातवां घोड़ा' (1952) में प्रयोगशीलता देखने को मिलती है। 'गुनाहों का देवता' (1949) रूमानी भावबोध का उपन्यास है।

2. प्रगतिशील और सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास - प्रगतिशील उपन्यासकार मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। इस प्रवृत्ति के उपन्यासकारों में यशपाल, नागार्जुन, मन्मथनाथ गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त, रांगेय राघव, अमृतराय आदि का नाम प्रमुख है।

यशपाल (1903-1976 ई०) के उपन्यास साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। इनके उपन्यासों में क्रांतिकारी जीवन दृष्टि, भारतीय स्वाधीनता संघर्ष, समाज-संबंद्धता की अभिव्यक्ति हुई है। इनके प्रमुख उपन्यास हैं - 'देशद्रोही' (1943), 'दिव्या' (1945), 'दादा कामरेड' (1941) 'पार्टी कामरेड' (1946), 'मनुष्य के रूप' (1949), 'अमिता' (1956), 'झूठा सच' (1958), 'मेरी तेरी उसकी बात' (1973)। 'झूठा सच' यशपाल का सबसे चर्चित उपन्यास है। यह दो भागों में लिखा गया है। इस उपन्यास में यशपाल ने तत्कालीन राजनीतिक पदृश्य को प्रस्तुत करने के साथ, विभाजन के पूर्व पंजाब की स्थिति, लाहौर का वर्णन, देश का विभाजन, साम्प्रदायिक दंगे, हिन्दू-मुस्लिम जीवन का यथार्थ, निम्न मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ आदि की सशक्त और प्रामाणिक अभिव्यक्ति दी है।

नागार्जुन (1910) के उपन्यासों की चर्चा आंचलिक उपन्यास के रूप में भी होती है। उनके उपन्यासों में मिथिला के जीवन का यथार्थ मुख्य विषय है। नागार्जुन के प्रमुख उपन्यास हैं - 'रतिनाथ की चाची' (1948), 'बलचनमा' (1952), 'नई पौध' (1953), 'बाबा बटेसरनाथ' (1954), 'दुखमोचन' (1956), 'वरुण के बेटे' (1957), 'कुंभीपाक' (1969), 'उग्रतारा' (1963), 'इमरतिया' (1968), 'जमनिया के बाबा' (1970)। नागार्जुन के उपन्यासों में साधारण जन से गहरी आत्मीयता, अंचल का संघर्ष, अंचल का राग-रंग, सामंती जीवन-दृष्टि का प्रतिरोध, किसान आंदोलन की गूँज, रूढ़ियों का विरोध आदि की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।

रांगेय राघव (1923-1863 ई०) ने ऐतिहासिक, सामाजिक, आंचलिक कई तरह के उपन्यास लिखे हैं। प्रगतिशील जीवन दृष्टि को अभिव्यक्त करने वाले उनके प्रमुख उपन्यास हैं - 'सीधा-साधा रास्ता' (1951), 'हुजूर' (1951), 'घरौंदे', 'कब तक पुकारूँ' 'बंदूक और बीन', 'आखिरी आवाज़' आदि।

भैरव प्रसाद गुप्त (1918) के उपन्यासों में प्रसिद्ध हैं - 'शोले', 'मशाल', 'गंगा मैया', 'सती मैया का चौरा' आदि।

अमृत राय (1921) का 'बीज' (1953), 'हाथी के दांत', 'नागफनी का देश' (1956), 'धुआँ' (1977) उपन्यास प्रसिद्ध है।

सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासकारों में भगवती चरण वर्मा, उपेन्द्र नाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, अमृत लाल नागर, नरेश मेहता आदि का नाम प्रमुख है। भगवती चरण वर्मा ने 'चित्रलेखा', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'भूले बिखरे चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा', 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' उपन्यास लिखे। इनके उपन्यासों में व्यक्तिवादी चेतना भी मिलती है।

उपेन्द्रनाथ अश्क (1911) ने अपने उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन की कुण्ठाओं का यथार्थ चित्रण किया है। इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं - 'गिरती दीवारे' (1947), 'गर्मराख' (1952), 'शहर में घूमता आईना', 'एक नन्ही किन्दील' (1969), 'बांधो न नाव इस ठांव' (1974)।

विष्णु प्रभाकर (1912) के उपन्यासों में मानवतावादी दृष्टि देखने को मिलती है। उनके 'निशिकान्त' (1955), 'तट के बंधन' (1955), 'स्वप्नमयी' (1956), 'कोई तो' (1980) आदि कई उपन्यास प्रकाशित हैं।

अमृत लाल नागर (1916) ने बंगाल के अकाल पर एक मार्मिक उपन्यास 'महाकाल' नाम से लिखा। नागर के उपन्यासों में उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता के दर्शन होते हैं। उनके प्रसिद्ध उपन्यासों में है - 'सेठ बांकेमल' (1955), 'बूंद और समुद्र' (1956), 'शतरंज के मोहरे' (1959), 'अमृत और विष' (1956), 'नाच्यो बहुत गोपाल' (1978), 'खंजन नयन' (1981)।

3. **ऐतिहासिक और सांस्कृतिक उपन्यास** - ऐतिहासिक और सांस्कृतिक उपन्यासकारों के रूप में वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी, यशपाल, रांगेय राघव आदि प्रमुख हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में वृन्दावन लाल वर्मा (1889) को विशेष ख्याति मिली। वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में मध्यकालीन शौर्य को हार्दिकता के साथ अभिव्यक्त किया है। उनके उपन्यासों में बुंदेलखण्ड की धरती के सजीव चित्र मिलते हैं। इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं - 'गढ़कुण्डार' (1924), 'विराटा की पद्मिनी' (1936), 'झांसी की रानी' (1946), 'कचनार' (1948), 'मृगनयनी' (1950), 'माधव जी सिंधिया' (1957), 'सोती आग' (1966)।

चतुरसेन शास्त्री (1891-1960) के उपन्यासों में 'वैशाली की नगरवधू' (1949), 'सोमनाथ' (1954), 'वयं रक्षाम' (1955) प्रसिद्ध हैं।

रांगेय राघव (1923-1962) ने मुर्दों का टीला (1948), मोहनजोदड़ो की पृष्ठभूमि पर लिखा। 'चीवर', 'अंधेरे के जुगनू', 'पक्षी और आकाश' तथा 'राह न रुकी', उनके अन्य ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

राहुल सांकृत्यायन (1893 ई०) ने 'सिंह सेनापति' (1942), 'जय यौधेय' (1944), 'मधुर स्वप्न' (1950), 'विस्मृत यात्री' (1953), नामक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक उपन्यास लिखे।

यशपाल ने 'दिव्या' (1945) नामक उपन्यास मध्यकालीन सामाजिक यथार्थ को केन्द्र में रखकर लिखा।

हजारी प्रसाद द्विवेदी (1907-1979 ई०) के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक उपन्यासों में इतिहास और कल्पना का सुंदर समन्वय देखने को मिलता है। इनके उपन्यासों में मानवीय गरिमा का बखान किया गया है। वह अपने उपन्यासों में मध्यकाल की संस्कृति का बड़ा ही सजीव और काव्यात्मक चित्रण करते हैं। द्विवेदी जी के उपन्यास प्रेम की महिमा, नारी की अस्मिता को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं। भारत के सांस्कृति यथार्थ को चित्रित करता हुआ उनका उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946) काफी प्रसिद्ध हुआ। यह उपन्यास नायक बाणभट्ट की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन करने के साथ-साथ हर्षवर्धन कालीन समाज और संस्कृति के विविध आयामों को हार्दिकता के साथ प्रकट करता है। भट्टिनी, निपुणिका, सुचरिता आदि नारी पात्रों के प्रति लेखक की गहरी सहानुभूति उपजी है जो उसकी आधुनिक और संवेदनशील दृष्टि की परिचायक है। 'पुनर्नवा' (1973) उपन्यास में भी प्रेम की गरिमा का बखान और नारी के यथार्थ का उद्घाटन है। 'अनामदास का पोथा' (1976), 'चारु चन्द्र लेख' (1963) उपन्यासों में उनकी स्वच्छन्दतावादी और मानवतावादी जीवन दृष्टि का परिचय मिलता है। द्विवेदी के सभी उपन्यासों में परंपरागत नैतिक बंधनों के प्रति विद्रोह का भाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

4. आंचलिक उपन्यास - स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिंदी में आंचलिक उपन्यासों की सृष्टि होनी शुरू हुई। आंचलिक परंपरा में किसी अंचल विशेष के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक यथार्थ को पूरी समग्रता और जीवंतता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। आंचलिक उपन्यास में कोई अंचल विशेष ही नायक होता है। आंचलिक उपन्यासों की चर्चा फणीश्वरनाथ रेणु (1921-1977 ई०) के 'मैला आँचल' (1954) से होती है। रेणु के अलावा अन्य आंचलिक उपन्यासकारों में उदयशंकर भट्ट, शिवप्रसाद सिंह, राही मासूम रज़ा, रामदरश मिश्र, विवेकी राय, श्री लाल शुक्ल, शैलेश मटियानी, शानी, रामदेव शुक्ल, हिमांशु जोशी, मनहर चौहान, श्याम परमार आदि का नाम महत्वपूर्ण है।

रेणु के 'मैला आँचल' में बिहार के पूर्णिया जिले के मेरीगंज गांव की कथा कही गयी है। इस गांव के जीवन-यथार्थ, संघर्ष, उत्सवधर्मिता, राजनीतिक भ्रष्टाचार, धार्मिक यथार्थ आदि विभिन्न रूपों का बड़ा ही जीवंत और मार्मिक चित्रण रेणु ने किया है। यह उपन्यास अपनी विशिष्ट प्रस्तुति के कारण हिन्दी उपन्यास साहित्य में अलग स्थान रखता है। इस बारे में मधुरेश लिखते हैं - "भाषा और शिल्प के स्तर पर 'मैला आँचल' ग्राम समाज के वर्णन बहुल इतिवृत्तात्मक उपन्यासों की परंपरा से काफी भिन्न है। छोटे-छोटे चित्रात्मक ब्यौरे और लोकतत्वों का अबाध उपयोग, शब्दों को तोड़-मरोड़कर उन्हें एक खास स्थानीय रंग में ढालने का आग्रह आदि मैला आँचल को एक भिन्न प्रकार की रचना के रूप में प्रस्तुत करते हैं।"[16] रेणु के अन्य उपन्यास हैं - 'परती परिकथा' (1957), 'पल्टूबाबू रोड' (1979), 'दीर्घतया' (1962), 'जुलूस' (1965), 'कितने चौरहैं' (1966)।

प्रेमचंदोत्तर हिंदी उपन्यासों ने शिल्प की दृष्टि से अभूतपूर्व प्रगति की। इस काल के उपन्यास शिल्प में खासी प्रयोगधर्मिता देखने को मिलती है। विषयानुकूल शिल्प इसकी एक प्रमुख विशेषता है। मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों के शिल्प में प्रतीकात्मकता, संकेतात्मकता एवं सूक्ष्मता का चित्रण मिलता है। आंचलिक एवं ऐतिहासिक उपन्यासों में काव्यात्मकता देखने को मिलती है। यथार्थवादी उपन्यासों की भाषा में सहजता, आत्मीयता एवं प्रवाहमयता है। इस युग के उपन्यासों में आत्मकथात्मक शैली, डायरी शैली, पत्र शैली आदि विविध शैलियों का प्रयोग हुआ। पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए चेतना-प्रवाह, पूर्वदीप्ति, स्वप्न विश्लेषण आदि प्रविधियों का प्रयोग किया गया। कथा की जगह संवेदना की प्रमुखता दी गई। कथा में नाटकीयता, संश्लिष्टता का चलन बढ़ा। कथा में काल की रैखिक गति की परम्परा से मुक्ति दिखायी देती है और उसकी जगह स्मृतियों की आवाजही को प्रमुखता दी गयी।

संक्षेप में प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों ने संवेदना एवं शिल्प के स्तर पर बहुमुखी प्रगति की। जनजीवन का व्यापक एवं सूक्ष्म स्तर पर विश्लेषण हुआ। शिल्प को निखारा गया एवं नयी-नयी कथा-प्रविधियों का प्रयोग किया गया।

निर्मल वर्मा के पूर्व हिंदी उपन्यास के यही विविध चरण है। हिंदी उपन्यास की यह विकास यात्रा हिंदी के आरंभिक उपन्यासों से लेकर सन् 1960 तक के उपन्यासों के आस-पास प्रस्तुत की गई है। निर्मल वर्मा का पहला उपन्यास 'वे दिन' 1964 ई० में प्रकाशित होता है। 1960 के बाद हिंदी उपन्यास में कई तरह के आयाम देखने को मिलते हैं। एक ओर प्रेमचंद की सामाजिक-यथार्थवादी परम्परा का नया विकास होता है वहीं दूसरी ओर आधुनिक भावबोध लिए हुए, बदलते हुए परिवेश, औद्योगीकरण, मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं आदि की अभिव्यक्ति करते उपन्यासकारों की एक नई पीढ़ी सामने आती है, जिनमें राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, राजकमल चौधरी, महेन्द्र भल्ला आदि के नाम प्रमुख हैं। इसी समय से महिला उपन्यासकारों की भी सक्रिय उपस्थिति लक्ष्य की जा सकती है। जिनमें उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, शशिप्रभा शास्त्री, ममता कालिया, नासिरा शर्मा, राजी सेठ, मृदुला गर्ग, अलका सरावगी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

(ii) निर्मल के उपन्यास : संवेदना

निर्मल वर्मा के कुल पाँच उपन्यास प्रकाशित हैं - वे दिन (1964), लालटीन की छत (1974), एक चिथड़ा सुख (1979), रात का रिपोर्टर (1989), अंतिम अरण्य (2000)।

निर्मल के उपन्यासों की कथा-स्मृति, अजनबीपन, अकेलापन, मृत्युबोध, प्रेम, भय, संत्रास आदि के संवेदनों से निर्मित है। इन्होंने अपने उपन्यास अलग-अलग विषयों पर लिखे हैं लेकिन उनमें यह संवेदनाएँ किसी न किसी रूप में उपस्थित मिल जाती हैं। इन्हीं संवेदनों के धागे से उन्होंने अपने उपन्यासों का ताना-बाना बुना है।

स्मृति

स्मृति निर्मल वर्मा की रचनाओं का मूलाधार है। कहानियों की तरह ही उपन्यास में भी स्मृति की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। उनके उपन्यासों का कथानक और परिवेश प्रायः स्मृतियों के सहारे ही निर्मित होता है। घटनाएँ स्मृतियों के फ्रेम में ही घटती हैं। देश-काल,

पहाड़, पतझर, मौसम, नदी, शहर, पीड़ा, यातना, आँसू, स्पर्श सब स्मृति है। वर्तमान भी स्मृति है। भविष्य भी स्मृति है। उनके उपन्यास 'वे दिन' की कथा स्मृतियों में ही चलती है। 'लालटीन की छत' की काया दिनभर स्मृतियों में ही भटकती रहती है। 'एक चिथड़ा सुख' का नैरेटर भी स्मृतियों को अपनी डायरी में सहेजता है। 'रात का रिपोर्टर' का नैरेटर भी स्मृतियों में आवाजाही करता है। 'अंतिम अरण्य' के तो सारे ही पात्र स्मृतियों में जीते हैं। वे अपने अंतिम दिनों की प्रतीक्षा स्मृतियों के सहारे करते हैं।

निर्मल के पात्रों को स्मृतियाँ अपने कितनी करीब लगती हैं, यह 'वे दिन' के नैरेटर के शब्दों में देखिए - "आज भी अरसे बाद - आँख मूँदकर मैं उन सब घटनाओं पर अँगुली रख सकता हूँ, जो सर्दी के बाद उन दिनों में गुज़री थीं। वह 'याद करना' मुश्किल नहीं है। वह उतना ही आसान है जैसे हम किसी बचपन की धुन को लम्बी मुद्दत बाद पियानो पर बजाते हैं। ध्यान अगर भटक भी जाए, अँगुलियाँ हर नोट पर पुराना रास्ता टटोल लेती हैं।"[17]

निर्मल के पात्र जब भी अकेलेपन में भटकते हैं, स्मृति के पास चले जाते हैं। स्मृति उन्हें उनके आत्मनिर्वासन से बचाती है। स्मृति में जाना आत्म के पास जाना है। स्मृति के सहारे वह अकेलेपन से लड़ते हैं।

'लालटीन की छत' की काया अपने अकेलेपन से लड़ते हुए बार-बार स्मृतियों में चली जाती है। उसे अपनी बुआ की लड़की लामा की बहुत याद आती है जो कुछ दिन रहने उसके घर आयी थी। उसके चले जाने पर वह अपने आप को बहुत अकेला पाती है। अकेले भटकते हुए वह लामा के साथ बिताये दिनों को याद करती है -

"वह बदली का दिन था, जब हवा एकदम थम जाती है। पहाड़ पथराये-से खड़े थे। सारे शहर पर एक मैली-सी रोशनी पड़ रही थी।"

'हम नीचे उतर रहे थे।' ---

'मैं बीच में थी। आगे गिन्नी और बहुत पीछे लामा, जो सीटी बजा रही थी, --- मैं मुड़कर देखती, तो वह सामने होती, अपने दुपट्टे को गले में बाँधे हुए, छोटा सा माथा, जिसके ऊपर बालों की एक महीन रेखा धूल में सफेद-सी जान पड़ती।"[18]

लामा मेरठ चली जाती है। पर उसकी स्मृतियाँ पीछे रह जाती हैं। काया को लगता है लामा गयी नहीं है अब भी यहाँ अपने कमरे में है। जब भी लामा के कमरे के बाहर कोई खटका होता है वह चौंक जाती है। उसे लामा की यह बात बहुत याद आती है -

"काया... तुम मेरे कमरे का दरवाजा कभी बन्द मत करना मैं हमेशा यहाँ रहूंगी।

'क्या तुम मेरठ नहीं जाओगी?'

'जाऊँगी'... उसने मेरी ओर देखा, 'लेकिन यहाँ भी रहूँगी। उन्हें पता नहीं चलेगा।"

"हम तुम्हें देख सकेंगे?" मैंने पूछा।

'क्यों नहीं।' उसने कहा, 'जब तुम और छोटे अपने कमरे में होगे मैं आऊँगी - मैं हर रात तुम्हारे कमरे में आया करूँगी।"[19]

काया जब भी अकेली होती है लामा की स्मृति चुपके से उसके पास चली आती है। वह उन दिनों को याद करती है जब लामा उसके घर में थी। वह रेल की पटरियों के किनारे और काली के मंदिर में लामा, गिन्नी और छोटे के साथ खेलती थी। लामा की स्मृतियों के सहारे वह अकेलेपन से छुटकारा पाने की कोशिश करती है।

अंतिम अरण्य के मेहरा साहब पत्नी दीवा की मृत्यु के बाद एकाकी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। एक बेटी है तिया जो दूसरे शहर में डॉक्टर है। उनके पास कभी-कभी ही आती है। मेहरा साहब अपने अंतिम दिनों की प्रतीक्षा करते हुए स्मृतियों के घेरे में चले जाते हैं। वह अपने विगत जीवन के बारे में नैरेटर को बताते हैं जिन्हें वह एक डायरी में दर्ज करता जाता है। नैरेटर से अपनी स्मृतियों को साझा करते हुए वह अपने अकेलेपन को भरने की कोशिश करते हैं। स्मृतियों के द्वारा वे अपने विगत जीवन का मूल्यांकन करते हैं। जिसमें पहली पत्नी को छोड़ देने का पछतावा है तो दूसरी पत्नी दीवा की यातना की याद

भी जो कैंसर की बीमारी से मर गयी थीं। उसकी पीड़ा को याद कर वह नैरेटर से कहते हैं – "वह कितने कष्ट में मरी थीं। पेट में टयूमर था... मरने के बाद उसे पेट से निकाला गया तो इतना बड़ा, जैसे टेनिस की गेंद होती है – लेकिन जब तक वह जीती थीं, दर्द की इतनी–सी हाय भी उनके मुँह से नहीं निकलती थी। उल्टे वह मुझे दिलासा देती थीं, जब मैं उन्हें देखकर बेहाल हो जाता था।"[20]

'एक चिथड़ा सुख' का नैरेटर मुन्नू भी अकेला है। वह दिल्ली में अपनी कजिन बिट्टी के साथ रहता है जो थियेटर में काम करती है। बिट्टी मुन्नू को अपनी बरसाती में छोड़कर रिहर्सल के लिए चली जाया करती है। उसके पीछे मुन्नू अकेला पड़ा रहता है। उसे जब नींद नहीं आती स्मृतियों में भटकने लगता है – "वह लेट गया। बहुत देर तक नींद नहीं आई, लेकिन वह जाग भी नहीं रहा था, नींद के हाशिए पर घूम रहा था, जहाँ इलाहाबाद की चीज़ें दिल्ली में और दिल्ली की घटनाएँ इलाहाबाद में लेन–देन करती थीं, नींद की सीमा पर स्मृतियों की यह स्मगलिंग उसे हमेशा अजीब जान पड़ती थी।"[21]

निर्मल के उपन्यासों में कथाएँ स्मृतियों में ही चलती हैं। 'वे दिन' में नैरेटर प्राग के तीन दिनों की स्मृतियों के बारे में बताता है। 'एक चिथड़ा सुख' में भी नैरेटर स्मृतियों को अपनी डायरी में दर्ज करता जाता है। 'अंतिम अरण्य' का नैरेटर बहादुरगंज में बिताये अपने तीन सालों की स्मृतियों के बारे में बताता है। इन कथाओं के नैरेटर स्मृति द्वारा अपने खोये हुए समय को पुनः पाने की चाहत रखते हैं। 'वे दिन' का नैरेटर बार–बार रायना के साथ बिताये दिनों की याद में चला जाता है। उसे वर्षों बाद भी रायना की आवाज़ सुनायी देती है और वह अतीत में चला जाता है। वह अकेले में बैठा रायना की आवाज़ सुनता है "तुम विश्वास करते हो? सच बताओ।"[22] और इसी के साथ ही उसकी आँखों के सामने 'वे दिन' के वह तीन दिन घूम जाते हैं। कथा का आरम्भ ही स्मृति से होता है – "यही समय होता था। यही घड़ी। मैं कुर्सी पर बैठा रहा करता था... एक ठंडी–सी सिहरन को अपनी समूची देह में दबाता हुआ...।"[23] इसके बाद उन तीन दिनों की कथा शुरू हो जाती है।

'अंतिम अरण्य' का नैरेटर भी वर्षों बाद बहादुरगंज को नहीं भुला पाया है। वह स्मृति में बहादुरंगज के उन तीन सालों को याद करता है जहाँ उसने अपने को खोजा था। वह कहता है - "क्या तिया को मालूम था, मैं अब नहीं लौटूँगा... वह गलत थीं। मैं बार-बार रात की नींद में, दिन की रोशनी में, सड़क पर चलते हुए, टेबुल लैम्प के नीचे अकेले में पढ़ते हुए वहाँ चला जाता हूँ, जिसका नाम नक्शे में नहीं है, साहिब जी की एटलस में भी नहीं।

एक खोया हुआ शहर, जिसमें मैंने अपने को खोजा था।"[24]

निर्मल के उपन्यासों में कथानक का विकास स्मृति के सहारे ही होता है। उपन्यास के बीच-बीच में स्मृति की ओर ले जाते वाक्य आते रहते हैं। कुछ उदाहरण देखिए -

"हवा और अँधेरा - हे ईश्वर, उन दिनों कितनी हवा चलती थी। बाबू दिल्ली चले जाते थे। माँ बड़ी होती जाती थीं। मैं घर के चारों तरफ घूमती थी।"[25] (लालटीन की छत)

"वह शाम मुझे अब भी याद है। जब हम इरा के हॉस्टल गए थे - बिना किसी तैयारी के, ऐसे ही।"[26] (एक चिथड़ा सुख)

"उस शाम की स्मृति मुझे आज भी कुछ अलग-सी लगती है... अन्य दिनों से अलग। अन्य दिनों की तरह उस शाम हमें एक-दूसरे को खोजने या जानने की इच्छा नहीं रह गई थी। लगता था, वह है और यह झेल पाना ही एक सुख है जो इतना ज़्यादा है कि पीड़ा देता था - क्योंकि वह असह्य-सा लगता था।"[27] (वे दिन)

"एक ऐसी ही अवसन्न सूनी दुपहर थी, जब दरवाज़े पर हल्की-सी खड़खड़ाहट सुनाई दी। मैं कोठरी से बाहर आया, तो बरामदे में निरंजन बाबू बैठे दिखाई दिए। दुपहर की धूप में उनका चेहरा म्लान हो आया था, ख़ाकी हैट पर धूल जम गई थी।"[28] (अंतिम अरण्य)

"पुराने दिनों में वह हमेशा यहाँ आकर बैठ जाता था और शीशे के पार्टीशन से बिन्दु को चुपचाप काम करता हुआ देखा करता था... लंच की छुट्टी में वे तिब्बती ढाबे में

खाने के लिए चले जाते थे या गर्मी की दुपहर में कहीं ठंडी बियर की तलाश में...।"[29] (रात का रिपोर्टर)

वर्षों बाद भी स्मृति का कोई टुकड़ा कैसे निर्मल के पात्रों के जेहन में अटका रहता है, इसका एक सुंदर उदाहरण 'वे दिन' में देखिए। 'वे दिन' के नैरेटर की स्मृति में रायना की एक छवि अंकित है जब वह उसके साथ प्राग की सड़कों पर घूम रही थी - "मैं सोचता हूँ - अगर मैं कोशिश करूँ - तो याद कर सकता हूँ। सब-कुछ। नहीं... सब कुछ नहीं। उसका चेहरा नहीं, क्योंकि वह मैं नहीं देख सकता था। उसकी गर्दन तनिक नीचे की ओर झुक गई थी, जिससे स्कार्फ ऊपर खिंच आया था। उसके दोनों हाथ आगे स्कर्ट की ओर मुड़ गए थे... वह उसे पकड़े थी ...हवा से रोकने के लिए।"[30]

स्मृति के ऐसे बहुत से टुकड़े हैं जो उनके पात्रों को वर्षों बाद भी याद रह गये हैं। बस उन्हें जरा सी चाभी देने की देर होती है कि "उनकी स्मृतियाँ एक रेलगाड़ी की तरह अपनी पटरी पर घूमने लगती थीं।"[31] उनकी स्मृतियों को चाभी देने का काम प्रकृति भी खूब करती है। प्रकृति और रोजमर्रा के जीवन के विभिन्न दृश्य, घटनाएँ उनकी यादों को उघारने का काम करते हैं। 'लालटीन की छत' में जब हवा चलती है तो दरवाजे खटकने लगते हैं तब काया को बहुत पहले के दिन याद आ जाते हैं - "बाबू जब कभी दिल्ली से लौटते तो इसी तरह दरवाज़ा खटखटाते थे।"[32]

'अंतिम अरण्य' में भी हवा चलती है तो उसके नैरेटर को दीवा की याद आती है। वही दीवा जिन्होंने उसे बहादुरगंज बुलाया था, अपने पति की देख-रेख करने के लिए। नैरेटर को वह पहला दिन याद आता है जब वह दीवा से मिला था बैडमिंटन कोर्ट पर - "उस दिन भी हवा वैसे ही चल रही थी जैसे आज... हवा में बहती हुई शटल-कॉक कोर्ट की बाउंड्री को लाँघकर वहाँ चली आई... जहाँ मैं खड़ा था। वह बिल्कुल मेरे पैरों के सामने आकर गिर गई थी। सफ़ेद चिड़िया! वह भागती हुई मेरे पास आईं और मैंने चिड़िया उठाकर उनके हाथ में पकड़ा दी।"[33]

'एक चिथड़ा सुख' के नैरेटर को दिल्ली में पुराने किले के पास नुमाइश का मैदान देख वह दिन याद आ जाता है जब वह एक दिन बिट्टी को इलाहाबाद में जबरदस्ती पकड़कर नुमाइश के मैदान में ले गया था - "उसे याद है। वह उसे घसीटकर लाया था --- उसने कपड़े भी नहीं बदले - जैसी थी वैसी ही उसके साथ चली आई थी - इस एक शर्त पर - कि वे एक घंटे में घर लौट आएँगे। वह मान गया था क्योंकि बदले में बिट्टी ने उसे यह तसल्ली दी थी कि वे रिक्शा में जाएँगे और रिक्शे के पैसे वह देगी।"[34]

दूर से आती झरने की आवाज़, नदी की हिलोर, हवा की सरसराहट हो या रेडियो पर बजता कोई संगीत वह सब उनके पात्रों को अपने साथ स्मृति लोक में लेकर जाते हैं। 'वे दिन' में रेडियो पर एक पुराना रिकॉर्ड सुनकर उसके पात्रों को 'मानेश' की याद आती है। वहाँ पर गिरी बर्फ़ की याद। नैरेटर रिकॉर्ड सुनता हुआ टी०टी० से कहता है -

"तुम्हें याद है?"...

टी०टी० मुस्कुराने लगा।

"तुम क्या वही सोच रहे थे?"

"वही क्या?"

"जब हम मानेश गए थे।" मैंने उसकी ओर देखा।

टी०टी० ने सिर हिलाया। यह विचित्र है कि किसी रिकॉर्ड या शराब के साथ कितनी स्मृतियाँ जुड़ जाती हैं। हम सुनने लगे... हमने उस रात यही गीत माइक्रोफ़ोन पर सुना था, मानेश में। अब इन दिनों बर्फ़ को देखते ही मन ऊब जाता है। लेकिन वह सर्दियों का पहला दिन था, जब बर्फ़ गिरी थी। वे शुरू नवम्बर के दिन थे...।"[35]

निर्मल के पात्र कहीं भी हो किसी भी शहर या देश में, रहते वह स्मृतियों के घेरे में ही हैं। स्मृति उनकी देह में सांस की तरह चलती है। 'वे दिन' की रायना प्राग में घूमने आती है। वह इस दौरान नैरेटर के बहुत करीब आ जाती है पर उसका अतीत उसके संग-संग चलता रहता है। रायना प्राग के चर्च, पब, पहाड़ियों, एम्बेंकमेंट, रेस्त्रां से गुजरते हुए जब-तब अपनी स्मृतियों में चली जाती है। वह अपने बचपन, पूर्व पति जॉक ओर युद्ध

की छायाओं से मुक्त नहीं हो पाती। प्राग की पहाड़ियों पर वह एक जगह लिखा देखती है- "रुदा केम हियर टु सी प्राग"[36]

यह वाक्य पढ़कर उसे युद्ध के दिनों की याद आ जाती है। वह कहती है -

"वे इसी तरह दीवारों पर लिखते थे... तुमने कभी कैम्प देखे हैं? मेरा मतलब हैं जहाँ वे थे। उनकी साइट..."

"कैसे कैम्प?"

"लड़ाई के दिनों में... वे हर जगह थे। मरने से पहले वे दीवारों पर लिखा करते थे।" एक ठंडी-सी झुरझरी मेरी देह में दौड़ गई। हल्का सा कौतूहल भी।"[37]

रायना नैरेटर के साथ स्केटिंग रिंक में होती है वहाँ भी स्मृति चुपके से उनके बीच आ जाती है। "एक क्षण चुप रहकर उसने धीरे-से मुस्कुराकर कहा, "कल शाम जब हम स्केटिंग-रिंक में थे, तब मुझे बहुत पहले के दिन याद हो आए थे - लड़ाई के पहले के दिन। उन दिनों स्कींग के लिए हम साल्सबुर्ग जाते थे। तब मैं बहुत छोटी थी...।"[38]

'वे दिन' में रायना की स्मृतियों के ऐसे कई प्रसंग देखने को मिल जाते हैं जब वह प्राग छोड़ अतीत में चली जाती है। 'लालटीन की छत' की काया भी स्मृतियों से मुक्त नहीं हो पाती। वह अपने चाचा के घर फॉक्सलैण्ड जाती है। वहाँ भी स्मृतियाँ उसका पीछा नहीं छोड़ती - "उसे याद आया, छोटे इस समय अपने कमरे में अकेले बैठे होंगे। माँ अपने कमरे में लेटी होंगी। नीचे हवा के झोंको से मिस जोसुआ का लेटर-बाक्स खुलता होगा, बन्द होता होगा, फिर खुलता होगा।"[39]

काया को स्मृतियों के घेरे में रहना ही अच्छा लगता है। चाचा के घर रहते हुए उसे बेचैनी अनुभव होती है क्योंकि वहाँ पर उसकी कोई स्मृति नहीं जुड़ी है। उस घर में घटी कोई ऐसी बात नहीं है जिसने उसकी स्मृति में जगह बनाई हो। चाचा के घर का काया से जुड़ा कोई अतीत नहीं है। न वहाँ लामा का कमरा है न काली का मंदिर न रेल की पटरियाँ कुछ भी नहीं - "यहाँ कोई ऐसी आवाज़ नहीं, जिसे वह पहचान सके। कोई ऐसे

शब्द नहीं, जो किसी स्मृति से जुड़े हो - सिवा उन शब्दों के जो उसने दरवाज़े के आगे देखे थे - Attention Please, Steps Ahead."[40]

निर्मल के पात्रों के मन में स्मृति के प्रति आग्रह इतना अधिक है, कि वह वर्तमान के लिए भी कल्पना करने लगते हैं एक दिन यह स्मृति में बदल जायेगा। 'एक चिथड़ा सुख' का नैरेटर सोचता है - "यह मुझे याद रहेगा, उसने सोचा, यह मैं अपनी डायरी में लिखूँगा, "बिट्टी कपड़े टाँग रही थी, कमरे में पीला-सा अँधेरा था। डैरी दीवार के सहारे बैठे थे, बाहर बिट्टी को देख रहे थे और मैं...।"[41]

इस उपन्यास का नैरेटर स्मृति की छोर को भविष्य तक ले जाता है। वह भविष्य के उस दिन की कल्पना करता है जब बाबू उसकी डायरी पढ़ेंगे उस दिन उसका वर्तमान स्मृति में बदल जायेगा - "आप यह डायरी देखेंगे, पहले पन्ने पर माँ का डेडीकेशन होगा --- फिर आप कुछ पन्ने पलटकर देखेंगे, मेरी दिल्ली की डायरी और आप सोचेंगे, कैसा लड़का था यह --- ये सिर्फ मैला परदा है, जिन पर मेरे दिल्ली के दिन बीते थे, जब बरसों पहले आपने मुझे यहाँ भेजा था और तब आप एक-एक पन्ने को पार करते हुए इस क्षण पर आ ठिठके, जो आज है, अब है...।"[42]

यह है निर्मल की कला जो वर्तमान और भविष्य को भी स्मृति में बदलता हुआ देख लेती है। यह उनके काल-बोध की समग्रता है जो सब कुछ को एक साथ देखता है।

स्मृतियाँ निर्मल के पात्रों के साथ छाया तरह की तरह चिपकी रहती हैं। वह उसकी धड़कने हैं। 'वे दिन' का नैरेटर इस धड़कन को अपने भीतर हमेशा महसूस करता है। वह कहता है - "आने वाले दिनों में कितनी बार यह भ्रम हुआ है... सिंक में बर्तन धोते हुए... लगता था मैं पीछे मुड़ूँगा और वह खड़ी होगी... वैसे ही, बहते पानी में अपने ठिठुरते हाथों को मलती हुई।"[43]

निर्मल वर्मा के उपन्यासों में 'रात का रिपोर्टर ही एकमात्र ऐसा उपन्यास है जो वर्तमान की कथा कहता है। पर उस पर भी स्मृति की छाया दिखाई देती है। इसका नायक

रिशी अपने वर्तमान से जूझता हुआ पत्नी उमा और प्रेमिका बिंदु की स्मृतियों में बार-बार डूब जाता है। बस्तर में बिताये दिन उसे जब-तब याद आ जाते हैं।

इस तरह देखा जा सकता है निर्मल के उपन्यासों पर स्मृति का बहुत अधिक प्रभाव है। उनके पात्र स्मृति के घेरे में तो रहते ही हैं प्रकृति और परिवेश भी स्मृति में रंगे हुए हैं। कथानक का विकास भी स्मृतियों के सहारे होता है। अतीत में जीते हुए निर्मल के पात्र स्मृति के सहारे अपने अकेलेपन से लड़ने की कोशिश करते हैं।

अकेलापन

अकेलापन निर्मल वर्मा के साहित्य का स्थायी भाव है। उनके सभी उपन्यासों में अकेलापन किसी न किसी रूप में मौजूद मिल जाता है। उनके उपन्यासों में अकेलेपन का गहरा बोध है। उसकी पीड़ा है और उससे मुक्ति की आकाँक्षा भी। अकेलेपन की अपरिभाषित पीड़ा को लिए-दिए निर्मल के उपन्यासों के चरित्र जब पन्नों पर उद्घाटित होते हैं तो करुणा, यातना, दु:ख की एक अंतहीन गाथा की सृष्टि होती है। इन चरित्रों से गुजरते हुए लगता है कोई किसी के अकेलेपन में साझा नहीं कर सकता। यह इनकी नियति है। अस्तित्व की अपरिहार्यता है "अकेलापन जो दु:ख, पीड़ा, आँसुओं से बाहर है - जो महज़ जीने के नंगे बनैले आतंक से जुड़ा है - जिसे कोई दूसरा व्यक्ति निचोड़कर बहा नहीं सकता।"[44]

फिर भी वे कोशिश करते हैं अकेलेपन के बीहड़ से बाहर आने के लिए। अकेलेपन से मुक्त होने की छटपटाहट ही उन्हें अपने जैसों के करीब लाती है। वे एक दूसरे के पास आते हैं कुछ कदम साथ आगे बढ़ाते हैं। लेकिन उनकी नियति देखिए जब वह पीछे मुड़कर देखते हैं तो होता कुछ नहीं। बस वह जरा सा और अकेले हो जाते हैं और अधूरे, खाली।

'वे दिन' से लेकर 'अंतिम अरण्य' तक में इसी अकेलेपन की कथा चलती है। इन उपन्यासों में अकेलेपन का गहरा बोध है और उस से मुक्त होने की आकाँक्षा भी।

अकेलापन कितना बड़ा दु:स्वप्न है यह सिर्फ 'लालटीन की छत' की कुछ टिप्पणियों में ही देखा जा सकता है। 'अकेलापन' जो आदमी को भीतर ही भीतर खोखला करके रख देता है उसे निर्मल एक बीमारी की तरह मानते हैं। इस उपन्यास की मुख्य चरित्र काया को लगता है – "जैसे अकेलापन कोई बीमारी है, जो भीतर पनपती है, और बाहर से जिसे कोई नहीं देख सकता।"[45]

यह सिर्फ बीमारी ही नहीं है मृत्यु के समान भी है। काया के छोटे भाई को अकेलापन मृत्यु के समान जान पड़ता है – "छोटे अभी उस चीज़ को नहीं जानते थे, जिसे बड़ों की दुनिया में मृत्यु कहा जाता है। किन्तु जिस उम्र में वह थे, वहाँ किसी का अभाव, किसी का चले जाना, किसी का न होना, मृत्यु से कम नहीं था।"[46] छोटे के लिए अगर अकेलापन मृत्यु के समान है तो काया के लिए यह पाप है। अकेला होना ही उसे पाप लगता है – "पहली बार उसे छोटे का न होना एक पाप-सा जान पड़ा – शायद पहले-पहल 'पाप' का सामना भी अपने अकेलेपन में होता है।"[47]

अकेलापन अगर पाप है तो इससे मुक्त होना ही चाहिए। उनके चरित्र मुक्त होना भी चाहते हैं, मुक्ति की गहरी आकाँक्षा है उनमें, पर नियति उन्हें कहाँ मुक्त होने देती है... 'वे दिन' में इंदी और रायना के साहचर्य के कई मार्मिक प्रसंग हैं। वे एक दूसरे के प्रति आकर्षण महसूस करते हैं यह जानते हुए भी कि आगे फिर अकेले हो जायेंगे – "उस रात पहली बार मुझे लगा कि एक व्यक्ति दूसरे के लिए अँधेरा है – जैसे वह मेरे लिए थी, मैं उसके लिए। तीन दिन, तीन वर्ष... समय कुछ भी मानी नहीं रखता – अगर हम एक सुलगते क्षण में अँधेरे के बीच उस ताप को पकड़ सकें... यह जानते हुए भी कि उसके बुझने के बाद हम फिर दुबारा अपने-अपने अँधेरे में ठिठुरने लगेंगे।"[48]

इसी उपन्यास में एक और जोड़ा है फ्रांज और मारिया का। वह भी अकेले हैं। इंदी और टी०टी० चाहकर भी उनका अकेलापन नहीं दूर कर पाते। यह अकेलापन ही ऐसा है जिसमें चाह कर भी कोई किसी की मदद नहीं कर पाता। 'एक चिथड़ा सुख' में भी नित्ती भाई के अकेलेपन को डैरी, बिट्टी और नैरेटर दूर नहीं कर पाते। नित्ती भाई के अकेलेपन

को देखकर लगता है कुछ लोग मदद के परे चले जाते हैं जैसे 'लालटीन की छत' में काया, जिसके बारे में लेखक कहता है – "कुछ लोग हमेशा मदद के परे होते हैं" – काया शायद ऐसी ही थी।"[49]

मदद से परे यह चरित्र कितने कारुणिक हो जाते हैं इसका मार्मिक आख्यान निर्मल के उपन्यासों में है। 'रात का रिपोर्टर' का रिशी अपनी पत्नी और प्रेमिका के होते हुए भी आपातकाल के आतंक से अकेला भागता फिरता है कोई उसकी मदद नहीं कर पाता। काया अपना अकेलापन दूर करने के लिए मंगतू, छोटे, लामा, बीरु, भोलू, नथवाली औरत सबसे जुड़ती है फिर भी रहती अकेली ही है। इनमें से कोई भी उसकी मदद नहीं कर पाता। 'एक चिथड़ा सुख' में नित्ती भाई का चरित्र बहुत ही कारुणिक बन पड़ा है। नित्ती भाई अपनी प्रेमिका इरा को चाहते हैं। उनकी पत्नी भी है, एक बेटा भी। वह अपनी पत्नी को छोड़ नहीं सकते और इरा का मोह भी नहीं त्याग पाते। इन दोनों के बीच झूलते हुए वह बहुत अकेले हो जाते हैं। उनकी दारुण दशा का नैरेटर साक्षी होता है। वह उनके चेहरे पर हमेशा एक निरीहता का भाव देखता है – एक थका हुआ चेहरा जो मदद से परे चला गया है – "दाढ़ी बढ़ी थी, वैसे नहीं, जिसे बढ़ाया जाता है, जैसे डैरी की दाढ़ी थी, बल्कि जिसे देखकर लगता था, जैसे वह शेव करना भूल गए हों; नीले गालों पर छोटे-छोटे सफेद उगे हुए बाल। मैंने कभी किसी आदमी को अपने प्रति इतना लापरवाह नहीं देखा था – मानो उनका अपने शरीर से कोई रिश्ता न हो।"[50]

अकेलेपन ने उन्हें वीतरागी बना दिया है। 'एक चिथड़ा सुख' के पात्र वीतरागी ही लगते हैं। नियति ने इनके लिए मिलन और विरह का अर्थ एक ही कर दिया है। उन्हें लगता है मिलकर भी अकेले ही रहेंगे, नतीजा वहाँ न मिलने की खुशी है न बिछुड़ने का गम। और वे भटकते ही रहते हैं। 'वे दिन' में रायना, मारिया, फ्रांज का चरित्र भी नित्ती भाई जैसा है। 'वे दिन' में फ्रांज प्राग छोड़कर जा रहा होता है। पर उसकी प्रेमिका मारिया वीसा नहीं मिलने के कारण साथ नहीं जा पाती। अपनी नियति को पहचान वह तटस्थ ही रहती है कोई प्रतिक्रिया नहीं करती। इसी तरह रायना नैरेटर के आग्रह करने के बाद भी

प्राग नहीं रुकती चली जाती है। उन दोनों के बीच साहचर्य के कितने आत्मीय पल आये – प्राग की सड़क पर बर्फ़ पर भागते हुए, रेस्त्रां में, चर्च में, स्केटिंग रिंक में – पर रायना नहीं रुक पाती। नियति का बोध उसे नैरेटर से अलग कर देता है।

निर्मल के उपन्यासों में अकेलेपन का गहरा बोध है। उनके चरित्र तो अकेले हैं ही उनका परिवेश भी अकेलेपन की सृष्टि करता है। 'लालटीन की छत' में सारा परिवेश ही अकेलेपन का है। चारों ओर खड़े बड़े-बड़े पहाड़। अँधेरा और सन्नाटा। यहीं काया का घर है लालटीन की छत वाला। जहाँ –

"बाहर बरामदे का फर्श गुर्राया था। वह अँधेरे में चुपचाप गुर्राता रहता था।"[51]

और –

"कभी-कभी शाम के पीले धुँधलके में मकान भी अजनबी लगता। सारा दिन भटकने के बाद जब वह लौटती, तो हमेशा पाँव रुक जाते – दुमंज़िला लकड़ी का मकान, नीचे मिस जोसुआ का वीरान बरामदा और बन्द खिड़कियाँ, ऊपर लालटीन की ढलुँवा छत, छत पर सिर उठाये काली चिमनी – यह उसका घर था। बाबू का कमरा बन्द रहता। लामा के कमरे के किवाड़ कभी हवा में खुलते, कभी बन्द हो जाते – और उनकी आवाज़ समूचे घर में भड़भड़ाती रहती।"[52]

इस उपन्यास की मुख्य चरित्र काया अकेली है बिल्कुल अकेली। वह कहती भी है – "देखो, अब मेरा कोई नहीं है। मैं बिल्कुल अकेली हूँ।"[53]

काया के पिता दिल्ली रहते हैं। माँ बीमार रहती है। भाई बहुत छोटा है। कोई उसका हम उम्र नहीं जिससे वह अपने मन की बात कह सके। छोटी बच्ची से किशोरी होती लड़की भीतर की हलचलों को किसी से साझा कर सके ऐसा कोई चरित्र उसके साथ नहीं है। बुआ की लड़की लामा कुछ दिन के लिए उसके घर आयी थी। वह भी चली गयी। उसके जाने के बाद वह अपने आप को बहुत अकेला पाती है। बस सारा दिन भटकती रहती है। उसे लगता है – "अगर वह पीठ मोड़कर उल्टी दिशा में चलने लगे, तो

भी उसे कोई नहीं बुलायेगा। अगर वह रात-भर अपने घर के सामने अँधेरे में खड़ी रहे, तो भी किसी को उसका अभाव नहीं अखरेगा। वह मकान उसके प्रति इतना ही उदासीन रहेगा, जितना चारों तरफ खड़े पहाड़ जो सबकुछ देखते हैं, लेकिन अपनी जगह से एक इंच भी डावाँडोल नहीं होते। उन दिनों काया ने पहली बार अपने अकेलेपन को देखा था - "साफ-साफ अँधेरे में।"[54]

काया को सिर्फ अपने अकेलेपन का ही अहसास नहीं होता उसे पूरा परिवेश ही अकेला नजर आता है। परिवेश ही नहीं समय भी। जहाँ सब कुछ एक रस है। ठहरा हुआ, सूना अपने में अकेला। जैसे दिन वैसे रात। जैसे गर्मी वैसे सर्दी। जनवरी, फरवरी, मार्च सब एक जैसे अकेले। एक रस। पहाड़, जंगल, ईश्वर, काली माता, मंदिर की घंटी, चर्च, हवा, सारी संज्ञाएँ, सारी सत्ताएँ सब अकेली हैं, सूनी हैं। जैसे अपना घर वैसे चाचा का घर। सूना और अकेला। हवा सूनी है। वर्तमान ठहरा हुआ है। स्मृति एक रस है जीवन एक रस है, कुछ भी नया नहीं। चाचा के घर जाती है। वहाँ कजिन मिलता है बीरू, वह भी अकेला है। अपना अकेलापन दूर करने के लिए स्वेटर बुनता है फिर उधेड़ देता है। काया उसे स्वेटर बुनता देख पूछती है -

"तुम बुनाई करते हो?" काया की आँखें फैल गयीं।

"हाँ...क्यों?"

"लड़के होकर?"

"इसमें लड़के-लड़कियों की क्या बात है?" बीरू ने शान्तभाव से कहा।...

"तुम्हें बुनना आता है?" बीरू ने पूछा

काया ने सिर हिलाया।

"मुझे बहुत अच्छा लगता है... तुम बहुत सी चीज़ें बना सकती हो - मोजे, दस्ताने, छोटे-छोटे स्वेटर।"

"क्या करते हो इन चीज़ों का?"

"कुछ नहीं। बनाकर उधेड़ देता हूँ। बीरू ने कहा।"[55]

शायद यह चरम है अकेलेपन का।

'अंतिम अरण्य' में भी अकेलेपन का गहरा बोध है। इसके पात्र जीवन के आखिरी मोड़ पर अकेले रहते हुए मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस उपन्यास के मुख्य पात्र मेहरा साहब पत्नी दीवा की मृत्यु के बाद अकेले पड़ गये हैं। एक बेटी है तिया जो किसी दूसरे शहर में डॉक्टर है कभी-कभी ही आ पाती है उनसे मिलने। बाकी समय मेहरा साहब पहाड़ पर अकेले ही गुजारते हैं। अकेलापन दूर करने के लिए वह नैरेटर से अपनी स्मृतियों को साझा करते हैं फिर भी अकेलेपन का बोध उन्हें बना ही रहता है। उनके अकेलेपन को लक्ष्य कर नैरेटर कहता है - "वह आ रहे हैं। मैं उन्हें दूर से देख सकता हूँ। मैं कोशिश करता हूँ कि यह जान सकूँ वह किसी के साथ हैं या अकेले? लेकिन यह असम्भव है। वह ढलान के ऐसे कोण पर हैं, जहाँ दूसरा हो भी, तो दिखाई नहीं दे सकता। मैंने कोशिश छोड़ दी है। वह अब पेड़ों के अन्तिम झुरमुट में चले गए हैं, जिसकी हरियाली छत पर डूबते सूरज की एक पीली परत फैली है। उसके ऊपर परिन्दों का रेला है और उसके ऊपर आकाश, तारे, हवा... और फिर कुछ भी नहीं।"[56]

और वहाँ कुछ भी नहीं है। पहाड़ का सूनापन है और अकेलेपन का बोध है। मृत्यु की आहटे हैं। मृत्यु के पदचाप को मेहरा साहब चुपचाप अपने कमरे में अकेले लेटे हुए सुनते हैं। अकेलेपन का बोध निरंजन बाबू को भी होता है। वह अपने घर से दूर यहाँ पहाड़ पर सेब का बगीचा लगाकर उसमें मन बहलाने का प्रयास करते हैं। इसी तरह अन्ना जी हैं जो अपना देश छोड़ यहाँ पहाड़ी कस्बे में पियानो के सुरों में अकेलापन दूर करने का प्रयास करती हैं। नैरेटर भी यहाँ अकेलेपन के बीच अपने अस्तित्व की तलाश करता है।

'एक चिथड़ा सुख' में भी अकेलेपन का गहरा बोध है। इसका नैरेटर मुन्नू इलाहाबाद से दिल्ली अपनी कजिन के पास आया है। उसकी कजिन बिट्टी थियेटर में काम करती है। वह रिहर्सल के लिए रोज स्टूडियो निकल जाती है और उसके पीछे मुन्नू अकेला इधर-उधर भटका करता है। वह जब घर पहुँचता है तो उसे अक्सर कागज की एक चिट मिलती है जिसे बिट्टी उसके लिए छोड़ जाती है - जिनमें यह लिखा होता था - "मैं आई थी - तुम नहीं थे। खाना बना दिया है - अगर देर से लौटी तो खाकर सो

जाना, बस।"[57] बिट्टी की यह स्लिपें उसे अकेलेपन और सूनेपन का अहसास कराती हैं। वह "जब तकिए पर सिर टिकाता तो कागज़ की चिप्पियाँ कराहने लगती, बिट्टी की स्लिपें, जिन्हें वह हर सुबह स्टूडियो जाने से पहले उसके सिरहाने रख देती, "मैं आज देर से लौटूँगी, तुम खाना खाकर सो जाना। मेरा इन्तज़ार मत करना।" कागज़ की हर चिप्पी पर उसका एक खाली दिन चिपका रहता - उसके अकेलेपन का कैलेंडर - जिसे वह अपने साथ इलाहाबाद ले जाना चाहता था।"[58]

मुन्नू दिल्ली में रहकर अकेलापन दोहरे स्तर पर भोगता है। वह स्वयं तो अकेला है ही, अपनी कजिन के अकेलेपन का भी साक्षी है। वह अक्सर उसे छत पर, रास्ते में उदास, अकेले चलते हुए देखता है। बिट्टी ही नहीं उसके प्रेमी डैरी और दोस्तों इरा, नित्ती भाई के अकेलेपन को भी वह रोज की जिंदगी में देखता है। वह अकेलेपन का भोक्ता भी है, साक्षी भी। इस दोहरे स्तर के अकेलेपन ने उसके चरित्र को बहुत निरीह बना दिया है। मुन्नू के पास एक डायरी है जिसमें वह दिल्ली की घटनाओं के बारे में लिखता है - अपने आसपास के चरित्रों के दु:ख और अकेलेपन के बारे में। वह सोचता है एक दिन बाबू जब इस डायरी को पढ़ेंगे तो वह भी उनके अकेलेपन के साक्षी बनेंगे। वह अपनी कल्पना में बाबू को सम्बोधित कर कहता है - "(यह डायरी पढ़ते हुए) आप जहाँ चाहें, रुक सकते हैं, डायरी बन्द करके मुझसे छुटकारा पा सकते हैं, लेकिन मुझे मालूम है अब आप मुड़ना नहीं चाहेंगे, आप उस लड़की को देख रहे हैं, जो रसोई में सन्नाटे में अकेली बैठी है, आप इलाहाबाद के स्टेशन पर उसे छोड़ने आए थे जब चाची खम्बे के पीछे मुँह छिपाकर रो रही थीं। आप देहरी पर खड़े हैं?... मैं तो हर रोज़ देखता हूँ, जब वह पी रही होती है और मैं सोचता हूँ, ये लोग जो अकेले में पीते होंगे कुछ वैसे ही होते होंगे जो अपने से अकेले में बोलते हैं...।"[59]

निर्मल के उपन्यासों में सिर्फ चीखता हुआ अकेलापन ही नहीं है। साथ रहने के, एक दूसरे की चाहना के कुछ सुखद, आत्मीय क्षण भी हैं। अकेलेपन की कारा से बाहर निकलकर आये यह क्षण बहुत मोहक बन पड़े हैं। 'वे दिन' में ऐसे ही कुछ बड़े सुखकारी

दृश्य हैं। जो अकेलेपन की आँच में झुलसते हुए मन को बर्फ़ के फाहे रखकर आह्लादित करती है। रायना प्राग घूमने आई है। ठंड के दिन हैं। नैरेटर के साथ प्राग की सड़कों पर चलते हुए वह ठंड से बचने के लिए उसके कोट की जेब में हाथ डाल देती है। वे सड़क पर चल रहे होते हैं बर्फ़ गिरने लगती है। वे एक दूसरे का हाथ पकड़कर भागते हैं – "कुछ देर बाद बर्फ़ गिरने लगी और हम भागने लगे। --- "...तुम अपना सिर ढँक लो।" मैंने कहा। "नहीं", उसने हँसते हुए कहा, "मुझे बर्फ़ में नंगे सिर चलना अच्छा लगता है।" --- हम ज़्यादा तेज़ नहीं भाग सकते थे, क्योंकि उसके सैंडिल बार-बार फिसल जाते थे... और हालाँकि हमने एक-दूसरे का हाथ पकड़ रखा था, उसका फ़ायदा कुछ भी नहीं था, क्योंकि वह भागते हुए नीचे झुक जाती थी, अपनी स्कर्ट को नीचे करने के लिए।"[60]

ऐसे ही एक दृश्य में रायना नैरेटर के ऊपर बर्फ़ डालकर उसे छेड़ती है। इस छेड़छाड़ में एक आत्मीय उलाहना भी है –

"उसने ज़मीन से बर्फ़ उठाकर मेरे कोट के पीछे गर्दन में डाल दी। एक ठंडी-सी झुरझरी मेरी पीठ पर उतरने लगी "क्या कर रही हो?" मैंने उसका हाथ पकड़ने की कोशिश की...

"मुझे तुम सुबह यहाँ क्यों नहीं लाए?" उसने हँसते हुए मेरी ओर देखा। मैंने बर्फ़ निकालने की कोशिश की, लेकिन वह पिघलने लगी थी और अब पीठ से उतरकर कमर के पास अटक गई थी।"[61]

लेकिन साहचर्य के इन सुखद क्षणों के बाद भी वे अकेले ही रह जाते हैं। नियति उन्हें अकेला कर देती है। यहाँ अकेलापन उनके अस्तित्व की अपरिहार्यता बन जाता है। जिसका उत्स निर्मल मनुष्य के महज होने के बोध में देखते हैं।

इस तरह निर्मल के उपन्यासों में अकेलेपन का गहरा बोध और उससे मुक्त होने की मनुष्य की हार्दिक आकाँक्षा देखने को मिलती है।

भय और आतंक – निर्मल के उपन्यासों में भय और आतंक की स्थितियों का प्रभावशाली चित्रण हुआ है। इनके उपन्यासों में भय और आतंक का चित्रण कई रूपों में हुआ है। इनमें

कहीं अकेलेपन और मृत्यु का भय और आतंक है, जिनसे वय:सन्धि की दहलीज पर खड़े कुछ पात्र गुजरते हैं तो कहीं सत्ता द्वारा पैदा किए गये आतंक का भयावह परिदृश्य है। भय और आतंक की स्थितियों का अंकन उनके दो उपन्यासों 'लालटीन की छत' और 'रात का रिपोर्टर' में विशेष रूप से हुआ है।

'रात का रिपोर्टर' में आपातकाल के भयावह परिदृश्य का प्रभावशाली चित्रण हुआ है। इसमें उस दौर की कहानी है जब सत्ता द्वारा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अनेक तरह की पाबंदियाँ लगा दी गयी थीं। प्रेस पर सेंसरशिप लागू था। किसी भी संदिग्ध व्यक्ति को पकड़कर जेल के अंदर डाल दिया जाता था। इन स्थितियों का सामना 'रात का रिपोर्टर' का रिशी भी करता है। वह दिल्ली में फ्री लांस पत्रकार है। रिपोर्ताज लिखता है। लोगों के इंटरव्यू लेता है जो अखबार में छपते रहते हैं। एक दिन उससे मिलने एक सज्जन आते हैं - दयाल साहब जिनसे पहले कभी उसकी मुलाकात अनूप भाई के घर हुई थी। अनूप भाई को पुलिस पकड़कर ले गई थी। इंटेलीजेंस वाले हर उस व्यक्ति की सूची तैयार करते हैं जो अनूप भाई को जानता है। दयाल साहब रिशी को बताते हैं वह इंटेलीजेंस वालों की निगाह में है वह उसे कभी भी गिरफ्तार कर सकते हैं। वह इसीलिए उसे आगाह करने आये हैं। दयाल साहब की बातें उसके भीतर एक अनजाना डर पैदा करती हैं - "यह शुरूआत थी; सरसराते पेड़ के नीचे आतंक का एक चमचमाता चकत्ता उनके बीच चला आया। डर के आने के कितने गोपनीय रास्ते हैं, लेकिन जब वह सचमुच आता है, तो सब रास्ते अपने-आप बन्द हो जाते हैं, सिर्फ वह रह जाता है - कैंसर के कीटाणु की तरह -जिसके आगे मरीज की सब छोटी बीमारियाँ अचानक खत्म हो जाती हैं।"[62]

दयाल साहब रिशी को बताते हैं - इंटेलीजेंस वालों के पास उसके कुछ लेख हैं, एक फोटो है जब वह किसी जुलूस में था, कोई पेटीशन है, जिस पर उसने दस्तखत किए थे। वह इसी को लेकर मुझसे तुम्हारे बारे में पूछताछ कर रहे थें। इंटेलीजेंस वालों को रिशी की हर खबर है। इसीलिए वह उसे सावधान करते हैं। सतर्क रहे कोई ऐसी हरकत न करे जिससे उनका शक उसके ऊपर बढ़े।

दयाल साहब से मिलने के बाद रिशी के अनजाने भय और आतंक में घिरे रहने का सिलसिला शुरू होता है जो पूरे उपन्यास में व्याप्त है। खुफिया पुलिस की संदिग्ध व्यक्तियों की सूची में अपना नाम होने की सूचना रिशी के आंतरिक जीवन को उथल-पुथल से भर देती है। वह हर समय भय से घिरा रहने लगता है। अपने चारों तरफ उसे सत्ता का आतंक नजर आता है। आपातकाल के आतंक ने उसे बुरी तरह प्रभावित किया है। इसका प्रभाव उसके दाम्पत्य जीवन पर भी पड़ता है। उसकी पत्नी उमा बीमार है। अस्पताल में रहती है। गिरफ्तारी का डर और पत्नी की बीमारी का दु:ख दोनों मिलकर उसे बहुत त्रस्त कर देते हैं। वह भीतर ही भीतर संशय, डर और आतंक में घुलता रहता है। अपनी प्रेमिका बिन्दु से भी कुछ नहीं कह पाता जिससे वह नाराज भी होती है। आपातकाल के संकट और संबंधों के संकट ने उसके चरित्र को बहुत निरीह बना दिया है।

दयाल साहब रिशी से कहते हैं उसे हर समय सावधान रहना चाहिए - "देखिए, आप उनसे... अपनी माँ से कह दीजिये कि जब आप घर में न हो; तो किसी को भीतर न आने दें... और कोई फोन आए तो यह भी कहने की ज़रूरत नहीं कि आप कहाँ हैं...।"[63]

रिशी को लायब्रेरी में काम करते हुए, सड़क पर चलते हुए, पार्क में लेटे हर समय दयाल साहब की चेतावनी याद आती है - "वे आपको और मुझे कभी भी पकड़ सकते हैं, लेकिन फिलहाल नहीं, फिलहाल वे सिर्फ देख रहे हैं कि क्या हम इस काबिल हैं।"[64]

रिशी हर समय डर से घिरा रहने लगता है - दफ्तर से घर लौटता है तो ठीक से सो भी नहीं पाता। दरवाज़े पर थोड़ा-सा भी खटका होता, तो वह चौंक जाता - "उस रात वह ठीक से नहीं सो सका। दरवाज़े पर थोड़ा-सा भी खटका होता, तो वह चौंक जाता, जीने का दरवाज़ा खोलकर बाहर झाँकता, तो सारी गली सुनसान दिखाई देती। --- रिशी अपने कमरे में लौट आता और बिना बत्ती जलाए अपने बिस्तर पर बैठ जाता, लेट जाने की हिम्मत नहीं होती। मकान के खाली कोनों से आती हर आवाज़ एक अंदेशा जान पड़ती थी।"[65]

रिशी का डर उसकी माँ को भी छू गया है। वह रिशी से कहती हैं उसके पीछे रोज कोई फोन करता है कहता कुछ नहीं। वह उससे कहती हैं - घर में अकेली नहीं रह सकती-

"नहीं, नहीं मैं यहाँ अकेली नहीं रह सकती।" अचानक उन्होंने कहा।

"क्यों, क्या बात है?"

"जब से तू लौटा है, मुझे डर लगता है।"

उसका दिल ठहर-सा गया, "कैसा डर?"

"जब तू बाहर होता है, तो बार-बार कोई फोन करता है, मैं पूछती हूँ, कौन है, तो वह चुप रहता है। मुझे पता भी नहीं चलता कि फोन कट गया या वह अब भी सुन रहा है।"[66]

दयाल साहब से मिलने के बाद रिशी का डर बढ़ता ही जाता है। घर पर आने वाले अनजाने फोन कॉल उसे परेशान करते हैं। फोन की घंटी से उसे डर लगने लगता है। घर में फोन की घंटी बजती है और - "वह बरामदे को लाँघता हुआ बड़े कमरे में गया। एक क्षण फोन के सामने खड़ा रहा, पसीने की एक ठंडी लकीर उसकी रीढ़ की हड्डी पर खिंचती गई, उसने रिसीवर उठाया, लगभग चीखते हुए कहा - कौन? कौन है? किन्तु दूसरी तरफ सन्नाटा था, कोई कान लगाए उसे सुन रहा था, लेकिन खुद चुप था और तब उसने हताश होकर रिसीवर रख दिया - सिर पकड़कर वहीं बैठ गया - ऐसा कितने दिन चलेगा?"[67]

एक दिन अनूप भाई की पत्नी रिशी से मिलने आती है। वह उसे बताती हैं अनूप भाई को दूसरी जेल में ट्रांसफर कर दिया गया है। वह कहाँ है, उसे नहीं बताया गया। अनूप भाई का हाल जान वह दु:खी और परेशान हो जाता है। अनूप भाई की पत्नी उनकी रिहाई के लिए रिशी से मदद करने को कहती हैं। रिशी अपने को असहाय पाता है। उनसे कहता है - "आपको थोड़ी प्रतीक्षा करनी होगी..." उसने धीरे से कहा, "मैं आपको फोन करूँगा।"[68]

अनूप भाई की पत्नी जब उससे मिलकर जा रही होती हैं तो वह देखता है दो आदमी उसी की ओर देख रहे थे। उसे भय होता है कहीं वह खुफिया पुलिस के आदमी न हो। वह डर जाता है - "वह लायब्रेरी की तरफ मुड़ा और तभी उसके पैर ठिठक गए - जैसे जंगल के सन्नाटे में छठी इन्द्रिय हमें किसी खतरे के प्रति अगाह कर जाती है; आँखे उठाई, तो वे दिखाई दिए - दो आदमी, ईंट की फेंस के पीछे खड़े हुए। एक के

पास साइकिल थी, जो उसने फेंस से टिकाकर रखी थी, दूसरा उससे डेढ़ फीट की दूरी पर खड़ा था। दोनों एक-दूसरे के प्रति तटस्थ खड़े थे, एक की आँखे मुझ पर उठी थीं, दूसरा सड़क की ओर देख रहा था, जहाँ से बस अभी-अभी उन दोनों को ले गई थी। पता नहीं, वे वहाँ कब से खड़े थे?"[69]

इस घटना के बाद से उसका डर और बढ़ जाता है। उसे लगता है हर पल उस पर निगाह रखी जा रही है। उसे सड़क पर चलते हुए भय लगता है, कहीं कोई पीछा न कर रहा हो - "वह मुड़ जाता, बार-बार पीछे मुड़कर देखने लगता, कोई उसके पीछे तो नहीं आ रहा है?"[70]

एक दिन वह दयाल साहब से मिलने उनके घर जाता है तो वहाँ आपातकाल की क्रूर सच्चाई का सामना करता है। दयाल साहब उसे बताते हैं खुफिया पुलिस ने उन्हें किस तरह की यंत्रणा दी थी। वह उसे अपने पीठ के निशान दिखाते हैं -

"दयाल साहब, यह आप क्या कर रहे हैं?" ---

"घबराइये नहीं, ... आप तो पुराने रिपोर्टर हैं, लोगों से इंटरव्यू लेते हैं... मैं आपको अपने इंटरव्यू के कुछ निशान दिखाना चाहता था, जो उन्होंने भीतर लिया था, दिन-रात, अड़तालीस घंटे... आप पहले आदमी हैं, जिन्हें मैंने इन्हें दिखाया है।"[71]

इस सच का सामना करने के बाद रिशी भीतर तक हिल जाता है। वह आपातकाल के दुष्चक्र से निकलने के लिए छटपटाने लगता है। इधर-उधर सड़कों पर भागता है। उसे लगता है अब उसकी गिरफ्तारी का दिन आ गया है। अब वह नहीं बचेगा - "यह सच है, कभी-कभी मुझे लगता है कि यह मेरा आखिरी दिन है, इसके आगे वे अचानक ब्रेक लगा देंगे और बीच सड़क पर मेरे कन्धे मोड़कर कहेंगे - उधर नहीं, इधर। बस, खत्म।"[72]

रिशी पूरे उपन्यास में आपातकाल के संकट से त्रस्त रहता है। वह अपनी मुक्ति के लिए भटकता रहता है। निर्मल ने इस उपन्यास में आपातकाल के आतंक और भय को

बहुत बारीकी से उभारा है। रिशी के भीतर के डर, संशय और आतंक को मूर्त कर आपातकाल के दौर की भयावह सच्चाइयों को उजागर किया है।

'लालटीन की छत' में अकेलेपन का भय और आतंक है। पूरे उपन्यास में चारों तरफ चुप खड़े पहाड़ और खाली मकान का सन्नाटा गूँजता है। यहाँ सूनी दोपहरी है और अँधेरे वीरान कमरे जहाँ काया रहती है। निर्मल ने काया के मन के भय और आतंक का बहुत सूक्ष्म और प्रभावशाली चित्रण किया है। अपने घर का सूनापन काया को डराता है। उसकी माँ बीमार है, पिता दिल्ली रहते हैं, एक छोटा भाई है और कोई नहीं। उसके बुआ की लड़की लामा आयी थी, उसके घर रहने। वह भी कुछ दिन रहकर चली जाती है। उसका खाली कमरा काया और उसके छोटे भाई को डराता है – "वे बरामदे की तरफ देखते रहते। लामा के कमरे में अँधेरा रहता। जब ज़रा-सा भी दरवाज़ा खटकता, काया की देह सिहर उठती। छोटे और पास सरक आते – कोई आवाज़ नहीं।"[73]

काया की माँ बीमार रहती हैं। वह दूसरे कमरे में सोती हैं। काया अलग अपने कमरे में। रात होते ही काया को डर लगने लगता है। उसका नौकर मँगतू जब उसे कम्बल ओढ़ा कर जाने लगता तो वह डर जाती। भयभीत हो उसे अपने पास रुकने के लिए कहती – "जब मँगतू उसे कम्बल ओढ़ाकर जाने लगता तो वह अन्तिम बार उसके कोट के सिरे को पकड़ लेती, ठहरो, अभी मत जाओ, अभी नहीं... मँगतू दो पलंगों के बीच मैली चाँदनी के घेरे में ठिठक जाता, कोट के सिरे और काया के छटपटाते हाथों के बीच उसकी पुरानी हड्डियाँ चरमराने लगतीं। कैसी लड़की है? वह धीरे से गुर्राता – "कोई डर है, कहाँ, कहीं कुछ भी नहीं।"[74]

काया अपने चाचा के घर जाती है। वहाँ भी उसे सूना, खाली मकान मिलता है जिसका अकेलापन उसके भीतर डर पैदा करता है – "उसका मन हुआ, दरवाज़ा खोलकर भीतर देखे, कौन बत्ती जलाकर बैठा है? पर साहस नहीं हुआ। अजनबी मकानों के बन्द कमरे उसे हमेशा आतंकित कर देते थे। अपने पड़ोस के मकान भी, जो सर्दियों में खाली

हो जाते थे, उसे भुतहा-से जान पड़ते थे। वह और छोटे हमेशा उन मकानों से कतराकर निकल जाते थे।"[75]

काया का कोई हम उम्र नहीं है जिससे वह अपने मन की उलझनों को कह सके। माँ की बीमारी उसे आतंकित करती है। उसे समझ नहीं आता माँ के साथ क्या हो रहा है। माँ जब प्रसव-पीड़ा से चीखती है तो वह चुपचाप शीशे के भीतर से उसे देखती रहती है। वह भय से घिर जाती है। माँ की चीखों के बारे में उसे कोई कुछ नहीं बताता। वह पहाड़ भी जो बचपन से उसके अकेलेपन के साथी रहे हैं। वह असहाय सी हो जाती है। यहाँ काया की दशा बहुत मार्मिक बन पड़ी है - "तब दुबारा वह चीख सुनायी दी - और काया का सिर झटके से मुड़ गया - जैसे वह चीख खुद एक झटका हो जिसे सँभाल पाना असम्भव हो। पहले क्षण उसे पता नहीं चला कि वह कमरे के भीतर से बाहर आयी है - या कहीं बाहर से, और उसने छज्जे से परे देखा, जहाँ सिर्फ सन्नाटा था, पेड़ों की सरसराहट थी - और पहाड़ निस्पन्द-से चाँदनी में खड़े थे। यह असम्भव-सा लगा, कि जो चीखती आवाज़ उसे आरपार चीरती गयी हो, पहाड़ उसके प्रति बिल्कुल तटस्थ थे, चुप और शान्त और निश्चल। वे अपनी जगह से एक इंच भी हिले-डुले नहीं थे, और पहली बार उसे यह चीख भयानक-सी जान पड़ी, जिन पहाड़ों को वह इतना अपना समझती आयी थी, अचानक उस रात वे अजनबी से जान पड़े - जैसे उनका उससे कभी वास्ता न रहा हो - निर्मम अलग, धुन्ध और चाँदनी में लिपटे हुए ठण्डे, कितने उदासीन। समूची देह में एक बर्फ-सी सिहरन फैलने लगी और उसने अपना मुँह खिड़की की तरफ मोड़ लिया।"[76]

'लालटीन की छत' में अकेलेपन का जो आतंक भरा परिवेश है वह सिर्फ काया और छोटे को ही नहीं डराता, उनकी बुआ को भी डराता है। वह पहाड़ों का सूनापन देखकर आतंकित हो जाती है - "वह खाली हवा में बुड़बुड़ाती हुई चारों तरफ देखती-पहाड़ और उनके पीछे और पहाड़-बुआ का मन एक अजीब दहशत में सिकुड़ने लगता।"[77]

इस तरह अकेलेपन के आतंक और भय को निर्मल ने बहुत ही बारीकी से उभारा है। खाली मकान का सन्नाटा पूरे उपन्यास में गूँजता रहता है। जो 'लालटीन की छत' के पात्रों के साथ पाठक को भी त्रस्त करके रख देता है।

मृत्यु बोध

मृत्यु उतना ही बड़ा सच है जितना की यह जीवन। मृत्यु की इस अनिवार्यता ने भारतीय मनीषा को सहज ही आकर्षित किया है। भारत में मृत्यु संबंधी चिंतन की अविच्छिन्न परम्परा रही है। यहाँ मृत्यु को कभी 'अन्य' के रूप में नहीं देखा गया, बल्कि मृत्यु में ही जीवन के अर्थ की तलाश की गयी है। निर्मल वर्मा के साहित्य में मृत्यु संबंधी चिंतन उन्हें भारतीय मनीषा की चिंताओं से जोड़ता है। मृत्यु निर्मल के कथा-साहित्य का एक महत्वपूर्ण प्रत्यय है। उनके उपन्यासों में मृत्यु बोध के कई रूप देखने को मिलते हैं। यहाँ वय:सन्धि में अनुभव होने वाला मृत्यु बोध है जो भय, त्रास और विस्मय के मिले-जुले भावों को लिए हुए है तो वहीं एक परिपक्व और गंभीर चिंतन भी है जीवन और मृत्यु के प्रश्नों को लेकर। जो मृत्यु का साक्षात्कार करते निर्मल के कुछ वयस्क पात्र करते हैं। उनके उपन्यास 'अंतिम अरण्य' में मृत्यु का गहन और विशद विमर्श प्रस्तुत हुआ है। इस उपन्यास में मृत्यु से साक्षात्कार की कथा चलती है। साक्षात्कार भी नहीं उससे बातचीत है, आत्मीयता से भरी हुई। यहाँ मृत्यु से कोई भय नहीं है। 'अंतिम अरण्य' के पात्र मृत्यु की देवी के पास जाते हैं अपने को जानने के लिए, अपने जीवन को अर्थ देने के लिए। देवी भी बहुत उदार है इनकी प्रार्थना सुनती है उनके जीवन को औदात्य से भरती है। 'अंतिम अरण्य' कथा-साहित्य में निर्वेद की उपलब्धि है। निर्वेद का भाव उसे शांतरस के महाकाव्यात्मक उपन्यास की गरिमा देता है।

'अंतिम अरण्य' में एक पहाड़ी स्थान पर कुछ लोग अपने जीवन के आखिरी मोड़ पर इकट्ठा हैं। इन लोगों में हैं - अवकाश प्राप्त अधिकारी मिस्टर मेहरा, उनकी पत्नी दीवा, बेटी तिया, नैरेटर और नौकर मुरलीधर। यह सब एक बंगले में रहते हैं। बंगले से थोड़ी ऊंचाई पर एक जर्मन महिला रहती हैं अन्ना जी। उससे थोड़ी ऊंचाई पर रहते हैं

दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर निरंजन बाबू जिनका यहाँ सेबों का बगीचा है और वहीं कहीं डॉ सिंह रहते हैं जो मिस्टर मेहरा के फैमिली डॉक्टर हैं। उपन्यास की कथा कुल मिलाकर यह है कि - दिल्ली के एक अखबार में मिसेज मेहरा एक विज्ञापन देती हैं जिसमें एक पढ़े-लिखे युवक की मांग की गयी थी जो उनके पति मिस्टर मेहरा की छोटी-छोटी जरुरतों को पूरा कर सके। विज्ञापन पढ़कर नैरेटर पहाड़ों पर बसे बहादुरगंज कस्बे में मिसेज मेहरा के पास जाता है जहाँ उसकी नियुक्ति हो जाती है। कुछ दिनों बाद ही दीवा की मृत्यु हो जाती है। नैरेटर मिस्टर मेहरा के साथ उनके बंगले में रहने लगता है। मिस्टर मेहरा अपने अतीत के बारे में नैरेटर को बताते रहते हैं जिसे नैरेटर एक डायरी में नोट कर लेता है। मिस्टर मेहरा की बेटी तिया एक-दूसरे शहर में डॉक्टर है जो कभी-कभी ही वहाँ आती है। डॉ० सिंह मिस्टर मेहरा को देखने आया करते हैं। मिस्टर मेहरा अपने अकेलेपन के दिनों को नैरेटर, जर्मन महिला अन्ना जी, डॉ० सिंह और निरंजनबाबू के साथ बिताते हैं। मिस्टर मेहरा धीरे-धीरे बीमार पड़ने लगते हैं। उन्हें अपनी बेटी तिया की बहुत याद आती है वह नैरेटर के सामने तिया से मिलने की इच्छा जाहिर करते हैं। वे तिया के शहर जाने की तैयारी करते हैं तभी उन्हें लकवे का आघात होता है। कुछ दिन बाद तिया आती है उनसे मिलने। उसी दिन उनकी मृत्यु हो जाती है। नैरेटर एक पुत्र की तरह मिस्टर मेहरा का अंतिम संस्कार करता है। वह उनकी अस्थियों को सरपा नदी में प्रवाहित करने के बाद उनका पिंडदान भी करता है। बस इतनी सी ही कथा है।

उपन्यास के लगभग सारे पात्र पहाड़ी प्रदेश के एक सूने से स्थान पर अपने जीवन के आखिरी दिनों को बिता रहे हैं। वे वहाँ रहकर अपनी बीती हुई जिंदगी की थाह लेते हैं। अस्तित्व की तलाश ही उन्हें इस अरण्य में खींच लाई है। इस बारे में डॉ० सूर्यनारायण रणसुभे लिखते हैं - "वस्तुतः इस उपन्यास की कथा वस्तु एक ऐसे परिवेश से है जहाँ सब कुछ बीच चुका है। जहाँ कुछ लोग अपने-अपने बंगलों में बसे हुए हैं, एक लम्बी संघर्षमयी जिंदगी जीने के बाद अपनी ही खोज करते हुए। संभवतः अपने अस्तित्व की तलाश करते हुए। सम्भवतः मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए।"[78] नैरेटर इस बारे में कहता भी है

– "उसी की थाह पाने लोग इतने ऊपर चले आते हैं, जहाँ खड़े होकर अपनी बीती हुई ज़िंदगी के खँडहरों को देख सकें?"[79]

उपन्यास के सारे पात्र अपने उम्र के आखिरी मोड़ पर इस पहाड़ी शहर में आते हैं, पर नैरेटर बहुत शुरू में आ गया जिसके बारे में निरंजनबाबू कहते भी हैं – "यहाँ सब लोग अपनी ज़िन्दगी के अंतिम सिरे पर आते हैं... तुम शुरू में ही आ गए।"[80]

पर सच तो यह है कि नैरेटर का शुरू बहुत पहले ही खत्म हो गया था। वह सैंतीस साल की उम्र में, गंगा में पिता का अस्थि विसर्जन करके यहाँ आया है।

अंतिम अरण्य के पात्र मृत्यु से साक्षात्कार करते हुए स्मृतियों में बार–बार जाते हैं। मेहरा साहब स्मृतियों के माध्यम से ही अपने विगत जीवन का मूल्यांकन करते हैं। निरंजन बाबू अपने यूनिवर्सिटी के दिनों को याद करते हैं। अन्ना जी को पिछले दिनों की याद आती रहती है। इन पात्रों के लिए स्मृति में जाना आत्मनिर्वासन से मुक्ति का माध्यम भी है। स्मृति के माध्यम से अतीत की जीवंतता उपन्यास में लगातार बनी हुई है। देश, काल, पहाड़, मौसम, व्यक्ति, शहर, पीड़ा, आंसू, स्पर्श सब स्मृतियों में जीवित हैं। मृत्यु के बाद भी जीवन है – स्मृति के रूप में। मेहरा साहब की दिवंगत पत्नी दीवा सबकी स्मृतियों में जीवित है। स्मरण में दीवा की उपस्थिति बड़ी मार्मिक बन पड़ी है।

नैरेटर दीवा के बुलाने पर ही इस शहर आया था। जब वह यहाँ आया उसके कुछ समय बाद ही वह चल बसीं। नैरेटर ने थोड़े समय में ही उनसे गहरे आत्मीय संबंध बना लिये थे। दीवा की मृत्यु के बाद भी उनकी उजली हँसी की गूँज नैरेटर को सुनायी देती रहती है। उसे लगता है वह कहीं नहीं गई हैं। यहीं कहीं हैं। उसे रास्ते में चलते हुए उनकी छाया दिख जाती है – "चुंगी की चौकी के नीचे सिमिट्री का मैदान था... पत्थर की दीवार और चीड़ के पेड़ों से घिरा हुआ। वहाँ से गुज़रते हुए मुझे हमेशा मिसेज़ मेहरा का ध्यान आ जाता था, जैसे में उन्हें अकेला पीछे छोड़कर अन्ना जी के घर जा रहा हूँ।"[81] सिमिट्री को देख वह किसी और दिन में चला जाता है, वहाँ जहाँ दीवा हैं – "मैं किसी और दिन में चला गया था। वह मेरे आगे खड़ी थीं। वह अपने रूमाल से आँखें पोंछ रही थीं।"[82]

नैरेटर जब भी मेहरा साहब की स्मृतियों को दर्ज करने के लिए डायरी लिखने बैठता है, उसे लगता है दीवा यह सब दूर से देख रहीं हैं। वे अभी थोड़ी देर में आयेंगी और पूछेंगी कितना काम हुआ। आखिर दीवा के कहने से ही तो वह डायरी लिखने का काम कर रहा है और इसी कारण उनके जाने के बाद भी उसका मन इस काम में लगा हुआ है। इस बात को वह निरंजन बाबू के सामने स्वीकार भी करता है। निरंजन बाबू उससे पूछते हैं - (यह सब करते) "तुम्हारा मन बहल जाता है?

एक रूटीन तो है... उनके जाने के बाद अब उसे छोड़ना ठीक नहीं लगता।

उनके जाने के बाद? मुझे लगा, जैसे वह अभी टहलने गई हैं, लौटकर पूछेंगी, आज कितना काम हुआ।"[83]

दीवा की उपस्थिति का अहसास नैरेटर के अलावा बाकी सबको भी होता रहता है। उनके पति मिस्टर मेहरा उन्हें हर पल अपने पास महसूस तो करते ही हैं, नौकर मुरलीधर को भी लगता है मालकिन अब भी अपने घर में है। निरंजनबाबू नैरेटर से पूछते हैं - क्या मेहरा साहब दीवा को अब भी जीवित समझते हैं तो नैरेटर का जवाब होता है - "नहीं... जब वे मुझे नोट्स लिखवाते हैं... तो मुझे लगता है, वह जैसे कहीं दूसरे कमरे में बैठी हैं और वह अपनी आपबीती मुझे नहीं, उन्हें सुना रहे हैं।"[84]

नौकर मुरलीधर को भी मालकिन अब भी उसी घर में मौजूद लगती हैं। वह नैरेटर से कहता है - "वह यहीं हैं बाबू जी... घर का कोई आदमी घर थोड़े ही छोड़ देता है?"[85]

"बीतता कुछ भी नहीं है"[86] इस बात को डॉ० सिंह भी स्वीकार करते हैं। उन्हें लगता है दीवा आज भी उसी घर में हैं इसलिए मेहरा साहब को अपना घर छोड़ना आसान नहीं लगता। दीवा की आज भले ही भौतिक उपस्थिति न हो। पर उनका मन तो यहीं है। यहीं हमारे आस-पास। भला इस मन-प्राण को छोड़ मेहरा साहब कहाँ जा सकते हैं? डॉ० सिंह कहते हैं - "आदमी की काया उसे छोड़कर चली जाती है, तो इसका मतलब यह

नहीं कि वह अपने घर को छोड़ देता है, जहाँ उसके प्राण बसे हैं। ...मेहरा साहब क्या उन्हें पीछे अकेला छोड़कर जा सकते हैं?"[87]

मृत्यु के बाद देह जलकर धुएँ के रूप में आकाश में विलीन हो जाती है पर स्मृति के रूप में उसकी छाया धरती पर रह जाती है – "मरने के बाद वह हर व्यक्ति के भीतर अपनी जगह बना लेता है। उसका होना धुँधला पड़ता जाता है, उसका न होना उजला होता जाता है, इतना उजला और साफ़ लगता है कि वह हम सबके बीच बैठा है, एक जैसा नहीं, बल्कि अलग-अलग।"[88]

दीवा चली गई अब मेहरा साहब अपने जाने की प्रतीक्षा करते हैं। वह अपनी दिवंगत पत्नी को सम्बोधित कर कहते हैं – "दीवा, अब क्या यह मेरी बारी है?"[89]

वह अपने 'बचे हुए दिन' जानने के लिए उत्सुक हैं। इस बात का जिक्र करते हुए डॉ० सिंह नैरेटर से कहते हैं – "वह जानना चाहते हैं, उन्हें यहाँ और कितने दिन रहना है?"[90]

दीवा की मृत्यु के बाद मेहरा साहब धीरे-धीरे बीमार पड़ने लगते हैं। बीमारी के दिनों में वह अपनी तरफ कदम बढ़ाती हुई मृत्यु को देखते हैं। वह बिस्तर पर लेटे अपने को झरते हुए चुपचाप देखते रहते हैं। मृत्यु का साक्षात्कार करते हुए वह अपने ही साक्षी हो जाते हैं। उन्हीं के शब्द हैं – "मैं बिस्तर पर भी लेटा हूँ और अपने को खिड़की से भी देख रहा हूँ।"[91]

मेहरा साहब की आसन्न मृत्यु का अनुभव नैरेटर को भी होता है। उसे लगता है – "मुझे डर है, एक दिन वह इतने आगे निकल जाएँगे कि मुझे पता भी नहीं चलेगा, वह किस पहाड़ी के पीछे लोप हो गए!"[92]

एक दिन सबको चले जाना है। मेहरा को भी जाना है। यही जीवन का सच है। प्रकृति के नियम बड़े निर्मम हैं। उसके आगे किसी की नहीं चलती। चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो। मेहरा जैसा ऊँचे ओहदे वाला अफसर भी। मिस्टर मेहरा बड़े अधिकारी हैं। हर फाइल पर अंतिम दस्तख़त उनके ही होते हैं। लेकिन हमेशा नहीं। कथाकार अपनी

ओर से उन पर टिप्पणी करता है उन्हें याद दिलाता हुआ – "वह यह भूल जाते हैं कि आख़िरी फ़ाइल पर उनके नहीं, किसी और के दस्तख़त होते हैं।"[93]

अंतिम दस्तख़त तो मृत्यु के ही होते हैं। इस बात को डॉ० सिंह भी स्वीकारते हैं। वह कहते हैं – "देह का अंतिम संदेश सिर्फ़ मृत्यु के सामने खुलता है, जिसे वह बिल्ली की तरह जबड़ों में दबाकर शून्य में अन्तर्ध्यान हो जाती है...।"[94] वह देह की आकांक्षाओं को अनसुनी करते हुए उसे अपने में समा लेती है।

मृत्यु अनिवार्य है फिर भी देह की आकांक्षा तो बनी ही रहती है। इस बात को बड़े ही मार्मिक ढंग से निर्मल ने इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है। अपने अंतिम समय में मेहरा साहब को बेटी तिया बहुत याद आती है। वह उससे मिलने के लिए व्याकुल हैं। वह तिया के शहर जाने की बड़े मन से तैयारी करते हैं। पर नियति को तो कुछ और ही मंजूर था। उन्हें लकवे का आघात होता है और बेटी से मिलने की साध अधूरी ही रह जाती है। इसके कुछ दिन बाद तिया आती है उनसे मिलने। उसी दिन उनकी मृत्यु हो जाती है। नैरेटर उनका पुत्र के समान अंतिम संस्कार करता है। वह उनकी अस्थियों को प्रवाहित करने सरपा नदी ले जाता है। वहीं उसे एक पुरोहित मिलते हैं जो मेहरा साहब का पिंडदान करवाते हैं। वह मनुहार भरे स्वर में कव्वों का आह्वान करते हैं। कव्वे उनकी पुकार सुन चले आते हैं। कव्वे जो पितरों के प्रतीक हैं और मुक्ति का माध्यम भी। वह मृतक को तृष्णाओं से मुक्ति दिलाते हैं। मरने के बाद काया तो पंचतत्व में विलीन हो जाती है पर इच्छा काया शेष रह जाती है। जब तक इच्छा से मुक्ति नहीं होगी वास्तविक मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी। कव्वे मृतक की तृष्णाओं को चुगकर उसे मुक्ति दिलाते हैं। पुरोहित नैरेटर से कहते हैं – "आप सोचते हैं, ये अपनी भूख मिटाने आए हैं... वे उन तृष्णाओं को चुगने आते हैं, जो लोग पीछे छोड़ जाते हैं। ये न आते, तो जिन्हें आप साथ लाए हैं... उनकी प्रेतात्मा भूखी-प्यासी भटकती रहती... आप क्या सोचते हैं... देह के जलने के बाद मन भी मर जाता है? आपको मालूम नहीं, कितना कुछ पीछे छूट जाता है?"[95]

पीछे अतृप्ति का एक संसार बचा रह जाता है। चावल का सफेद पिंड उन्हीं अतृप्त इच्छाओं का प्रतीक है जिन्हें कव्वे चुगकर मृतक को इच्छाओं से मुक्ति दिलाते हैं।

नैरेटर पुरोहित से पूछता है कव्वे क्या सचमुच आपकी आवाज़ सुनकर नीचे चले आये मेहरा साहब को मुक्ति दिलाने। पुरोहित कहते हैं नहीं, सिर्फ चिल्लाकर बुलाना ही काफी नहीं होता है। ऐसे तो केवल शोर होगा। आपके बुलाने में मृतात्मा की मुक्ति की सच्ची भावना होनी चाहिए। मृतक के प्रति श्रद्धा और करुणा होनी चाहिए। ऐसा लगे कि आपकी आवाज़ में मृतक खुद पुकार रहा है कव्वों को - आओ मुझे मुक्त करो - "आवाज़ नहीं... बुलाने का भाव आना चाहिए... अपने को प्रेतात्मा से इस तरह मिला देना चाहिए कि उनकी प्यास, तृष्णा, चाहना, उनकी अस्थियों से उठकर आपकी पुकार में इस तरह घुल जाए कि पता भी न चले कि यह मृत की आवाज़ है या जीवित की...।"[96]

मेहरा साहब की मुक्ति में नैरेटर अपनी मुक्ति भी देखता है। सरपा में उन्हें बहाकर वह अपने को बहुत हल्का महसूस करता है। यह मृत्यु बोध उसे नयी जीवन दृष्टि देता है। मेहरा साहब से जुड़कर वह अपने को पाता है। अपने जीवन को अर्थ देता है - "पता नहीं, मरने के बाद आदमी दूसरा जन्म लेता है या नहीं, पर जो पीछे रह जाते हैं, उनके पुनर्जन्म की आशा बन जाती है...।"[97]

इस पूरे उपन्यास में कहीं भी मृत्यु का आतंक और त्रास नहीं है। यहाँ बस मृत्यु का साक्षात्कार है। मृतक के प्रति यह कामना है उसे अपनी तृष्णाओं से मुक्ति मिले और जो जीवित बचे रह गये हैं उन्हें जीवन के प्रति एक उदात्त दृष्टि प्राप्त हो। मृत्यु का ऐसा विशद, निर्मल, मार्मिक और पारदर्शी चिंतन हिंदी साहित्य में दुर्लभ है।

'लालटीन की छत' में भी मृत्युबोध है। पर यहाँ अंतिम अरण्य की तरह निर्वेद की भावना नहीं है। यहाँ वय:सन्धि की दहलीज पर खड़ी एक लड़की का मृत्यु बोध है जो भय, विस्मय और त्रास के मिले-जुले भावों से संपृक्त है। काया को गिन्नी की मृत्यु का दृश्य बार-बार याद आता है। काया ने मरना नहीं देखा है। पर मौत को आते हुए देखा है।

सुरंग से रेल आती है। गिन्नी को लगता है उसके भीतर से उसे कोई बुला रहा है। वह एक अज्ञात आकर्षण में खिंची उसके भीतर चलती जाती है और उस आवाज़ की मरीचिका उसकी जान ले लेती है। काया छोटे से कहती है –

"गिन्नी मरी नहीं है उसे बुलाया गया है।

किसने बुलाया था – लामा ने, या किसी और ने, जिसे वह आखीर तक नहीं देख पायी।"[98]

काया समझ नहीं पाती वह आवाज़ क्या थी – गिन्नी की मृत्यु या उसकी मुक्ति। पर उस आवाज़ के द्वारा वह गिन्नी की मौत को आते हुए जरूर देखती है। यह दृश्य वह कभी नहीं भूल पाती।

काया को मिस जोसुआ की मौत की कल्पना भरमाती है। मिस जोसुआ कहती हैं – एक दिन वह संजौली की सिमिट्री में होंगी। काया को मिस जोसुआ इतनी जीवंत और शाश्वत जान पड़ती हैं कि वह उनके इस दुनिया से चले जाने की कल्पना ही नहीं कर पाती। काया मिस जोसुआ को बचपन से ही देखती आ रही है। वह पहाड़ों को छोड़कर कहीं नहीं जातीं। काया को वह पहाड़ों की तरह ही शाश्वत जान पड़ती हैं – "दफ्तर के लोग जा सकते हैं, मकान खाली हो जाते हैं, लेकिन मिस जोसुआ निजली मंज़िल में, आधे–अँधेरे कमरे में शाश्वत जान पड़ती थीं, वे पहाड़ों की तरह एक जगह टिकी हुई थीं, जिन्हें काया अपनी शुरू की शुरूआत से देखती आयी थी। उनके परदे, उनके पेड़, उनका ग्रामोफोन – इन सबके बीच रहकर कोई मर सकता है?"[99]

मिस जोसुआ बीमार पड़ जाती हैं। काया बीमारी के दिनों में उनके पास ही रहती है। उन्हें देखकर काया को लगता है मिस जोसुआ इस दुनिया से छूट रहीं हैं। यह कल्पना उसे त्रस्त करती है। वह उन्हें अपनी दुनिया में खींचना चाहती है – "जैसे चलती रेल से कोई यात्री छूट जाता है और बाकी लोग किसी तरह उसका हाथ खींचकर भीतर लाने की कोशिश करते हैं – वैसे ही मुझे लगता कि वह छूटती जा रही हैं, कहीं अँधेरे में

फिसलती जा रही हैं और मैं उनका हाथ पकड़कर अपनी तरफ खींचने लगती। मिस जोसुआ मिस, जोसुआ! मैं चीखने-सी लगती, और वह आँखे खोल देतीं।"[100]

लेकिन मिस जोसुआ दूसरी तरफ चली जाती हैं। वह जो इतनी शाश्वत थीं चली गयीं। मृत्यु की तरफ। काया उनकी मृत्यु को सहजता से स्वीकार नहीं कर पाती। उसे लगता है जब सब कुछ ठीक-ठाक है, प्रकृति में कहीं कोई अनहोनी नहीं है, दिन इतना अच्छा है - वह कैसे मर सकती हैं - "मुझे विश्वास नहीं हो सका कि ऐसे दिन जब धूप फैली हो, आकाश इतना नीला हो, कोई मर सकता है।"[101]

इस तरह 'लालटीन की छत' के मृत्युबोध में विस्मय, भय और त्रास का भाव देखने को मिलता है। 'एक चिथड़ा सुख' में भी एक किशोर का मृत्यु बोध है, पर उसमें भय और विस्मय की जगह गंभीर चिंतन और गहरी प्रश्नाकुलता है। मुन्नू को अपने अकेलेपन के दिनों में बोध होता है - हर कोई यात्रा पर है। एक ऊँचे पहाड़ की तरफ। वे अपनी-अपनी पोटली लिए यात्रा के लिए निकल पड़े हैं पर यह नहीं जानते वहाँ पहुँचकर उनकी यात्रा हमेशा के लिए समाप्त हो जायेगी। और वहाँ उनकी पोटली किसी काम नहीं आयेगी। वे खत्म हो जायेंगे। नीचे की दुनिया में फिर एक रेला आयेगा नये जन्म लेने वालों का। वे मरने वालों की पोटलियाँ पकड़ लेंगे जिनमें प्रेम, घृणा और निराशाएँ भरी हुई हैं। वे भी उन्हें ढोते हुए ऊपर की यात्रा पर चल निकलेंगे। और एक दिन वह भी मर जायेंगे। ऐसा ही होता है। लोग जन्म लेते हैं मरते हैं। फिर जन्म होता है फिर मृत्यु। आदमी का प्रेम, घृणा, निराशा और दुःख की पोटली साथ लिए यह यात्रा चलती रहती है। यह सिलसिला कभी खत्म नहीं होता - "जैसे समय कोई ऊँचा पहाड़ है और सब लोग अपनी-अपनी पोटलियों के साथ ऊपर चढ़ रहे हैं - हाँफ रहे हैं, बिना यह जाने-कि ऊपर चोटी पर-वे सब हवा में गायब हो जाएँगे - और धूल में लदी-फँदी पोटलियाँ - पता नहीं, उनमें क्या भरा है, प्रेम, घृणा, निराशाएँ, दुख - नीचे लुढ़का दी जाएँगी, जिन्हें दूसरे लोग पकड़ लेंगे और फिर उन्हें पीठ पर ढोते हुए ऊपर चढ़ने लगेंगे... क्या यह सिलसिला कभी खत्म नहीं होगा?"[102]

आत्मा एक ही रहती है। बस वह देह बदलती रहती है। मुन्नू इस तथ्य को थियेटर के स्टेज पर अपने सामने घटित होता देखता है। जब स्टेज पर इरा आती है तो अपनी पोटली को, अपने चोले को बाहर ही छोड़ देती है। स्टेज पर आकर दूसरा चोला धारण करती है। जैसे उसकी आत्मा ने एक नयी काया में जन्म ले लिया हो। पुराने चोले और गठरी को वह एकदम भूल जाती है। मुन्नू के लिए यह पुनर्जन्म है। एक ही जिन्दगी में दूसरी ज़िन्दगी। इरा वही है पर उसका रूप नया है जिसका पिछली ज़िंदगी से कोई संबंध नहीं – "इरा स्टेज पर आती तो एकदम शान्त और सम्पूर्ण दिखाई देती, जैसे उसने सचमुच अपनी 'पोटली' थिएटर के बाहर छोड़ दी हो – स्टेज पर खड़ी वह और बाहर बहता हुआ समय एक हो जाते हो – और वह सोच न पाता, यह वही लड़की है, जो उस रात छत के अँधेरे में रो रही थी। नहीं, यह कोई दूसरी आत्मा थी, जो इरा की देह से बाहर झाँक रही थी, उसे सुलाकर खुद बाहर चली आई थी – स्टेज के मद्धिम प्रकाश में एक नंगी, साफ लौ की तरह जलती हुई – लेकिन क्या आत्मा वही रहती है? यही तो पुनर्जन्म है, कोई उसके भीतर कहता – एक ही ज़िंदगी में दूसरी ज़िंदगी। थिएटर के ग्रीन-रूम में अपनी देह उतारकर दूसरी देह पहन लेना... जैसा बाबू गीता में उसे सुनाते थे...।"[103]

इस तरह 'एक चिथड़ा सुख' के मृत्यु-बोध में प्रौढ़ता का परिचय मिलता है।

(iii) निर्मल के उपन्यास : शिल्प

निर्मल के उपन्यासों का शिल्प प्रचलित उपन्यासों के शिल्प से बिल्कुल भिन्न है। इसमें न तो कसा हुआ कथानक मिलता है न घटनाओं और वर्णन की बहुलता। यहाँ कथा की जगह अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही प्रमुख है। यह अभिव्यक्ति निर्मल बिंबों और प्रतीकों के माध्यम से करते हैं। उपन्यास का अन्तः संगीत कथा के बिखराव को रोकता है। निर्मल भावों को बहुत सूक्ष्मता से उभारते हैं। उनकी भाषा में सूक्ष्मनिरीक्षण वृत्ति मिलती है। परिवेश के वर्णन में भी उनकी सूक्ष्मनिरीक्षण वृत्ति का परिचय मिलता है। बिंबों, उपमाओं, विशेषणों का प्रयोग उनकी भाषा का अतिरिक्त आकर्षण है।

संरचना

निर्मल के उपन्यासों की संरचना पारम्परिक उपन्यासों की संरचना से अलग है। इनके उपन्यासों का कथानक बिल्कुल भिन्न शैली में चलता है। यहाँ कथानक में आदि, मध्य, अन्त जैसी संरचना नहीं मिलती। कथा का पूर्वापर क्रम नहीं लक्षित किया जा सकता। निर्मल के यहाँ प्रेमचंद के उपन्यासों जैसी कथा-संरचना नहीं है। प्रेमचंद के उपन्यासों में कथानक की निर्मिति एक भवन की तरह होती है। एक ईंट के बाद दूसरी ईंट। आदि, मध्य और अन्त। इस तरह वह कथानक को पूर्णता की ओर ले जाते हैं। निर्मल के उपन्यासों में घटनाओं की क्रमबद्धता नहीं है। घटनाएँ स्मृतियों के फ्रेम में घटती हैं। उनके उपन्यास स्मृत्यावलोकन पद्धति पर लिखे गये हैं। वर्तमान में जीते हुए पात्र भी बार-बार स्मृतियों में जाते हैं। स्मृति पूरे उपन्यास पर इस तरह हावी है कि वर्तमान भी उससे अनुरंजित हो गया है। उनके उपन्यासों में स्मृति में बार-बार आवाजाही होती है। वर्तमान से स्मृति की ओर और स्मृति से वर्तमान की ओर यह क्रम बराबर चलता रहता है। निर्मल के यहाँ स्मृति काल से मुक्त है। वहाँ काल की अनिवार्यता नहीं है। काल से महत्वपूर्ण देश हो गया है। जहाँ सब कुछ को एक साथ देखा जा सकता है। इस बारे में नंदकिशोर आचार्य लिखते हैं - "निर्मल वर्मा के उपन्यासों का 'फार्म' स्मृति में से अपना रूपाकार ग्रहण करता है - उस स्मृति में से जो किसी कालक्रम से बँधी नहीं है, बल्कि जिसमें सभी चीजों का 'क्रमहीन सहवर्त्तित्व' है। सब कुछ को एक साथ देखना या अज्ञेय के शब्दों में 'क्रमहीन सहवर्त्तित्व' क्या काल को स्पेस में बदल देना नहीं है जिसमें हम उसके क्रम से मुक्त होकर सब कुछ का एक साथ अहसास कर सकते हैं? 'वे दिन' के तीन दिन या 'एक चिथड़ा सुख' के चार महीनों का अपना स्थूल अस्तित्व कुछ नहीं है - वे जैसे एक 'लैण्ड स्केप' में बदल गए हैं जिसमें घटनाएँ अब भी वैसी ही घट रही है - सब एक साथ।"[104]

स्मृति कैसे वर्तमान पर हावी है यह 'अंतिम अरण्य' के एक प्रसंग में देखिए। इस उपन्यास में नैरेटर मेहरा साहब की अस्थियों का विसर्जन करने बस से पारुलकोट जा रहा

होता है। बस में बैठे हुए वह स्मृति के दृश्यों में आवाजाही करता है। उसे बहुत पहले का एक दृश्य याद आता है जब वह नौकर मुरलीधर के साथ मेहरा साहब को ढूंढने निकला था – "मैंने पीछे मुड़कर देखा, तो वहाँ सड़क की पटरी पर सफ़ेद संगमरमर की बेंच दिखाई दी... वहाँ शायद कुछ दिन पहले साहिब जी बैठे थे, जिन्हें खोजने हम घर से बाहर आए थे।

"आप यहाँ बैठिए... वह यहीं लौटकर आएँगे।" मुरलीधर ने कान में फुसफुसाते हुए कहा।"[105]

इसी तरह 'एक चिथड़ा सुख', 'वे दिन', 'लालटीन की छत', 'रात का रिपोर्टर' के कथानक भी स्मृति से प्रभावित हैं। स्मृति का प्रभाव उनकी पूरी संरचना में व्याप्त है। इन उपन्यासों के चरित्र भी स्मृति की रोशनी में खुलते हैं। निर्मल के सभी चरित्र स्मृतिजीवी है। स्मृतियों के घेरे में रहने वाले। 'वे दिन' में नैरेटर और रायना, 'लालटीन की छत' में काया, 'रात का रिपोर्टर' का रिशी, 'एक चिथड़ा सुख' का मुन्नू और 'अंतिम अरण्य' में नैरेटर, मेहरा साहब, अन्ना जी सब स्मृतियों में जीने वाले पात्र हैं। निर्मल के चरित्रों को अकेलापन भी प्रभावित करता है। उनके सभी पात्र अकेलेपन से पीड़ित हैं। अकेलेपन ने उनके अंदर उदासी भर दी है, पर उनमें किसी तरह की आत्महीनता नहीं है। वह अकेलेपन से मुक्त होने के लिए छटपटाते हैं। यह छटपटाहट ही उन्हें एक दूसरे के करीब लाती है। अकेलेपन से मुक्ति की आकांक्षा का भाव उन्हें एक दूसरे के प्रति आत्मीय बनाता है। इसी कारण उनके सभी चरित्रों में आत्मीयता का गुण मिलता है। निर्मल के चरित्र अपनी कोशिशों के बाद भी रहते अकेले ही हैं। यह उनकी नियति बन जाती है। नियति का बोध सभी पात्रों को होता रहता है।

निर्मल के यहाँ परिवेश भी चरित्रों की मनःस्थितियों से अनुरंजित है। उन पर भी उदासी, सूनेपन, स्मृति की छाया दिखती है। 'वे दिन' में बर्फ़ का गिरना और नदी का शोर स्मृतियों को जगाता है। 'रात का रिपोर्टर' में टेलीफोन की घंटी आतंक के परिवेश को मूर्त करती है। 'लालटीन की छत' में पहाड़ सूनेपन और अकेलेपन के परिवेश को चित्रित करते

हैं। 'एक चिथड़ा सुख' में पत्तों का उड़ना, सेमल के पेड़ की आवाज़ अवसाद और सूनेपन को मूर्त करता है। 'अंतिम अरण्य' में जंगल की खामोशी मृत्युबोध के परिवेश को चित्रित करती है। इसी तरह पत्तों का झरना, धुंध का उड़ना, टेलीफोन का चीखना, खाली अँधेरा कमरा, बर्फ़ का टूटना, नदी का शोर, गिरजे, मीनार, कब्र, चैपल सब स्मृति, अवसाद, सूनेपन, अकेलेपन मृत्युबोध के परिवेश को चित्रित करते हैं। देशकाल इन्हीं अनुभूतियों की निर्मिति में सहयोग करते हैं। कुल मिलाकर संवेदना, चरित्र, देशकाल सब मिलकर एक चित्र में जड़े हुए हैं जिनमें सब कुछ को एक साथ देखा जा सकता है।

संक्षेप में निर्मल के उपन्यासों में घटनाओं से अधिक महत्वपूर्ण अनुभूतियाँ हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों को स्मृति, अकेलेपन, मृत्युबोध आदि संवेदनाओं से गूंथकर बनाया है। यहाँ कथात्मक सम्बद्धता की जगह भावात्मक सम्बद्धता मिलती है। कथा में आद्यन्त एक संवेदना विद्यमान है। वही उसे एक सूत्र में जोड़ती है। परिवेश, चरित्र, अनुभूतियाँ सब आपस में इस तरह समन्वित हैं कि उनके भीतर किसी तरह का अलगाव नहीं दिखता। वह एक लहर की तरह उठती है। उदासी, स्मृति, अकेलेपन आदि का पूरा भाव बोध एक लहर की तरह चरित्र और परिवेश से सम्पृक्त होकर सामने आता है।

भाषा

निर्मल के उपन्यासों की भाषा बहुत ही साफ, सहज और सरल है। वह भावानुकूल और परिवेश के अनुरूप है। निर्मल के उपन्यासों के चरित्र अधिकतर पढ़े-लिखे वर्ग के हैं, अतः उनकी भाषा में नागर प्रभाव साफ झलकता है। यह स्वाभाविक भी है। पर नागर भाषा होने के बाद भी वह किसी भी तरह की कृत्रिमता से मुक्त है। वह दुरुह और रूखी भाषा नहीं है। उनकी भाषा साफ, जीवंत और आत्मीय है। निर्मल के रचना-कौशल की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि वह बिना संस्कृत के भारी भरकम शब्दों का प्रयोग किये शुद्ध नागर हिन्दी लिखते हैं। उनमें देशीपन नहीं मिलता फिर भी भाषा लोकभाषा जैसी ही सहज है। सहज, आत्मीय और जीवंत होने के कारण वह हर वर्ग के पाठक को अपने बहुत करीब लगती है। पाठक भाषा से अन्तरंगता स्थापित कर लेता है। निर्मल की भाषा उपन्यास के

कथानक के अनुरूप ही काफी संवेदनशील है। वह अपनी भाषा में शब्द की संवेदना के प्रति बहुत सजग है। उनकी भाषा कथानक के अनुरूप ही स्वयं को रचती है। भाषा भी ऐसी जो कथानक, चरित्र और परिवेश को मूर्त कर सके। अनुभूतियों को व्यंजित करते बिंब, प्रतीक, उपमाएँ उनकी भाषा का आकर्षण हैं।

निर्मल ने अपने उपन्यासों में भावानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। 'वे दिन' की भाषा में एक तरह की रूमानियत दिखती है। इसके चरित्रों के संवाद और परिवेश का वर्णन प्राय: काव्यात्मक भाषा में होता है। 'वे दिन' की कथा नैरेटर और रायना के प्राग में बिताये तीन दिनों के साहचर्य की है। इन तीन दिनों में दोनों के बीच चाहना की जो भूख उठी थी उसे बहुत ही काव्यात्मक भाषा में निर्मल ने प्रस्तुत किया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है - "गली के आर-पार हवा चल रही थी। उसने अपना हाथ मेरे कोट की जेब में डाल दिया। जब हम किसी दुकान के सामने से निकलते, शो विंडो का आलोक उसके चेहरे पर गिर जाता, एक क्षण के लिए उसके बाल चमक जाते। ख़ाली सड़क पर उसके सैंडिल की धीमी खट-खट की आवाज़ सुनाई देती रहती।

"सुनो..." वह हँसने लगी।
"क्या है?" मैंने उसकी ओर देखा।
"लगता है, मैं वियना की किसी गली में चल रही हूँ...." उसने कहा,
"अगर मैं आँखे बन्द करके चलूँ।"
"ईश्वर के लिए ऐसा न करो... यहाँ बहुत-से गड़्हे हैं।"
"इस शाम मुझे कोई डर नहीं" उसने कहा।"[106]

'लालटीन की छत' एक किशोरी के अकेलेपन की कथा है, जो सारा दिन पहाड़ों पर अकेले भटकती रहती है। भटकन की कथा होने के कारण इसकी भाषा में सहज ही अमूर्तन का प्रवेश हो गया है। उपन्यास की भाषा कथा के आरम्भ से ही अमूर्तन रचने लगती है - "उसने आँखे खोल दीं, फिर मूँद लीं। समय बीतने लगा। उसने चादर का कोना कसकर भींच लिया। देह तन गयी। एक क्षण के लिए भ्रम हुआ कि उसका सिर

दरवाज़े की तरफ सरक आया है, जहाँ उसके पैर थे। बेशक, यह भ्रम था। पैर और सिर एक साथ एक जगह नहीं हो सकते। वह हँसने लगी।

"हिश्! कुछ दिखायी दिया?"

"कुछ भी नहीं।"

"तुम हँस क्यों रही थीं?"

छोटे इन बातों को नहीं समझ पाते थे – फिर भी समझदारी में सिर हिला देते थे। बहाना करते थे। वह हर भेद के भीतर रहना चाहते थे। उन्हें जो बात बहुत दुखती थी, वह जब बर्दाश्त के बाहर चली जाती, तो वह एक रहस्य बन जाती थी।"[107]

'रात का रिपोर्टर' की भाषा भय और आतंक के परिवेश को जीवंत करती है। इसमें भावों का तनाव मिलता है। यहाँ भय और आतंक को गहराते बहुत सारे बिंब मिलते हैं। 'एक चिथड़ा सुख' उपन्यास में सुख की तलाश में भटकते हुए कुछ पात्र हैं जो सुख कभी नहीं पाते। बस भटकते ही रहते हैं। यहाँ भी अकेलेपन का गहरा बोध है। इसकी भाषा में उदासी झलकती है। 'अंतिम अरण्य' उपन्यास में एक पहाड़ी कस्बे में जीवन के आखिरी मोड़ पर इकट्ठा कुछ पात्र बीते हुए जीवन का मूल्यांकन करते हैं। यहाँ वे जीवन और मृत्यु के प्रश्नों का सामना कर रहे होते हैं। इसकी भाषा अपने कथ्य के अनुरूप ही चिंतन प्रधान है। एक उदाहरण देखें – "तुम्हें मालूम है, इन चट्टानों की अन्दरूनी परतों में कितनी फ़ॉसिल जमा है, मरे हुए जानवरों के अस्थि-पिंजर ही मुद्दत बाद चट्टानों का रूप धारण कर लेते हैं – जीव और जड़ में कोई अन्तर नहीं... एक विराट कायाकल्प, मेटामोरफ़ॉसिस – हर चीज़ बदल जाती है, लेकिन रहती वही है, जैसी लाखों साल पहले थी... शेक्सपियर के नाटक देखे हैं... कैसे एक ऐक्टर स्टेज पर अलग-अलग रूप धारण करके आता है... हमें लगता है, वह कोई दूसरा है, जिसे हम देख रहे हैं, जबकि दूसरा वही है जो पहले ऐक्ट में आया था। जिसे तुम तब्दीली कहते हो... वह सब कुछ के भीतर बहती हुई लीला है... रामलीला।"[108]

निर्मल की भाषा भावानुकूल होने के साथ सूत्रात्मक भी है। सूत्रात्मकता के कारण भाषा को एक विशेष अर्थवत्ता प्राप्त हुई है। सूक्तियाँ उनकी भाषा में अलग से चमकती रहती हैं। उनके उपन्यासों में जीवन का गहरा अनुभव छोटी-छोटी सूक्तियों के रूप में ढलकर प्रस्तुत हुआ है। निर्मल के उपन्यासों से सूत्रात्मक भाषा के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-

"चाह का डर और सुख.... न सही डर होता है, न सही सुख - दोनों में बँटा हुआ, दोनों में एक भी नहीं... सूखी गर्म रेत पर एक नंगी, साफ़ हड्डी-सा चमकता हुआ।"[109]

"समय वही था, जो अब है - सिर्फ तुम जी नहीं रहे थे। जीना तब शुरू होता है, जब प्रेम शुरू होता है।"[110]

"बीते हुए सुखों की तुलना में कभी न आने वाले सुख हमेशा स्वच्छ और चमकीले दिखाई देते हैं। उन पर समय की धूल नहीं गिरती। वे कभी मैले नहीं पड़ते।"[111]

निर्मल के उपन्यासों में शब्द-चयन - निर्मल ने अपने उपन्यासों की भाषा में हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, अंग्रेजी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है। निर्मल के उपन्यासों की भाषा चूंकि नागर भाषा है, इसलिए उसमें खड़ी बोली हिन्दी के शब्दों और अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। उर्दू शब्दों का प्रयोग बहुत कम मिलता है। देशी-भाषाओं के प्रयोग लगभग नहीं के बराबर हैं।

संस्कृत शब्द - निर्मल ने अपने उपन्यासों की भाषा में संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। वह संस्कृत के उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो वाक्य के प्रवाह में सहज ढंग से खप गये हैं। जैसे - वितृष्णा, अवसन्न, मेघाच्छन्न, निर्विकार, उत्तप्त, श्यामल, रन्ध्र, विषण्ण, म्लान, प्रलाप, आसन्न, तृष्णा, निर्निमेष।

उर्दू शब्द - निर्मल ने उर्दू के उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है जो हिन्दी में प्रचलित हैं। जैसे - दफ्तर, अफ़वाह, जमीन, व़क्त, कब्र, मंज़िल, खौफ़नाक, मुलाक़ात, मुसाफ़िर, ज़िक्र।

अँग्रेजी शब्द – 'वे दिन' उपन्यास की पृष्ठभूमि यूरोप है अतः इस उपन्यास में अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग बहुतायत से हुआ है। अन्य उपन्यासों में भी अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग खुलकर हुआ है – पैरम्बुलेटर, ब्लौंड, इंटरप्रेट, क्यूबिकल, आसिकल, पैंटोमिम, एम्बेंकमेंट, डेस्पेरेट, जस्टीफ़िकेशन, शॉर्टकट, सरप्राइज, स्टिललाइफ, कॉटेज, आर्काइव्ज, प्रेस्क्रिप्शन, स्कवायर, टूरिस्ट, डार्क, डीप, स्ट्रीट, पब, बेसमेंट, स्क्रिप्ट, विविड।

निर्मल के उपन्यासों में आये कुछ विशिष्ट शब्द प्रयोग – रूई के गालों, चहबच्चे, झिपती, सर्दीला, धुँधलके, रुआँसा, तितीरी, छलना, गढ़हे, चाहना, उन्नाबी, पेंटोमिम, गँदला, धूपीले, मेघाछन्न, परनाला, सिलाबी उजाला, भुतैली, धुंध।

विशेषणों का प्रयोग – निर्मल ने अपनी कहानियों की तरह उपन्यासों में भी विशेषणों का प्रयोग किया है। विशेषणों के प्रयोग से भाषा का सौंदर्य निखर उठा है। इसके द्वारा अनुभूतियाँ, स्थितियाँ स्पष्ट रूप से सम्प्रेषित हुई हैं। देखें – ठंडी-सी सिहरन, मैली राख सा कुहरा, मलिन-सी सफेदी, ठंडी-सी वीरानी, पीले धुँधलके, सफेद नीरव आलोक, मलिन-सी छाया, झुटपुटी-सी मुस्कुराहट, साँवला-सा मैलापन, निस्पन्द आलोक, भुतैली-सी आकांक्षा, भर्राया-सा आक्रोश, ठिठुरती धूप, भुतैली गूँज, पीली-सी मुस्कुराहट, भूरा सा आलोक, नीरव क्षण, निबौली रोशनी, अँधेरी-सी कम्पन।

बिंब – निर्मल वर्मा के उपन्यासों में बिंबों का खूब प्रयोग मिलता है। बिंबों के कलात्मक प्रयोग द्वारा वह हिंदी उपन्यास के शिल्प को नया आयाम देते हैं। निर्मल ने अपने उपन्यासों की संवेदनाओं को बिंबों में मूर्त किया है। उनके उपन्यासों में अकेलेपन, स्मृति, भय, आतंक, मृत्यु, प्रेम आदि को व्यंजित करते हुए कई सारे बिंब मिल जायेंगे। बिंबों के द्वारा अमूर्त अनुभूतियाँ भी चित्र रूप में साकार हो उठती हैं। उनके उपन्यासों में वर्ण, गंध, ध्वनि, स्पर्श सभी तरह के बिंब मिल जाते हैं। कुछ मिश्रित बिंबों का भी प्रयोग हुआ है। उनके उपन्यासों से वर्ण बिम्ब के कुछ सुंदर उदाहरण प्रस्तुत हैं –

"शाम की छाया में बर्फ़ का रंग हल्का बैंगनी-सा हो आया था। टापू के पीछे जब कभी कोई ट्राम गुज़रती, उसकी रोशनी के चमकीले छल्ले झाड़ियों पर फिसलते हुए पेड़ों के झुरमुट में खो जाते थे।"[112]

"म्यूज़ियम के आगे ट्रैफ़िक-लाइट जल-बुझ रही थी - जब लाल की बारी आती, बर्फ़ पर उसकी छाया ख़ून के धब्बे सी गिर जाती थी।"[113]

"हम मॉनेस्टरी के पीछे वाले मैदान पर चल रहे थे। शाम हो चली थी। दूर लेतना की पहाड़ी पर बर्फ़ का रंग बैंगनी-सा हो आया था।"[114]

"सेमल का पेड़ सीधा खड़ा था और उसकी टहनियाँ पानी में भीगी हुई चाँदी की झालरों-सी चमक रही थीं।"[115]

"वह एक साफ दुपहर थी। इन दिनों दिल्ली का आकाश सर्दी की धुंध से निकलकर नीले काँच-सा चमकता था। पेड़ों पर पत्ते लाल हो जाते थे, जितने ऊपर दिखाई देते, उतने ही सड़कों पर; एक जादू-सा झरता था।"[116]

"दूसरे दिन बादलों का नाम-निशान नहीं था। धुली-धुली रूपहली रोशनी में सारा जंगल चमक रहा था। चीड़ों के बीच धूप चाँदी के छल्लों-सी बिखरी थी।"[117]

स्पर्श बिंब के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं -

"कुहरे में ढँकी खिड़की के पीछे डाइनिंग-हॉल की बत्ती जली थी... बर्फ़ के छोटे-छोटे गाले सफ़ेद तितलियों से रोशनी को छूते हुए अँधेरे में गायब हो जाते थे।"[118]

"बिट्टी तार पर कपड़े टाँग रही थी। वह साफ और खुली शाम थी। बिट्टी के बाल भी खुले थे। हवा में फड़फड़ाता हुआ कोई गीला कपड़ा उसके चेहरे पर लिपट जाता, उसकी देह को ढँक लेता था।"[119]

स्पर्श और गंध का संश्लिष्ट बिंब -

"रोशनी नीचे चली जाती है, नवम्बर की धूप पहाड़ों की पीठ को सहलाती फिसलती जाती है। हवा के साथ चीड़ों की तीखी, नशीली गन्ध भीतर आती है।"[120]

गंध बिंब के उदाहरण –

स्मृति को व्यंजित करता गंध बिंब –

"उसने अपनी नीली फ्रॉक बाहर निकाली–अकेली एक फ्रॉक, जो वह अपने साथ लायी थी। उसे पहनते हुए कुछ अजीब–सा लगा कि स्कूल की फ्रॉक इन छुट्टियों में पहन रही है... अब भी उस फ्रॉक से क्लास–रूम की बेंचों और बस्तों की गन्ध आ रही थी।"[121]

"गुसलखाने के आधे–अँधेरे में वे आमने–सामने बैठ जाते थे, धीरे–धीरे कॉफी पीते थे। धुले हुए कपड़ों से एक तीखी, नशीली–सी गंध ऊपर उठती थी और कॉफ़ी में साबुन का स्वाद आता था।[122]

ध्वनि बिंब के कुछ उदाहरण –

"यह नदी की आवाज़ है।" मैंने कहा, "वह हवा से बिल्कुल अलग है।" हम कुछ देर तक उसे चुपचाप सुनते रहे। इतनी ऊँचाई से उसका स्वर एक धीमी–सी थपथपाहट–सा लगता था। कभी वह एकदम बुझ जाता था। तब हवा बीच में आ जाती थी... उनके और उस स्वर के बीच... एक सफ़ेद–सा सूनापन। फिर वह उठता था, अपने–आप, एक कमज़ोर आग्रह की तरह, जैसे वह अपने को हवा से मुक्त करने के लिए छटपटा रहा हो।"[123]

"वे लेट गए। हवा उठी थी। छत पर झुका सेमल का पेड़ खड़खड़ा जाता था। दो–चार पत्तियाँ अँधेरे में झिर–झिर करती झर जाती थीं।"[124]

"बाहर बारिश का वेग ढीला पड़ गया था, लेकिन पेड़ों की झुकी टहनियों से झरती हुई बूँदों की टिप–टिप–टिप सुनाई दे रही थी।"[125]

स्पर्श और ध्वनि का संश्लिष्ट बिंब –

"धुन्ध उड़ रही थी। हवा से नंगी टहनियाँ बार–बार सिहर उठती थीं। कहीं दूर नदी पर बर्फ़ टूट जाती थी और बहते पानी का उनींदा–सा स्वर जाग उठता था।"[126]

अकेलेपन को व्यंजित करता ध्वनि बिंब –

"वह उन दिनों बहुत अकेला रहता था - काया की दुनिया से अलग। सिर्फ रात को सोने से पहले वह उसके साथ होता था, किन्तु लामा जाने के बाद बिस्तर पर आकर चुपचाप लेट जाती थी - दोनों देर रात तक सिर्फ हवा में लामा के दरवाज़े की खड़खड़ाहट सुनते रहते थे।"[127]

सूनेपन को व्यंजित करता वर्ण और ध्वनि का संश्लिष्ट बिंब -

"चारों ओर सन्नाटा था। तारों की सफ़ेद, तलछटी-सी रोशनी पेड़ों पर गिर रही थी, जो निस्तब्ध खड़े थे। कभी कोई पक्षी हुड़ककर ऊपर हवा में चक्कर लगाता हुआ नीचे घाटी की तरफ उड़ जाता। झींगुरों की अनवरत तान के अलावा कुछ भी सुनाई नहीं देता था।"[128]

स्पर्श और ध्वनि का संश्लिष्ट बिंब -

"उनके पैरों पर पानी बह रहा था। उसकी झिर-झिर के बीच उनके शब्द भी कहीं पत्थरों पर गिरते-पड़ते सुनाई दे जाते थे।"[129]

निर्मल के उपन्यासों में उपमाओं का भी सुंदर प्रयोग देखने को मिलता है। उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति को उपमाओं के माध्यम से प्रभावशाली बनाया है। प्रकृति के दृश्यों को जीवंत करती हुई कुछ विशिष्ट उपमाओं का प्रयोग द्रष्टव्य है -

चाँद की उपमा -

"ओल्ड टाउन हॉल के ऊपर चाँद निकल आया था - फानूस की जापानी लालटेन-सा गोल और लाल।"[130]

पहाड़ों के बीच बसे मकान की उपमा -

"वहाँ से तीन पहाड़ एक साथ दिखायी देते थे। दायीं तरफ जाखू की चोटी, सामने सँजौली का कस्बा और बायीं तरफ इलीशयम-राऊण्ड की पहाड़ी जो खिंचती हुई कैथू तक चली जाती। तीनों के बीच घाटी कभी ऊँची हो जाती, कभी बिल्कुल नीची - कहीं नंगी, कहीं पेड़ों से ढकी हुई। उनके बीच मकान इस तरह बिखरे रहते जैसे किसी ने जल्दी

में ताश के पत्तों को बिखरा दिया हो – कोई ऊपर, कोई नीचे। शाम होते ही वे जगमगाने लगते, मानो एक साथ जुगनुओं का लश्कर पहाड़ों पर उतर आया हो।"[131]

पतझड़ के दिनों में मैदान की उपमा –

"वह शुरू मार्च की रात थी और लोदी गार्डन के मैदान झरे हुए पत्तों की झील–से दिखाई देते थे।"[132]

बारिश थमने के बाद रेल की पटरियों की उपमा –

"सूरज निकल आया था, रेल की पटरियाँ ऐसी साफ़–धुली चमक रही थीं, जैसे दो साँप पानी से निकलकर धूप सेंक रहे हों।"[133]

चित्रात्मकता और सूक्ष्म निरीक्षण की प्रवृत्ति

निर्मल की भाषा अनुभूतियों, घटनाओं, प्रकृति के दृश्यों को चित्र रूप में आँकती हैं। वह प्रकृति के हर स्पंदन को सजग दृष्टि से देखते हैं, और उस देखे हुए को अपनी भाषा के माध्यम से चित्र रूप में मूर्त करते हैं। उनकी भाषा बारीक से बारीक रेखाओं को भी उभारने का कौशल जानती है। प्रकृति की जितनी भंगिमाएँ उनकी भाषा में मिलती हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी सूक्ष्मनिरीक्षण वृत्ति उपन्यास के गद्य को कविता जैसा ही विशिष्ट बनाती है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं –

"बाहर अब धूप नहीं थी। एक सर्दीला, साँवला–सा मैलापन हवा में घुल आया था। एम्बेंकमेंट पर पेड़ों की नंगी टहनियाँ कभी–कभी धीरे–से हिल जाती थीं। सामने ही पुल था। ऊपर ट्राम की तारें बर्फ़ से धुल गई थीं, वे रह–रहकर साफ़ और चमकीली हवा में लंबे फ़ीतों–सी डोल जाती थीं।"[134]

"उसने खिड़की का पर्दा उठाया – एक महीन–सा सफ़ेद धब्बा फर्श पर सरक आया। बाहर बारिश हो रही थी। खिड़की के शीशों पर बूँदे उठती थीं और फिर धीरे–धीरे मरी हुई मक्खियों की तरह नीचे फिसल जाती थीं।"[135]

"धीरे-धीरे सारा आकाश तारों से भर आया था, एक हल्का-सा आलोक चारों और फैला था, पेड़ों पर, लॉन पर, कॉटेज पर... हवा में झूला अपने आप, अपनी ही ख़ुमारी में झूल रहा था।"[136]

देह के सौंदर्य और भावों का बारीक चित्रण भी उनकी भाषा में मिलता है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं -

"उसकी पलकें बहुत घनी थीं। जब कभी वह बातें करते हुए हँसने लगती, उनकी (उन पलकों की) धूमिल छाया उसके सफ़ेद कपोलों पर काँपने लगती थी।"[137]

"उसके चेहरे पर अब भी 'जागे रहने' का चौंका-सा भाव था, जो अक्सर उन लोगों के चेहरे पर जमा रहता है जो बिना सोने का इरादा किए अनायास सो जाते हैं।"[138]

उन्होंने अपनी भाषा में प्रकृति का मानवीकरण भी किया है। कुछ उदाहरण देखें -

"दरवाज़ा झिझकता-सा खुला - उसकी आँखे भी खुल गयीं। इस समय कौन हो सकता है? वह कुछ देर तक प्रश्न-भरी निगाहों से दरवाज़े को देखती रही।"[139]

"किन्तु हवा उन्हें चिढ़ाती हुई पेड़ों पर चढ़ जाती, भड़ाभड़ घर के दरवाज़े खोल देती, सहसा मुड़कर बरामदे में लपक आती और पत्तों के साथ पागल-सी घूमने लगती।"[140]

"वे दरियागंज को पार करके चौड़ी सड़क पर आ गए और फिर सूरज निकल आया, अपनी पीली रोशनी से जामा मस्ज़िद की मीनारों को धोता हुआ।"[141]

"बाहर कोई नहीं था.. सिर्फ चाँदनी देहरी को लाँघकर उनके बिस्तरों पर चू रही थी।"[142]

"चीड़ों की सुइयाँ एक चमकीली-सी धुंध में किसी अकेले साम्राज्य का हिस्सा जान पड़ती थीं... इस तरह झुकी हुई - जैसे वे भी डॉक्टर सिंह की आवाज़ को अपने ध्यान में सुन रही हैं...।"[143]

प्रतीक - निर्मल के उपन्यासों की भाषा प्रतीकों से भी समृद्ध हुई है। प्रतीकों के प्रयोग द्वारा अनुभूतियों को विशेष अर्थवत्ता प्राप्त हुई है। निर्मल ने स्थितियों और भावों को प्रतीकों

में अभिव्यक्त कर अपने रचनात्मक कौशल का परिचय दिया है। निर्मल ने अपने उपन्यासों में परम्परा से मुक्त प्रतीकों का प्रयोग किया है। इनके प्रतीक प्रायः निजी हैं। निर्मल के सभी उपन्यासों में प्रतीकों का प्रयोग देखने को मिल जाता है।

'वे दिन' में टेलीफोन का अकेले चीखना सूनेपन का प्रतीक है। नदी की आवाज़, संगीत का रिकॉर्ड, स्मृति का प्रतीक है। कॉन्सेंट्रेशन कैंप युद्ध की त्रासदी का प्रतीक है।

'लालटीन की छत' में हवा का दरवाज़ों को खटखटाना स्मृति के आने का प्रतीक है। काया की माँ का बड़ी होना उनके गर्भवती होने का प्रतीक है। सफ़ेद चादरें, सिमिट्री मृत्यु का प्रतीक है। दाढ़ू का रस काया के रजस्वला होने का प्रतीक है। पुराना गिरजा सूनेपन का प्रतीक है। बर्फ़ से घर का ढ़ँकते जाना धीरे-धीरे आती हुई मृत्यु का प्रतीक है। पहाड़ सूनेपन के प्रतीक हैं।

'एक चिथड़ा सुख' में बौने का चिथड़ा सुख के छोटे से क्षण की सम्पूर्णता का प्रतीक है। मुन्नू को बिल्ली का दिखाई देना अपशुगन का प्रतीक है।

'रात का रिपोर्टर' में सुनसान गली भय का प्रतीक है। टेलीफोन की लगातार बजती घंटी भय और आतंक का प्रतीक है। रिशी की बहनों का खाली कमरा अकेलेपन और सूनेपन का प्रतीक है।

'अंतिम अरण्य' में कव्वे मुक्ति और मोक्ष के प्रतीक हैं।

सांकेतिकता - निर्मल के उपन्यासों में प्रतीकात्मकता के साथ सांकेतिकता की प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है। निर्मल की भाषा में किसी अनुभूति या घटना को इशारों में बयान कर देने की कला पाई जाती है। सांकेतिकता के द्वारा उनकी भाषा को सूक्ष्म अर्थवत्ता प्राप्त हुई है और वह वर्णन की अतिरंजना से भी बची है।

'वे दिन' में एक प्रसंग में नैरेटर रायना से उसके अतीत के बारे में बात करता है। रायना उन बातों को याद नहीं करना चाहती, उससे बचना चाहती है। इस बात को निर्मल ने बड़े सुंदर ढंग से संकेतों में अभिव्यक्त किया है -

"तब तुम वियना में ही थीं?

"कब"

"लड़ाई के दिनों में।"

"नहीं-" वह सहसा चुप हो गई। मैंने उसकी ओर देखा। वह अपना कोट ऊँचा करके पानी के गड्ढों से बच-बचकर चल रही थी।"[144]

'लालटीन की छत' में काया कुछ दिनों के लिए अपने चाचा के घर जाती है। वहाँ रहते उसे अकेलापन महसूस होता है। एक दिन उसके घर से नौकर मँगतू आता है मिलने के लिए। मँगतू से मिलकर उसे अपनापन मिलता है। इस प्रसंग को बहुत ही सांकेतिक ढंग से व्यंजित करती है निर्मल की भाषा। देखें -

"...वह (मँगतू) हाथ फेर रहा था, उसके मैले, धूल और गर्द से सने बालों पर..."

"तुम नहाती नहीं?" मँगतू ने कहा, "कितनी मैल जमा है।"

वह नहा रही थी - वह उस गन्ध में नहा रही थी, जो मँगतू इतनी दूर से - अपने घर, अपनी कोठरी, अपनी रसोई से - उसके पास ले आया था।"[145]

'अंतिम अरण्य' में मेहरा साहब की मृत्यु हो जाती है। इस बात की सूचना निर्मल झाड़ी में छिपे पक्षी के ऊपर उड़ जाने से देते हैं। पक्षी का ऊपर उड़ जाना आत्मा के देह छोड़ देने का प्रतीक है। मेहरा साहब के कमरे से नैरेटर को एक चीख सुनाई देती है। वह उनके कमरे की तरफ जाता है तो देखता है - "झाड़ी में छिपे, सोए दो पक्षी अपने पंखों को फड़फड़ाते हुए ऊपर उड़े... उनके डैनों की छाया लालटेन की रोशनी में दिखाई दी, जिसे लेकर मुरलीधर अपने क्वार्टर में बाहर निकला था।"[146] कमरे के दरवाजे पर मेहरा साहब की बेटी तिया मौन स्थिर खड़ी थी। नैरेटर दरवाज़े को धकेलकर भीतर जाता है तो देखता है मेहरा साहब की मृत्यु हो चुकी थी।

लय - निर्मल के उपन्यासों के शिल्प की एक प्रमुख विशेषता उसकी लयात्मक भाषा है। लयात्मकता के कारण ही उनकी भाषा में संगीत की सृष्टि होती है। उनके उपन्यासों में अनुभूतियाँ एक लय में मन के भीतर खुलती जाती हैं। लयात्मकता के कारण ही उनकी

भाषा बहुत मधुर लगती हैं। निर्मल ने भाषा में लय की सृष्टि कई स्तरों पर की है। शब्द की सही पकड़, वाक्य का विशिष्ट संयोजन, विराम चिन्हों का उचित प्रयोग, शब्दों और वाक्यों की आवृत्ति द्वारा वह उपन्यास की भाषा में संगीत का-सा असर पैदा करते हैं।

निर्मल की भाषा में स्वर और व्यंजन का विशिष्ट प्रयोग देखने को मिलता है। संवेदना के अनुरूप ध्वनि का प्रयोग हो, इसके प्रति वह काफी सजग रहते हैं। उनकी पारखी दृष्टि अनुभूतियों के अनुरूप ध्वनियों को वाक्य की संरचना में इस तरह विन्यस्त करती है कि वह लयात्मक हो उठती हैं। निर्मल अपनी भाषा में शब्द की संवेदना के प्रति कितने जागरुक हैं, इसका परिचय कदम-कदम पर मिलता है। शब्द की सही पकड़ से वाक्य में कैसे लय भरी जाती है, यह कुछ उदाहरणों में देखिए -

"हम झरने के पास बैठे उनके लौटने की प्रतीक्षा करते रहते थे। उनके लौटने की प्रतीक्षा की एक ऐसी ही घड़ी में एक दिन उन्होंने मुझसे एक अजीब बात पूछी... उन्होंने मेरी ओर देखा भी नहीं, झरने के पानी में अपना हाथ छपछपाते हुए बोली, "आप क्या सोचते हैं, मेहरा साहब की तबीयत उतनी ही सीरियस है जितना डॉक्टर सिंह बताते हैं?"[147]

अंतिम अरण्य के इस प्रसंग में शब्दों का चुनाव लय के अनुरूप किया गया है। इसी उपन्यास से एक और उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें झिर-झिर शब्द के द्वारा लय पैदा किया गया है -

"उनके पैरों पर पानी बह रहा था। उसकी झिर-झिर के बीच उनके शब्द भी कहीं पत्थरों पर गिरते-पड़ते सुनाई दे जाते थे।"[148]

इस उदाहरण में नाले में बहते पानी की गूँज को मूर्त किया गया है। कुछ और उदाहरण प्रस्तुत हैं जहाँ शब्दों के विशिष्ट प्रयोग द्वारा संगीत का प्रभाव पैदा किया गया है-

"बाहर अब धूप नहीं थी। एक सर्दीला, साँवला-सा मैलापन हवा में घुल आया था। एम्बेकमेंट पर पेड़ों की नंगी टहनियाँ कभी-कभी धीरे-से हिल जाती थीं।"[149]

"ऊपर आकाश में इक्के-दुक्के तारे टिमक रहे थे। बहुत धीमी हवा थी, जो सोते हुए पेड़ों को सिरसिराते हुए निकल जाती थी।"[150]

"यहाँ? उन्होंने धीरे-धीरे चारों तरफ़ देखा - दुपहर की धूप, बहता हुआ नाला, पानी में भीगती शिलाएँ... आख़िर उनकी निगाहें मुझ पर ठहर गईं। मुझे ऐसे देखने लगीं, जैसे पहले कभी नहीं देखा हो... इस बार उनकी आँखे झिप-झिप नहीं कर रही थीं...।"[151]

निर्मल ने वाक्य की संरचना भी लय की दृष्टि से की है। उनके उपन्यासों की भाषा में वाक्यों की प्रकृति एक जैसी नहीं मिलती। न तो वह बिल्कुल छोटे-छोटे वाक्य हैं न बिल्कुल ही बड़े। उनमें काफी उतार-चढ़ाव है। हर अवतरण में आरोह-अवरोह मिलेगा। एक ही अवतरण में कई तरह के वाक्य। इनकी लम्बाई संगीत के सुरों के समान छोटी-बड़ी होती रहती है। कहीं एकदम छोटी फिर थोड़ी सी बड़ी, फिर छोटी और फिर उसी क्रम में अचानक एक स्ट्रोक लेता हुआ बड़ा सा वाक्य। वाक्यों का यह क्रम एकरसता को खत्म कर संगीत की सृष्टि करता है। निर्मल के उपन्यासों की भाषा में यह प्रवृत्ति सर्वत्र देखी जा सकती है। कुछ उदाहरण देखें -

"आधा घंटा... वह कुछ नहीं होता। वह बीत रहा है। नेशनल स्ट्रीट पार करके मैं एम्बेंकमेंट पर चला आया। वल्तावा नीचे थी। दूसरी तरफ़ वीपिंग विलोज़ के छायादार झुरमुट थे। नंगे पेड़ों के बीच उनकी पत्तियाँ बहुत घनी लगती थीं। रेलिंग पर खड़ी हुई कुछ बूढ़ी स्त्रियाँ कबूतरों को रोटी के टुकड़े फेंक रही थीं।"[152]

"बस ठहरती है - लोग भीतर आते हैं - घंटी बजते ही वह फिर चलने लगती है। कंडक्टर सोया-सा कुछ पूछता है और बिट्टी का चेहरा आगे की तरफ झुक जाता है - जैसे वह भी सो कर जागी हो - दो टिकट निज़ामुद्दीन। ईस्ट या वेस्ट? हार्डिंग ब्रिज की रोशनियाँ, पुराना किला, मकबरे, खँडहर। कंडक्टर ठिठका सा खड़ा रहता है - दूसरा टिकट किसका है।"[153]

वाक्य कैसे क्रमशः बड़ा होता जाता है, इसका एक उदाहरण देखें -

"मेरा। मैं यहाँ हूँ, मैं बाहर देख रहा हूँ। सब कुछ पीछे भाग रहा था - रोशनी के खम्भे, पेड़ तारे। मैं बस की खिड़की से दिल्ली की बहती दुनिया को देख रहा था। बिट्टी

पीछे बैठी थी, लेकिन खिड़की के शीशे पर मैं उसका चेहरा देख सकता था – रोशनी का एक धब्बा – एक फ्रेम में जड़ा हुआ – और मुझे भ्रम होता था जैसे बिट्टी भीतर नहीं, कहीं बाहर अँधेरे में बैठी है, किसी गुज़रते मकान की खिड़की से मुझे देख रही है।"[154]

निर्मल विराम चिन्हों और अंतरालों का भी अपनी भाषा में खूब प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा में यति और गति के कुशल संयोजन द्वारा अपूर्व लयात्मकता की सृष्टि हुई है। देखें –

"सड़क अकेली और उजाड़ पड़ी थी। पीछे जंगल था – धीरे-धीरे, सितम्बर की हवा में, सरसराता हुआ... यहाँ आते ही उसे बस्तर की याद आती थी – न कोई आहट, न आवाज़, न खटका... अँधेरा होते ही वह अपने झोपड़े के आगे बैठ जाता; तारों की चमकीली रोशनी में महुए की गन्ध तिरती रहती; दिल्ली के लोग, पत्नी की बीमारी और माँ का बुढ़ापा, सब एक तरफ सरक जाते... सिर्फ एक असीम, उत्पीड़ित आकांक्षा... जो लालटेन की लौ की तरह निष्कम्प जलती रहती।"[155]

"एक अजीब-सी आकांक्षा हुई है, मैं भी भागता हुआ निरंजन बाबू के पीछे चला जाऊँ, उनसे कहूँ... कहूँ, लेकिन क्या...क्या यह कि वह न जाएँ... या ठहरिए, मैं भी आपके साथ आता हूँ – या... सिर्फ़ यह... कि प्लीज़, प्लीज़, प्लीज़ क्या... मैं क्या कहना चाहता था उनसे?" [156]

शब्दों और वाक्यांशों की आवृत्ति द्वारा भी निर्मल ने भाषा में लय पैदा किया है। शब्दों, मात्राओं और वाक्यांशों की पुनरुक्ति एक गूँज की तरह उठती है, जो भावों को क्रमशः सघन करती जाती है। 'वे दिन' उपन्यास में नैरेटर और रायना की प्रेमकथा संगीत की लहरों पर बहती है। वे जब बाते करते हैं तो उसमें भी संगीत की गूँज होती है। निर्मल ने एक प्रसंग में वाक्यांशों की आवृत्ति द्वारा उनकी बातचीत को लय में ढाला है। देखें –

"मैं एक छोटी-सी 'बार' जानता हूँ। वह ज़्यादा दूर नहीं है... हम वहाँ जा सकते हैं।"

"उसके बाद?" उसने मेरी ओर देखा। वह बहुत गम्भीर दीख रही थी।

"उसके बाद... हम 'बुदापेस्ट' जाएँगे... वहाँ वे तोकाई देते हैं और हंगेरियन पापरिका!" मैंने कहा।

"उसके बाद?"

"उसके बाद... जैसा तुम चाहो।"

"उसके बाद?" उसने हँसते हुए मेरा कोट पकड़ लिया, "आई विल डाई!" पहली बार मुझे लगा जैसे उसकी हँसी में अपनापन है, जो दिन-भर नहीं था।"[157]

'वे दिन' से ही एक अन्य उदाहरण देखें जिसमें शब्दों की आवृत्ति और अंतरालों द्वारा लय का सृजन किया गया है - "समूचे शहर में एक हल्की-सी सरसराहट गूँज जाती - एक छोर से दूसरे छोर तक। नदी के परे... पुलों पर। पुलों के परे... एम्बेंकमेंट पर। एक आवाज़ दूसरी आवाज़ को पकड़ लेती और फिर भागने लगती... अगले मौन के चौराहे तक। आग की तरह।"[158]

'एक चिथड़ा सुख' से शब्दों की आवृत्ति के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं -

"दूर से आवाज़े आती थीं, ऊपर उठती थीं, नीचे गिर जाती थीं, मर जाती थीं। पीछे-पीछे उनकी गूँज आती थी, हर आवाज़ को जिलाती हुई, हवा में उठाती हुई, वापिस ले जाती हुई...।"[159]

"नहीं, सच, कहीं जाने के लिए टिकट का होना ज़रूरी है, वह एक तरह का सिग्नल है जैसे घड़ी का होना, डायरी का होना, कैलेंडर का होना - वरना एक रात हमेशा के लिए एक रात रहेगी, एक शहर हमेशा के लिए एक शहर, एक मृत्यु हमेशा के लिए एक मृत्यु, उसके जाने के बाद भी बारहखम्बा रोड की सड़क चलती रहेगी...।"[160]

संक्षेप में निर्मल के उपन्यासों का शिल्प पारम्परिक उपन्यासों के शिल्प से भिन्न है। इसमें बाह्य घटनाओं की जगह अनुभूतियों को प्रमुखता दी गयी है। उनके उपन्यास स्मृत्यावलोकन पद्धति पर लिखे गये हैं। जिसमें वर्तमान पर भी स्मृति हावी रहती है। भाषा संवेदना के अनुरूप है। बिंबों, उपमाओं और प्रतीकों के द्वारा अनुभूतियों की सुंदर अभिव्यक्ति की गई है। भाषा की आत्मीयता, सहजता और लयात्मकता निर्मल के उपन्यासों का विशेष आकर्षण है।

संदर्भ

1. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1968, पृ० 21
2. हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2008, पृ० 16
3. वही, पृ० 16-17
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० 2057, वि०, पृ० 249
5. हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, वही पृ० 19
6. हिन्दी का गद्य-साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं० 1992, पृ० 129
7. वही, पृ० 129
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वही, पृ० 272
9. हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, वही पृ० 23
10. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वही, पृ० 274
11. हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, वही पृ० 20
12. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, रामदरश मिश्र, वही, पृ० 36
13. हिन्दी का गद्य-साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, वही, पृ० 394
14. वही, पृ० 155
15. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, रामदरश मिश्र, वही, पृ० 91
16. हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, वही पृ० 141
17. वे दिन, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं० 2008, पृ० 171
18. लालटीन की छत, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 1989, पृ० 41
19. वही, पृ० 46
20. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं० 2011, पृ० 51
21. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं० 2011, पृ० 43
22. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 9
23. वही, पृ० 9
24. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 214
25. लालटीन की छत, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 29
26. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 125
27. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 159
28. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 143
29. रात का रिपोर्टर, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं० 2009, पृ० 138

30. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 103
31. लालटीन की छत, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 17
32. वही, पृ० 16
33. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 21
34. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 148
35. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 143
36. वही, पृ० 127
37. वही, पृ० 127–128
38. वही, पृ० 110
39. लालटीन की छत, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 103
40. वही, पृ० 103
41. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 26
42. वही, पृ० 197–198
43. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 194
44. वही, पृ० 189
45. लालटीन की छत, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 52
46. वही, पृ० 91
47. वही, पृ० 113
48. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 181
49. लालटीन की छत, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 60
50. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 82
51. लालटीन की छत, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 11
52. वही, पृ० 51
53. वही, पृ० 88
54. वही, पृ० 52
55. वही, पृ० 106–107
56. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 9
57. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 13
58. वही, पृ० 63
59. वही, पृ० 198
60. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 160
61. वही, पृ० 165
62. रात का रिपोर्टर, वही, पृ० 11

63. वही, पृ० 17
64. वही, पृ० 25
65. वही, पृ० 35
66. वही, पृ० 40
67. वही, पृ० 122
68. वही, पृ० 91
69. वही, पृ० 93
70. वही, पृ० 151
71. वही, पृ० 172
72. वही, पृ० 178
73. लालटीन की छत, निर्मल, वर्मा, वही, पृ० 62
74. वही, पृ० 35
75. वही, पृ० 104
76. वही, पृ० 67
77. वही, पृ० 38
78. बहुवचन, अंक-92, जुलाई-सितम्बर-2002, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा, पृ० 165
79. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 68
80. वही, पृ० 34
81. वही, पृ० 24
82. वही, पृ० 80
83. वही, पृ० 34-35
84. वही, पृ० 29
85. वही, पृ० 106
86. वही, पृ० 103
87. वही, पृ० 47
88. वही, पृ० 190
89. वही, पृ० 132
90. वही, पृ० 78
91. वही, पृ० 130
92. वही, पृ० 136
93. वही, पृ० 79
94. वही, पृ० 77

95. वही, पृ० 212
96. वही, पृ० 212–213
97. वही, पृ० 214
98. लालटीन की छत, निर्मल, वर्मा, वही, पृ० 56
99. वही, पृ० 25
100. वही, पृ० 188
101. वही, पृ० 194
102. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 143
103. वही, पृ० 144
104. अवलोकन, सं० नंदकिशोर आचार्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2003, पृ० 99
105. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 203
106. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 157–158
107. लालटीन की छत, निर्मल, वर्मा, वही, पृ० 11
108. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 76
109. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 162
110. रात का रिपोर्टर, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 129
111. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 163
112. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 78
113. वही, पृ० 93
114. वही, पृ० 113
115. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 43
116. वही, पृ० 203
117. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 109
118. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 11
119. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 25
120. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 130
121. लालटीन की छत, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 126
122. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 18
123. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 115
124. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 187
125. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 107
126. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 129
127. लालटीन की छत, निर्मल, वर्मा, वही, पृ० 53

128. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 64
129. वही, पृ० 96
130. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 156
131. लालटीन की छत, निर्मल, वर्मा, वही, पृ० 133
132. रात का रिपोर्टर, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 129
133. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 17
134. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 48
135. वही, पृ० 142
136. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 60
137. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 39
138. वही, पृ० 192
139. लालटीन की छत, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 124
140. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 31
141. वही, पृ० 205
142. वही, पृ० 187
143. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 76
144. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 81
145. लालटीन की छत, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 148
146. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 184
147. वही, पृ० 93
148. वही, पृ० 96
149. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 48
150. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 117
151. वही, पृ० 97
152. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 210
153. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 138
154. वही, पृ० 138
155. रात का रिपोर्टर, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 47
156. अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 183
157. वे दिन, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 83
158. वही, पृ० 103
159. एक चिथड़ा सुख, निर्मल वर्मा, वही, पृ० 96
160. वही, पृ० 242

पंचम अध्याय

निर्मल वर्मा का गद्य : कथेतर साहित्य

(यात्रा, संस्मरण, निबंध, पत्र एवं डायरी)

(i) निर्मल पूर्व हिंदी गद्य का यात्रा-संस्मरण, निबंध, पत्र एवं डायरी साहित्य

यात्रा-संस्मरण

यात्रा-साहित्य हिंदी गद्य की समृद्ध विधाओं में से एक है। यात्रा-साहित्य का परिचय भारतेंदु युग से ही मिलना शुरु हो जाता है। "जब साहित्यकार अपनी यात्रा के संस्मरणों को इस प्रकार लिपिबद्ध करे कि यात्रा किये गये स्थल का मूर्त रूप पाठक के समक्ष आ जाये तो उस साहित्यिक एवं कलात्मक यात्रा-विवरण को 'यात्रा साहित्य' कहते हैं।"[1] यात्रा में लेखक नये अनुभव, नये व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है, जिनकी वह संस्मरण के रूप में यात्रा वृत्तांत में कलात्मक अभिव्यक्ति करता है। यात्रा-वर्णन में देश-विदेश के प्राकृतिक दृश्यों एवं संस्कृति के अन्तरंग वर्णन उसे पाठक के लिए रोचक बनाते हैं। लेखक का सांस्कृतिक-ऐतिहासिक बोध यात्रा-वृत्त को समृद्ध बनाता है। यात्रा में लेखक देखे हुए स्थान को उल्लसित मन से अभिव्यक्त करता है जिससे भाषा में ताजगी झलकती है। संक्षेप में यात्रा वृत्तांत के प्रमुख तत्व हैं - आत्मीयता, स्थानीयता, रोचकता, सूक्ष्म निरीक्षण वृत्ति, वैयक्तिकता, कल्पना-प्रवणता आदि। यात्रा-वृत्तान्त में वर्णन शैली के अलावा डायरी, संस्मरण, रिपोतार्ज, कहानी आदि विभिन्न गद्य रूपों का मिश्रण होता है।

यात्रा-साहित्य का उद्‌भव भारतेन्दु युग में हुआ। भारतेन्दु ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में यात्रा-वृत्त लिखे हैं। उनके लिखे यात्रा-वृत्त हैं - 'सरयूपार की यात्रा', 'मेहदावल की यात्रा', 'लखनऊ की यात्रा', 'हरिद्वार की यात्रा', 'वैद्यनाथ की यात्रा'। उनके यह यात्रा-वृत्त 'कविवचन सुधा' के 1871 से 1879 के अंकों में प्रकाशित हुए। भारतेन्दु के अलावा बालकृष्ण भट्‌ट ने 'हिंदी प्रदीप' में 'कतिकी का नहान' एवं 'गया यात्रा' और प्रतापनारायण मिश्र ने 'विलायत यात्रा' लिखी। भारतेन्दु युग में पुस्तक रूप में भी कई यात्रा-वृत्त प्रकाशित हुए जिनमें पं० दामोदर शास्त्री की 'मेरी पूर्व दिग्यात्रा' (1885), देवीप्रसाद खत्री की 'रामेश्वर यात्रा' (1893) महत्वपूर्ण है। भारतेन्दु युग के यात्रा-वृत्त में तीर्थ स्थलों की यात्राओं की प्रमुखता मिलती है। द्विवेदी युग के यात्रा वृत्त में भाषा साफ-सुथरी और निखरी हुई है। इस युग का यात्रा वृत्तान्त पर्याप्त समृद्ध है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेखकों के

यात्रा-वृत्त प्रकाशित हुए। श्रीधर पाठक की 'देहरादून-शिमला यात्रा', 'मर्यादा' के जून-सितम्बर 913 के अंक में प्रकाशित हुई। पुस्तक रूप में देवी प्रसाद खत्री की 'बदरिकाश्रम यात्रा' (1902), गोपाल राम गहमरी की 'लंका यात्रा का विवरण' (1916), ठाकुर गदाधर सिंह की 'चीन में तेरह मास (1902) प्रकाशित हुई। इस युग के सर्वाधिक उल्लेखनीय यात्रा वृत्तांतकार हैं - स्वामी सत्यदेव परिव्राजक। 'अमरीका दर्शन' (1911), मेरी कैलास यात्रा (1915), तथा 'अमरीका भ्रमण' उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इन यात्रा-वृत्तों में अमेरिका एवं कैलास मानसरोवर, हिमालय का रोचक वर्णन है।

छायावाद युग में यात्रा-साहित्य की बहुमुखी प्रगति हुई थी। इस युग में कई प्रसिद्ध यात्रा-वृत्तांत प्रकाशित हुए। इस युग के यात्रा-वृत्तान्त इतिवृत्त की प्रवृत्ति से मुक्त हैं। इनमें स्थानीय विशेषताओं का चित्रात्मक वर्णन मिलता है। प्राकृतिक स्थलों के साथ-साथ उसके सांस्कृतिक-राजनीतिक परिवेश का वर्णन भी इस युग के यात्रा-वृत्तान्त में प्रमुखता से मिलता है। इस युग की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं - रामनारायण मिश्र की 'यूरोप यात्रा में छह मास (1932)', गणेशनारायण सोमानी की 'मेरी यूरोप-यात्रा (1932), पं० कन्हैया लाल मिश्र की 'हमारी जापान यात्रा (1931) आदि। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की इस युग में भी यात्रा साहित्य कृतियाँ मिलती हैं, जिनमें प्रमुख है - 'मेरी जर्मन यात्रा' (1926), यात्री मित्र (1936), यूरोप की सुखद स्मृतियाँ (1937)। इस युग के सर्वाधिक प्रसिद्ध यात्रा वृत्त लेखक हैं - राहुल सांकृत्यायन। 'मेरी तिब्बत यात्रा (1937)', मेरी लद्दाख यात्रा (1939), किन्नर देश में (1948), रुस में 25 मास (1952) उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। राहुल के यात्रा वृत्तांत में यात्रा स्थल की प्राकृतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक जीवन की विशेषताओं का वर्णन सूक्ष्मता से मिलता है। उन्होंने स्थानीय जीवन के चित्रण में काफी रुचि दिखायी है। उनके यात्रा-वृत्तों में शोध-वृत्ति भी झलकती है। जिससे पाठक यात्रा स्थल के सांस्कृतिक विशिष्टताओं से परिचित होता है।

छायावादोत्तर युग के यात्रा वृत्तान्तों ने विषय एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से उल्लेखनीय प्रगति की है। शिल्प में जहाँ प्रयोगशीलता दिखाई देती है वहीं यात्रावृत्त लेखकों ने यात्रा

वृत्त के विषय को भी पर्याप्त समृद्ध किया है। राहुल सांकृत्यायन की 'चीन में कम्यून' (1959) एशिया के दुर्गम भूखण्डों में (1956) भगवत शरण उपाध्याय की 'कलकत्ता से पेकिंग' (1953), रामकृष्ण बजाज कृत 'जापान की सैर (1957)' में यूरोप के अलावा चीन, जापान एवं एशिया के अन्य देशों की यात्राओं का वर्णन मिलता है। इस युग में रामवृक्ष बेनीपुरी के कई यात्रा-वृत्त प्रकाशित हुए, जिनमें 'पैरों में पंख बाँधकर (1952) तथा उड़ते चलो-उड़ते चलो (1954) प्रमुख है। इन्होंने डायरी शैली में यूरोप के विभिन्न देशों के प्राकृतिक-सांस्कृतिक विशेषताओं को प्रस्तुत किया है। यशपाल की 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' तथा 'राहबीती' (1956) यात्रा-वृत्त प्रसिद्ध हुए। इनके यात्रावृत्त में राजनीतिक स्थितियों का प्रमुखता से चित्रण हुआ है।

रामधारी सिंह दिनकर की 'देश विदेश (1957) तथा मेरी यात्राएँ (1970) में भारत और यूरोप के रमणीय स्थलों का वर्णन है। भगवतशरण उपाध्याय कृत 'वह दुनिया' (1952) में इसराइल, कनाडा, अमेरिका, इग्लैण्ड आदि देशों के प्राकृतिक स्थलों का रोचक शैली में वर्णन मिलता है। स्वामी सत्यभक्त कृत 'मेरी अफ्रीका यात्रा (1955) में युगांडा, केन्या आदि देशों की यात्राओं का विवरण है।

अज्ञेय के दो प्रसिद्ध यात्रावृत्त हैं - 'अरे यायावर रहेगा याद' (1953) और 'एक बूँद सहसा उछली' (1960) अज्ञेय के यात्रावृत्त इतिवृत्त की परम्परा से मुक्त हैं। अज्ञेय ने अपने यात्रा-वृत्त में देश-विदेश के विभिन्न स्थलों की प्राकृतिक सुंदरता के साथ उसका सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक विवरण भी प्रस्तुत किया है। शिल्प की दृष्टि से उनके यात्रा-वृत्तों में संस्मरण, रेखाचित्र और कहानी के तत्व भी मिल जाते हैं। बिम्बात्मक भाषा के कारण वह बहुत प्रीतिकर लगती है।

'गोरी नजरों में हम' (1964) प्रभाकर माचवे का प्रसिद्ध यात्रा-वृत्तान्त है। 'आखिरी चट्टान तक' (1953) में मोहन राकेश ने दक्षिण भारत की यात्राओं का कलात्मक वर्णन किया है। 1964 में प्रकाशित निर्मल वर्मा की 'चीड़ों पर चाँदनी' यात्रा-साहित्य की उल्लेखनीय कृति है। इस कृति के प्रकाशन ने यात्रा-साहित्य को नई ऊँचाई दी। निर्मल ने

अपने इस यात्रा–वृत्तांत में यूरोप के विभिन्न देशो के मनोरम स्थलों का चित्रात्मक वर्णन करने के साथ उस देश के नागरिकों के स्वभाव, उनकी सांस्कृतिक विशिष्टताओं एवं तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य को प्रस्तुत कर यात्रा–साहित्य को समग्रता प्रदान की है। भाषा की काव्यात्मकता ने उसे पाठकों के लिए आकर्षक बनाया है। इस तरह निर्मल वर्मा के आगमन से यात्रा–साहित्य एक नई ऊँचाई पर पहुँचता है।

निबंध साहित्य

निबंध आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य की समृद्ध विधाओं में से एक है। हिंदी में निबन्ध शब्द अंग्रेजी के Essay का पर्याय है, जिसमें आत्माभिव्यक्ति पर बल दिया गया है। निबन्ध में लेखक विभिन्न विषयों पर स्वच्छंद रूप से अपनी बात रखता है। निबन्ध लेखन में बुद्धि एवं हृदय तत्व का मेल होता है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्ध में ही होता है। गद्य की विविध शैलियों का प्रयोग निबन्ध में ही होता है। गद्य की विविध शैलियों का प्रयोग निबन्ध में ही सम्भव है। लेखक किसी भी विषय पर अपने अनुकूल शैली का प्रयोग कर निबन्ध लिख सकता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार "निबन्ध या गद्य विधान कई प्रकार के हो सकते हैं – विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक। प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानों का बड़ा सुंदर मेल भी करते हैं।"[2]

निबन्ध में लेखक की आत्मव्यंजना के साथ उसकी सूक्ष्म निरीक्षण वृत्ति, पांडित्य, तार्किक क्षमता एवं हृदय और बुद्धि तत्व का सामंजस्य आवश्यक है। संक्षेप में "निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"[3]

हिन्दी निबन्ध की पूर्ण प्रतिष्ठा भारतेन्दु युग में हो चुकी थी। इस युग के सभी लेखकों ने निबन्ध लेखन में रुचि दिखायी है। भारतेन्दु युग से लेकर अब तक विविध

साहित्यान्दोलनों में निबंध लेखन की परम्परा जारी है। हिन्दी निबन्ध की विकास यात्रा को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से चार भागों में विभाजित कर देखा जा सकता है –

भारतेन्दु युग (1873–1900 ई०)
द्विवेदी युग (1900–1920 ई०)
शुक्ल युग (1920–1940 ई०)
शुक्लोत्तर युग (1940 के उपरान्त)

भारतेन्दु युग (1873–1900 ई०)

हिन्दी निबन्ध का विकास भारतेन्दु युग से शुरु हुआ। भारतेन्दु युग में विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं के प्रकाशन ने हिन्दी निबन्ध लेखन के लिए लेखकों को प्रेरित किया। इस युग के अधिकांश लेखक पत्रकार भी थे अतः उनके लिए निबन्ध लेखन सुविधाजनक भी था। राष्ट्रीय जागरण के माहौल में इस युग के लेखकों ने राजनीति, समाज–सुधार, धर्म, स्त्रियों की दशा, संस्कृति आदि विविध विषयों पर निबंध लिखें। इन लेखकों में जिन्दादिली, सजीवता और व्यंग्य विनोद की प्रवृत्ति खूब पाई जाती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850–1885 ई०) अपने युग के श्रेष्ठ निबंधकार हैं। भारतेन्दु ने विविध विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। उन्होंने सामाजिक विसंगतियों पर प्रहार को अपने निबन्धों को मुख्य विषय बनाया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने इतिहास, राष्ट्रप्रेम, धर्म, साहित्य, यात्रा–वृतान्त आदि विषयों पर भी रोचक शैली में निबन्ध लिखे हैं। 'काश्मीर कुसुम', 'बादशाह दर्पण', 'वैष्णवता और भारतवर्ष', पाँचवें पैगम्बर, 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' आदि आपके प्रसिद्ध निबंध है। भारतेन्दु ने विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, कथात्मक आदि विविध शैलियों में निबन्धों की रचना की है।

बालकृष्ण भट्ट (1844–1904 ई०) के निबन्धों में प्रौढ़ता एवं परिपक्वता झलकती है। आपने अधिकतर विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं। 'माता का स्नेह', 'कालचक्र का

चक्कर', 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है', 'आशा', 'आत्मगौरव', भट्टजी के प्रसिद्ध निबन्ध हैं।

प्रतापनारायण मिश्र (1856-1894 ई०) के निबन्धों में आत्मव्यंजकता की प्रमुखता मिलती है। व्यंग्य विनोद वृत्ति आपके निबंधों में खूब पाई जाती है। धार्मिक, सामाजिक रुढ़ियों पर लिखे आपके निबन्ध प्रसिद्ध हुए। 'धोखा', 'वृद्ध', 'दाँत', 'भौं', 'बालक', निबन्ध उल्लेखनीय हैं।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (1855-1923 ई०) ने अपने निबन्धों में सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों को उठाया है। 'नेशनल काँग्रेस की दुर्दशा', 'भारतीय प्रजा के दु:ख की दुहाई और ढिठाई पर गवर्नमेंट की कड़ाई' आदि आपके प्रसिद्ध निबन्ध हैं। इनके निबंधों में अलंकारिकता की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है।

भारतेन्दु युग के अन्य निबन्ध लेखकों में 'राधाचरण गोस्वामी', 'जगमोहन सिंह', 'लालाश्रीनिवास दास' के नाम भी उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु युग के निबन्धों में आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता के कारण सजीवता एवं रोचकता के दर्शन होते हैं। जिंदादिली इसका प्रधान गुण है। इस युग के लेखकों ने विभिन्न शैलियों का प्रयोग कर हिन्दी निबन्ध के स्वरूप को समृद्ध किया। विभिन्न विषयों पर लिखे गये उनके निबन्धों ने हिन्दी निबन्ध साहित्य के क्षितिज को विस्तृत किया।

द्विवेदी युग (1900-1920 ई०)

द्विवेदी युग के लेखकों ने हिन्दी निबन्धों को उत्कर्ष पर पहुँचाया। भारतेन्दु युग में विकसित हुई निबन्ध की विविध शैलियों का परिमार्जन किया। नये-नये विषयों पर निबन्ध लिखकर हिन्दी निबन्ध के भण्डार को समृद्ध करने का कार्य किया। इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं - पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938 ई०)। इन्होंने साहित्यिक विषयों पर गंभीर निबंध लिखे। भाषा के परिमार्जन और स्थिरिकरण की दृष्टि से यह निबंध महत्व के हैं। इनके लिखे प्रसिद्ध निबंध हैं - 'नाट्य शास्त्र', 'कवि और कविता',

'उपन्यास-रहस्य', 'साहित्य की महत्ता' आदि। 'रसज्ञ रंजन' आपके निबंधों का संग्रह है। द्विवेदी जी ने मुख्यतः वर्णनात्मक, विचारात्मक और भावात्मक शैली में निबंध लिखे हैं।

बालमुकुंद गुप्त (1865-1907 ई०) ने 'भारत-मित्र' में 'शिवशंभू का चिट्ठा' नाम से निबन्ध लिखा है। इसमें भारतवासियों की राजनीतिक विवशता का वर्णन है। गुप्त जी की शैली व्यंग्यात्मक है। गंभीर विषय को सरल ढंग से अभिव्यक्त कर पाना उनके निबंध-शैली की विशिष्टता है।

माधव प्रसाद मिश्र (1871-1907 ई०) के निबन्धों का संग्रह 'माधव मिश्र निबन्धमाला' नाम से प्रकाशित है। इन्होंने उत्सवों, पर्व, त्यौहार एवं भ्रमण-वृत्तान्त पर रोचक और सजीव निबंध लिखे हैं। इन्होंने भावात्मक शैली का प्रयोग किया है।

सरदार पूर्ण सिंह (1881-1939 ई०) इस युग के प्रसिद्ध निबन्धकार हैं। इन्होंने मात्र छह निबन्ध लिखकर बहुत प्रसिद्धि पाई। 'आचरण की सभ्यता', 'सच्ची वीरता', 'मजदूरी और प्रेम', 'पवित्रता', 'कन्यादान' और 'अमेरिका का मस्तयोगी वाल्ट व्हिटमैन' इनके प्रसिद्ध निबंध हैं। यह निबन्ध नैतिक और सामाजिक विषयों पर लिखे गये हैं। इन्होंने भावात्मक शैली में अपने निबंध लिखे हैं।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (1883-1920) ने 'कहुआ धरम' और 'मारेसि मोहिं कुठांउ' नामक प्रसिद्ध निबन्ध लिखा है। गूढ़ एवं गम्भीर शास्त्रीय विषयों को सरस एवं रोचक ढंग से प्रस्तुत करना इनकी विशेषता है।

द्विवेदी युग के अन्य उल्लेखनीय निबंधकार हैं - 'गोविन्द नारायण मिश्र (1859-1926 ई०), पद्म सिंह शर्मा (1876-1932 ई०) बाबू श्याम सुंदर दास (1875-1944 ई०) मिश्र बन्धु - श्यामबिहारी (1873-1947), शुकदेव बिहारी (1878-1951 ई०) आदि।

द्विवेदी युग के निबंधों में विषयों की गंभीरता मिलती है। इनमें विचारों की प्रधानता है। इस युग के निबंधों में भाषा की शुद्धता और व्याकरण पर विशेष ध्यान दिया गया।

निबंध की विविध शैलियों का पूर्ण विकास हुआ। भाषा की दृष्टि से यह भारतेन्दु युगीन निबन्धों से अधिक प्रौढ़ है।

शुक्ल युग (1920-1940 ई०)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आगमन से हिन्दी निबन्ध एक नई ऊँचाई पर पहुंचता है। इसीलिए इस युग को 'शुक्ल युग' नाम दिया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1884-1940) ने निबन्ध की शैलियों का अभूतपूर्व विकास किया। उनके निबन्धों में विचारात्मक, व्याख्यात्मक, विवेचनात्मक, व्यंग्यात्मक, भावात्मक आदि विविध शैलियों का दर्शन होता है। शुक्ल जी ने हिन्दी निबन्ध को नये-नये विषयों से समृद्ध किया।

चिंतामणि में संकलित उनके मनोविकार संबंधी निबंध हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। काव्य-संबंधी भी बहुत से निबंध शुक्ल जी ने चिंतामणि और रस मीमांसा में लिखे हैं। शुक्ल जी के इन निबन्धों में उनकी मौलिक मान्यताएँ, गंभीरता, तार्किक विवेचन, सूत्र पद्धति एवं बात को स्पष्ट रूप से समझाने की शैली अद्‌भुत है। उनके निबंधों में बुद्धि पक्ष के साथ हृदय पक्ष का सुंदर समन्वय है। उनके निबंध व्यक्तित्व व्यंजक निबंधों के भी श्रेष्ठ उदाहरण हैं। उनके निबन्धों में व्यंग्य की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। व्यंग्य के मिश्रण से गंभीर विषय के निबंधों में रोचकता का समावेश हुआ है। संक्षेप में शुक्ल जी के निंबध आदर्श हैं। शुक्ल जी की भाषा प्रौढ़, प्रांजल और भावानुकूल है। 'उत्साह', 'लज्जा और ग्लानि', 'श्रद्धा-भक्ति', 'क्रोध' आदि उनके मनोविकार संबंधी प्रसिद्ध निबंध हैं और 'कविता क्या है', 'तुलसी का भक्तिमार्ग', रसात्मक बोध के विविध स्वरूप, 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था आदि इनके साहित्य संबंधी प्रसिद्ध निबंध हैं।

बाबू गुलाबराय (1888-1963) शुक्ल युग के महत्वपूर्ण निबंधकार हैं। 'ठलुआ क्लब', 'फिर निराशा क्यों', 'मेरी असफलताएँ' आपके निबन्ध संग्रह हैं। आपके निबंध

व्यक्ति व्यंजक शैली के है। गंभीरता की जगह व्यक्तित्व की सरलता और अनुभूति की गहनता आपके निबंधों में मिलती है। भाषा स्पष्ट और भावव्यंजक है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी (1894-1971) ने भी व्यक्ति व्यंजक निबंध लिखे हैं। उन्होंने विचारात्मक, भावात्मक तथा विवरणात्मक शैलियों का प्रयोग किया है। 'पंचरात्र', 'कुछ और कुछ', 'मकरंद बिंदु' और 'प्रबंध परिजात' आपके निबन्ध संग्रह हैं।

रघुवीर सिंह (1908-1991) ने ऐतिहासिक विषयों को आधार बनाकर भावात्मक शैली में निबंध लिखे हैं। 'शेष स्मृतियाँ' निबन्ध संग्रह में उन्होंने मुगलकाल की घटनाओं एवं इमारतों के विषय में रोचक शैली में निबंध लिखे हैं।

जयशंकर प्रसाद (1889-1937) ने 'काव्यकला तथा अन्य निबंध' नामक निबंध संग्रह में काव्य शास्त्र के विविध पक्षों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। प्रसाद के निबंधों में सूक्ष्मता और गंभीरता के दर्शन होते हैं।

शुक्ल युग के अन्य प्रसिद्ध निबंधकारों में - 'पंत', 'निराला', 'नन्ददुलारे वाजपेयी', 'वियोगी हरि', 'सद्गुरु शरण अवस्थी', 'शांतिप्रिय द्विवेदी', 'पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र', 'माखन लाल चतुर्वेदी', आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

संक्षेप में शुक्ल युग के निबंधों में निबन्ध कला का पूर्ण विकास हुआ। सूक्ष्मता, व्यापकता, हृदय एवं बुद्धि तत्व का समन्वय, भाषा की प्रौढ़ता, प्रांजलता, शास्त्रीय समीक्षा, तार्किकता, आदि इस युग के निबन्धों की विशेषता है। शुक्ल युग में लालित्य पूर्ण निबंधों का अभाव रहा। इस युग में वैचारिक निबंधों को प्रधानता दी गयी।

शुक्लोत्तर युग (1940 से)

शुक्ल युग के बाद हिन्दी निबंध का बहुमुखी विकास हुआ। विषय की व्यापकता के साथ भाषा एवं शैली में प्रयोगशीलता भी शुक्लोत्तर युग के निबन्धों में परिलक्षित होती है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी (1907-1979 ई०) का स्थान शुक्लोत्तर निबंधकारों में सर्वप्रमुख है। इनके ललित निबंध हिन्दी निबंध साहित्य का नया आयाम हैं। द्विवेदी जी के

निबंध ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित हैं। उनमें पाण्डित्य के साथ लोक जीवन की गहरी समझ है। आत्मीयता, सहजता, रागात्मकता, विनोदप्रियता द्विवेदी जी के निबन्धों की प्रमुख विशेषता है। आपने भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता पर बहुत से सुंदर ललित निबंध लिखे हैं। 'अशोक के फूल' (1948) 'कल्पलता' (1951), 'विचार और वितर्क' (1957), 'कुटज' (1964) 'साहित्य सहचर' (1965), 'आलोक पर्व' (1972) आपके प्रसिद्ध निबन्ध संग्रह हैं। आपके निबन्धों में विचारात्मक, भावात्मक, कथात्मक, व्यंग्यात्मक, वर्णनात्मक आदि विविध शैलियाँ मिल जाती हैं।

जैनेन्द्र (1905-1988) इस युग के विशिष्ट निबंधकार हैं। इन्होंने विचार-प्रधान निबंध लिखे हैं। जीवन के गंभीर प्रश्नों पर मंथन उनके निबंधों में मिलता है। समस्या के मूल में पैठना और उस पर सूक्ष्मता से विचार करना जैनेन्द्र के निबंधों की विशिष्टता है। वाक्य-विन्यास मोहक है। भाषा में सहजता और सरलता है। आपने धर्म, राजनीति, प्रेम, काम, विवाह आदि विषयों पर अपने निबंध लिखे हैं। 'प्रस्तुत प्रश्न' (1936), 'जड़ की बात' (1945), 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' (1953), 'मन्थन' (1953) आपके प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह हैं।

शान्ति प्रिय द्विवेदी (1906-1967) ने छायावाद पर कई समीक्षाएँ लिखी हैं। इनके निबंधों में स्निग्धता, भावात्मकता मिलती है। भाषा रागपूर्ण है। 'संचारिणी' (1939), 'युग और साहित्य' (1941), 'ज्योति विहग' (1953) 'धरातल' (1957) साकल्य (1955) धरातल (1948) आपके प्रमुख निबन्ध-संग्रह हैं।

रामवृक्ष बेनीपुरी (1902-1968) के निबंध संस्मरणात्मक प्रकृति के हैं। आपके निबंधों में सहृदयता, आवेग और उल्लास मिलता है। भाषा में सजीवता और सहजता है। आपने रेखाचित्र यात्रा-वृत्तान्त और ललित निबंध लिखे हैं। 'गेहूँ और गुलाब' (1948), 'बन्दे वाणी विनायकौ' (1953), प्रसिद्ध निबन्ध संग्रह हैं। 'माटी की मूरतें' (1941-45) संग्रह रेखाचित्र के रूप में काफी प्रसिद्ध हुआ।

वासुदेव शरण अग्रवाल (1904-1972) ने भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों पर विचारपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। पुराण, धर्म, दर्शन, इतिहास और पुरातत्व पर लिखे इनके निबन्धों में मौलिकता और तार्किकता पाई जाती हैं। 'पृथ्वी पुत्र' (1949) 'कला और संस्कृति (1952), भारत की मौलिक एकता (1954) कल्पवृक्ष (1953) आदि आपके श्रेष्ठ निबन्ध संकलन हैं।

महादेवी वर्मा (1907-1987) के निबंधों में वैचारिकता और भावात्मकता का समन्वय है। भाषा अलंकृत, भावमय एवं प्रवाहपूर्ण है। आपने साहित्य, संस्कृति, समाज एवं स्त्रियों के प्रश्न पर अपने निबंध लिखे हैं। 'शृंखला की कड़ियाँ' (1942), 'क्षणदा (1957), 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध (1964) आपके प्रसिद्ध निबंध संग्रह हैं।

अज्ञेय (1911-1987) हिन्दी निबन्ध साहित्य को नया मोड़ देने वाले विशिष्ट निबंधकार के रूप में जाने जाते हैं। साहित्य भाषा, समाज, कला, आधुनिकता और संस्कृति पर लिखे गये उनके निबन्धों में एक संवेदनशील रचनाकार का गहन वैचारिक चिंतन झलकता है। उनमें अनुभूति की गहराई है। चिंतन की मौलिकता है। भाषा में प्रवाह और प्रखरता है। शैली में प्रयोगशीलता दिखाई देती है। 'त्रिशंकु' (1945), सबरंग और कुछ राग (1956) आत्मनेपद (1960), 'आलबाल' (1971) 'लिखि कागद कोरे' (1972), 'अद्यतन' (1977), 'भवन्ती' (1972) आदि अज्ञेय के प्रसिद्ध निबन्ध संग्रह हैं।

शुक्लोत्तर युग में हिन्दी निबंध की विभिन्न शैलियों का विकास हुआ। हिन्दी निबन्ध का परिदृश्य इस दृष्टि से बहुत व्यापक है। विभिन्न शैलियों में लिख रहे निबन्धकारों ने हिन्दी निबन्ध साहित्य को निरन्तर समृद्ध करने का कार्य किया है।

इस दृष्टि से ललित निबन्धकारों में 'प्रभाकर माचवे', 'शिवप्रसाद सिंह', 'विद्यानिवास मिश्र', 'धर्मवीर भारती', 'कुबेरनाथ राय', 'ठाकुर प्रसाद सिंह', 'विवेकी राय', का नाम महत्वपूर्ण है। व्यंग्य निबंधकारों में हरिशंकर परसाई, बेढ़ब बनारसी, शरद जोशी आदि महत्वपूर्ण हैं। विचारपूर्ण निबंध लिखने वालों में डॉ० सम्पूर्णानंद, यशपाल, इलाचन्द्र

जोशी, रामधारी सिंह दिनकर, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, शिवदान सिंह चौहान, मुक्तिबोध आदि का भी नाम उल्लेखनीय हैं। आलोचक और निबंधकार के रूप में रामविलास शर्मा, विश्वम्भर मानव, डॉ० नगेन्द्र, अमृत राय, नामवर सिंह, विनय मोहन शर्मा आदि के नाम महत्वपूर्ण हैं।

संक्षेप में शुक्लोत्तर युग का निबन्ध परिदृश्य निरन्तर विकासमान है। नये-नये विषयों पर निबन्ध लेखन ने निबन्ध साहित्य को समृद्ध करने का कार्य किया है। भाषा और शैली में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई है। आज निबंध में रेखाचित्र, संस्मरण, यात्रा-वृत्तान्त, आलोचना आदि विधाएँ घुल-मिलकर उसके स्वरूप को व्यापकता प्रदान कर रही हैं।

निर्मल वर्मा के निबन्ध संग्रह 'शब्द और स्मृति' (1976) के प्रकाशन से हिन्दी निबन्ध साहित्य को नया आयाम मिला। निर्मल के निबंध में चिंतन की मौलिकता और उसकी लयात्मक प्रस्तुति सहज ही प्रभावित करती है। निर्मल ने गंभीर विषयों को भी भाषा में तरलीकृत कर प्रस्तुत किया है। भाषा-शिल्प की दृष्टि से उनके निबन्ध एक प्रतिमान हैं। उनके निबंध में भाषा की सहजता और स्पष्टता तो है ही विभिन्न गद्य रूपों का संश्लेष भी मिलता है।

पत्र साहित्य

पत्र हिन्दी गद्य साहित्य की नवीनतम विधा है। यूँ तो भारतेन्दु युग से ही पत्र-लेखन की शुरुआत हो चुकी थी परन्तु संग्रह रूप में पत्रों का प्रकाशन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही हुआ है। पत्र कई तरह के लिखे जाते हैं। व्यावसायिक पत्र, व्यक्तिगत पत्र, राजनीतिक पत्र आदि। साहित्यिक पत्रों का अलग ही महत्व है। यह दो व्यक्तियों के बीच हार्दिक संवाद का माध्यम है। पत्र में लेखक उन्मुक्त और अनौपचारिक होकर अपने मनोभावों को प्रकट करता है। साहित्यकारों के पत्र में समसामयिक राजनीतिक-साहित्यिक परिवेश प्रमुखता से अंकित रहता है। पत्र के माध्यम से रचनाकार की रचना-प्रक्रिया पर भी प्रकाश पड़ता है।

उसके व्यक्तित्व का उद्‌घाटन होता है। संक्षेप में वैयक्तिकता, हार्दिकता, सहजता और अनौपचारिकता साहित्यिक पत्रों की प्रमुख विशेषता है।

हिन्दी में पत्र-साहित्य पुस्तक रूप में, पत्रिकाओं के विशेषांक में, ग्रन्थावली एवं रचनावली में तथा अभिनन्दन ग्रंथों के रूप में प्रकाशित होता रहा है। भारतेन्दु एवं द्विवेदी युग में पत्र-साहित्य छिट-पुट रूप से विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित होता रहा है। संग्रह के रूप में पत्र का प्रकाशन 1954 में बैजनाथ सिंह द्वारा हुआ। 'द्विवेदी पत्रावली' शीर्षक से प्रकाशित यह पत्र-संग्रह हिंदी का पहला पत्र-संग्रह माना जाता है। इस संग्रह में महावीर प्रसाद द्विवेदी के महत्वपूर्ण पत्र संकलित हैं, जो उन्होंने विभिन्न साहित्यकारों को लिखे थे। इन पत्रों से तत्कालीन भाषा-शुद्धि आन्दोलन पर रोशनी पड़ती है।

सन् 1956 में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और हरिशंकर शर्मा द्वारा संकलित 'पद्‌मसिंह शर्मा के पत्र' महत्वपूर्ण है। इस संकलन में पद्‌मसिंह शर्मा द्वारा साथी साहित्यकारों को लिखे गये पत्र संकलित हैं। 1958 में किशोरी दास बाजपेयी द्वारा संकलित 'साहित्यकों के पत्र' प्रकाशित हुआ। 1962 में प्रेमचंद के पत्रों का संकलन 'चिट्ठीपत्री' अमृतराय द्वारा किया गया। जानकी वल्लभ शास्त्री द्वारा संकलित 'निराला के पत्र' 1971 में प्रकाशित हुआ। 1976 में रामविलास शर्मा द्वारा निराला के दुर्लभ पत्रों का संकलन 'निराला की साहित्य साधना' खण्ड-तृतीय में किया गया। इस संकलन से निराला के जीवन के कई सारे पक्षों पर रोशनी पड़ती है। इसी क्रम में 'फाइल और प्रोफाइल' (1968) (साहित्यकारों के नाम उग्र के पत्र) 'पंत के दो सौ पत्र बच्चन के नाम' (1971) सं० हरिवंश राय बच्चन, 'यशपाल के पत्र' (1977) सं० मधुरेश, 'प्रसाद के नाम पत्र' (1976), सं० रत्न शंकर प्रसाद, 'बच्चन पत्रों में' (1970) सं० जीवन प्रकाश जोशी, 'द्विवेदी जी के पत्र पाठक जी के नाम' (1982) सं० पद्‌मधर पाठक, 'नागार्जुन के पत्र' (1987) सं० नरेन्द्र कोहली आदि महत्वपूर्ण पत्र संग्रह हैं। इन पत्र-संग्रहों के माध्यम से प्रसिद्ध साहित्यकारों के अन्तरंग व्यक्तित्व का उद्‌घाटन तो होता ही है तत्कालीन साहित्यिक आंदोलनों एवं तत्‌संबंधी वाद-विवाद का भी परिचय मिलता है। साहित्यिक इतिहास के परिचय की दृष्टि से यह

पत्र-संग्रह महत्वपूर्ण हैं। इधर हिंदी साहित्य में द्विवगंत साहित्यकारों के महत्वपूर्ण पत्रों के प्रकाशन की प्रवृत्ति बढ़ी है जो एक शुभ प्रवृत्ति है इससे हिंदी साहित्य और समृद्ध होगा। इस दिशा में गगन गिल द्वारा संपादित निर्मल वर्मा के पत्र-संग्रह भी उल्लेखनीय हैं। निर्मल के देहावसान के बाद भाई रामकुमार के नाम लिखे 'प्रिय राम' शीर्षक से पत्र-संग्रह सन् 2006 में प्रकाशित हुआ। इस पत्र-संग्रह के माध्यम से निर्मल के जीवन के कई सारे पक्ष उद्घाटित होते हैं।

डायरी साहित्य

डायरी हिंदी गद्य की आधुनिक विधा है। यह गद्य की सबसे अधिक आत्मपरक विधा है। इसके पीछे यह धारणा रहती है कि इसका पाठक स्वयं लेखक ही होगा, अतः उसमें भावों की स्वच्छंद अभिव्यक्ति होती है। डायरी में लेखक प्रतिदिन के अनुभवों का विवरण देता है। उसमें तात्कालिक संवेदनात्मक भावों की अभिव्यक्ति होती है। यह स्मृतियों का भी पुनर्सृजन करता है। डायरी में तिथिवार दैनिक जीवन के अनुभवों एवं समकालीन घटनाओं पर प्रतिक्रिया दर्ज होती है। हालाँकि कुछ लेखक तिथिवार घटनाओं का नियमित उल्लेख नहीं करते। उसमें समय का अंतराल होता है। डायरी में यथार्थपरक घटनाओं के अलावा लेखक अपने कल्पनाजनित विचारों की भी अभिव्यक्ति करता है। फिर भी डायरी पर देश-काल का प्रभाव प्रधानता से रहता है। डायरी द्वारा पाठक लेखक के अन्तरंग संसार का साक्षात्कार करता है। उसकी रचना-प्रक्रिया से अवगत होता है। संक्षेप में - "लेखक द्वारा जब अपने दैनन्दिन जीवन में अनुभूत, विचारोद्वेलक अथवा गहन चिन्तन के लिए विवश कर देने वाले क्षणों की अनुभूति, तिथिवार लिपिबद्ध की जाती है तब इस विधा का जन्म होता है।"[4]

हिन्दी में डायरी लेखन के दो रुप मिलते हैं। पहला पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित स्फुट डायरी के पन्ने और दूसरा पुस्तक के रूप में प्रकाशित स्वतंत्र डायरियाँ।

पत्रिकाओं में 'हंस' के आत्म कथांक जनवरी 1932 में धीरेन्द्र वर्मा की डायरी के अंश, 'आलोचना' के अंक-67 (अक्टूबर-दिसम्बर, 1983) में आचार्य शिवपूजन सहाय की

डायरी के अंश, 'कल्पना' के मई 1958 में रामस्वरूप चतुर्वेदी की डायरी के अंश महत्वपूर्ण हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पुस्तक रूप में प्रकाशित डायरियाँ सामने आती हैं। पुस्तक रूप में प्रकाशित धीरेन्द्र वर्मा की 'मेरी कॉलेज डायरी' महत्वपूर्ण है। यह 1952 में प्रकाशित हुई थी। चार खंडों में विभाजित इस डायरी में धीरेन्द्र वर्मा ने विद्यार्थी जीवन के अनुभवों पर अपनी प्रतिक्रियाएँ दर्ज की है। 1952 में इलाचन्द्र जोशी की 'डायरी के नीरस पृष्ठ' प्रकाशित हुई। 1958 में धर्मवीर भारती की 'ठेले पर हिमालय' प्रकाशित हुई। इसमें समकालीन विषयों पर लेखक ने अपनी अभिव्यक्ति प्रकट की है। इसी क्रम में अजित कुमार की 'अंकित होने दो' डायरी भी महत्वपूर्ण है। हरिवंश राय बच्चन की 'प्रवास की डायरी' 1971 में प्रकाशित हुई। इस डायरी में उनका जीवन-संघर्ष अभिव्यंजित हुआ है। 1973 में रामधारी सिंह दिनकर की 'दिनकर की डायरी' प्रकाशित हुई। 1968 में प्रकाशित मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' विशेष रूप से चर्चित हुई। यह डायरी पारम्परिक डायरियों से भिन्न है। इसमें मनोविश्लेषण, तर्क, वैचारिकता को प्रधानता दी गई है। इसमें मुक्तिबोध ने नई कविता के प्रश्नों पर गंभीर विमर्श प्रस्तुत किया है। रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में - "मुक्तिबोध की डायरी में साहित्य की रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण तो है ही आज के मध्यवर्गीय साहित्यकार का संघर्षरत व्यक्तित्व भी मूर्त हुआ है।"[5]

1976 में रघुवीर सहाय की 'दिल्ली मेरा परदेश' प्रकाशित हुई। इस डायरी में आधुनिक जीवन की त्रासदियों की अभिव्यक्ति है। 1985 में मोहन राकेश की 'मोहन राकेश की डायरी' का प्रकाशन हुआ। इनकी डायरी में उनके निजी जीवन के संघर्ष, तनाव, द्वन्द्व की अभिव्यक्ति मिलती है। 1980 में रामविलास शर्मा की 'पंचरत्न' प्रकाशित हुई। इसमें साहित्यकारों के संस्मरण मिलते हैं। अन्य डायरियों में शमशेर बहादुर सिंह की 'शमशेर सिंह की कुछ गद्य रचनाएँ' (1989), रेणी की 'वनतुलसी की गंध' (1984) भी महत्वपूर्ण है। इधर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रसिद्ध लेखकों की डायरियों के अंश प्रकाशित होने शुरु हुए हैं। हिंदी की डायरी साहित्य अन्य गद्य विधाओं की तुलना में कम समृद्ध है। अभी वह विकास की प्रक्रिया में है। निर्मल वर्मा की डायरी 'धुंध से उठती धुन' (1996) के पूर्व हिंदी डायरी साहित्य की यही संक्षिप्त सी यात्रा है।

(ii) निर्मल के यात्रा-संस्मरण, निबंध, पत्र एवं डायरी साहित्य की संवेदना

निर्मल वर्मा के कथेतर साहित्य के निर्माण में उनके परिवेश एवं व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों की महती भूमिका है। निर्मल का जन्म 3 अप्रैल 1929 को शिमला में हुआ था। शिमला के पहाड़, बर्फ, चीड़, देवदार, चाँदनी ने उनकी चेतना में एक खास जगह बनाई है। प्रकृति के अबाध विराटता के बीच उनकी अन्त:प्रज्ञा प्रस्फुटित हुई। घर के धार्मिक-साहित्यिक माहौल ने उनके चिन्तक मानस को प्रेरित किया। बचपन में ही भारतीय एवं विश्व साहित्य की कई महत्वपूर्ण कृतियों को पढ़ लिया था। भारतीय मनीषियों स्वामी रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, गांधी, अरविन्द, लोहिया आदि से उन्हें एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई। 1959 में चेकोस्लोवाकिया गये वहाँ के प्राच्य विद्या संस्थान के आमत्रंण पर। लगभग 8-10 वर्षो के प्रवास के दौरान उन्होंने चेक साहित्य के महत्वपूर्ण लेखकों - मिलानकुंदेरा, इवान क्लीमा, हराबल आदि की कृतियों का अनुवाद किया। प्राग प्रवास में वह विश्व के महत्वपूर्ण साहित्यकारों की विचारधाराओं से परिचित हुए। इस दौरान उन्होंने यूरोप के अन्य शहरों की भी यात्राएँ की। यूरोप प्रवास में उन्होंने विश्व युद्ध के आतंक और उसकी पीड़ा को नजदीक से देखा। पश्चिमी इतिहास चेतना की त्रासदी और विकास के विनाशकारी सिद्धान्त से परिचित हुए। यहाँ रहते हुए उन्होंने आत्मनिर्वासन के देश को भी भोगा। अकेलेपन के दिनों में भारत की स्मृतियों ने उन्हें उद्वेलित किया। भारत से अलग होकर उन्हें उसकी परम्परा, स्मृति, आत्मीयता का बोध हुआ। भारतीय काल बोध एवं पश्चिमी कालबोध के अंतर को वह गहराई से समझ सके। इस बारे में स्वयं उनका कथन है - "मैं बरसों से अपने देश के बाहर रहा हूँ। इससे मेरे भीतर एक अलगाव-सा उत्पन्न हुआ है .... किन्तु दूसरी तरफ इसी 'अलगाव' ने मुझे अपनी जातीय अस्मिता और संस्कृति को एक ऐसे कोण से देखने का अवसर दिया है, जहाँ भ्रम और भुलावे के लिए गुंजाइश बहुत कम है। मैं एक साथ अपने को बाहर और भीतर पाता रहा हूँ - पश्चिम से मुझे एक तार्किक अन्तर्दृष्टि मिली है, जिसके सहारे मैंने अपनी संस्कृति के मिथक बोध, बिम्बों और प्रतीकों की गैर-तार्किक अन्तर्चेतना को परखने की चेष्टा की है, दूसरी तरफ मैं खुद इस

अन्तर्चेतना का अंश हूँ, जिसके आधार पर मुझे आधुनिक तर्कशील तकनीकी सभ्यता के अर्न्तविरोधों का अहसास भी होता रहा है।"[6]

भारतीय सभ्यता आत्म और अन्य के बीच कोई विभाजन नहीं मानती। यहाँ आत्म और अन्य के एकत्व की अवधारणा प्रस्तुत की गई है। इस सभ्यता ने अपना विकास 'अन्य' को साथ लेकर चलते हुए किया है। इसके बरक्स पश्चिमी सभ्यता ने अपना विकास 'अन्य' की सत्ता को नकार कर किया है। वहाँ 'अन्य' के लिए कोई जगह नहीं। वह एक आत्मकेन्द्रित संस्कृति है। निर्मल ने यूरोप में रहते हुए इस आत्मकेन्द्रित संस्कृति के दुष्परिणामों को नजदीक से देखा। निर्मल के कथेतर साहित्य में इन स्थितियों की गहरी पड़ताल है। निर्मल सिर्फ पश्चिम की ही आलोचना नहीं करते बल्कि भारतीय सभ्यता के अन्तर्विरोधों की भी पड़ताल करते हैं। दो सौ वर्षों के औपनिवेशिक शासन के दौरान भारत का समग्रता बोध कैसे खंडित हुआ है, इस बात को वह अपने निबंधों में प्रमुखता से उठाते हैं। मार्क्सवाद ने भारतीय संस्कृति की विशिष्टता को अपने पूर्वाग्रहों के कुहासे से ढंक दिया। निर्मल आजीवन दृढ़ता से मार्क्सवादी कुहासे को छाँटते रहे। और पूरी ईमानदारी के साथ भारतीय एवं पश्चिमी सभ्यता के प्रश्नों पर अपना चिंतन प्रस्तुत किया।

चेकोस्लोवाकिया में रुस के आक्रमण के दौरान वहाँ साहित्य पर लगे सेंसर ने उन्हें कला-साहित्य की स्वायत्तता पर सोचने को मजबूतर किया। इसके अलावा कला पर सत्ता के नियंत्रण और उसकी भ्रामक मार्क्सवादी व्याख्याओं से वह काफी क्षुब्ध हुए। अपने कथेतर साहित्य में उन्होंने कला की स्वायत्तता के प्रश्न को प्रमुखता से उठाया है। आधुनिक सभ्यता में स्मृति के लिए कोई जगह नहीं है। विकास की आँधी में वह स्मृति के लिए एक क्षण भी नहीं रुकना चाहती। 'स्मृति' जो कि अपने ही खोए हुए आत्म का तलाश है, का महत्व निर्मल के कथेतर साहित्य में विभिन्न रूपों में अभिव्यंजित है।

संक्षेप में निर्मल ने अपने कथेतर साहित्य - यात्रा-संस्मरण, निबंध, पत्र एवं डायरी में स्मृति, कला, साहित्य और संस्कृति, इतिहास, परम्परा, भारत, यूरोप आदि के प्रश्नों को अलग-अलग रूपों में व्यक्त किया है। विधा चाहे जो रही हो उनकी दृष्टि में कला की

स्वायत्तता, आत्म और अन्य की संकल्पना और स्मृति का महत्व हमेशा महत्वपूर्ण बने रहें। और यहाँ स्मृति से तात्पर्य भारत से ही नहीं, उन सब चीजों से हैं जो मनुष्य को आत्म और अन्य के एकत्व का अनुभव कराती है। मसलन विश्व साहित्य के श्रेष्ठ अंश आदि।

यात्रा-संस्मरण साहित्य

निर्मल वर्मा के दो यात्रा-संस्मरण प्रकाशित हुए हैं। पहला - चीड़ों पर चाँदनी (1962) और दूसरा 'हर बारिश में (1970)'। 'चीड़ों पर चाँदनी' में यूरोपीय देशों-चेकोस्लोवाकिया, जर्मनी, आइसलैण्ड, पेरिस, वियना आदि की यात्राएँ हैं। पहली बार यूरोप की यात्रा पर निकले निर्मल ने इन यात्राओं का वर्णन उल्लसित मन से किया है, जबकि 'हर बारिश में' यात्रा-संस्मरण में अवसाद की छाया है। निर्मल ने अपने दूसरे यूरोप प्रवास में यथार्थ के नग्न रूप को देखा विशेषत: चेकोस्लोवाकिया में सोवियत रुस के आक्रमण और दमन को। 'हर बारिश में' उन दिनों के संकट और तनाव का जीवंत वर्णन है।

निर्मल ने अपने इन यात्रा-संस्मरणों में केवल घूमे हुए देश के भूगोल का ही वर्णन नहीं किया है, बल्कि उस देश की समूची संस्कृति, कला, इतिहास, साहित्य और वहाँ के नागरिकों के अनुभव - सोच सब कुछ को समग्रता में उपस्थित किया है। 'चीड़ों पर चाँदनी' में उन्होंने यूरोपीय देशों की संस्कृति-साहित्य का विस्तृत और सूक्ष्म परिचय दिया है। यहाँ उन्होंने कुछ व्यक्तियों के मर्मस्पर्शी संस्मरण भी प्रस्तुत किये हैं। यूरोप का एक छोटा सा द्वीप है आइसलैण्ड। वहाँ की यात्रा में निर्मल का मन खूब रमा है। निर्मल ने प्राग से आइसलैण्ड की यात्रा का बहुत ही सुंदर और जीवंत वर्णन किया है। निर्मल 1959 में चेकोस्लोवाकिया में वहाँ के प्राच्य विद्या संस्थान के आमंत्रण पर गये थे। वहाँ लगभग 8-10 वर्ष रहे। प्राग प्रवास के शुरु के वर्षों में वह अपने मित्र थोर्गियर के कहने पर आइसलैण्ड की यात्रा को निकलते हैं। प्राग से आइसलैण्ड तक की यात्रा में बीच में कई शहर पड़ते हैं। उनका पहला पड़ाव होता है 'जर्मनी'। यह 1961 की गर्मियों का समय है जब निर्मल जर्मनी को पहली बार देखते हैं। विश्व युद्ध का साक्षी देश। रेल की खिड़की से जर्मनी की धरती को देखते हुए वह उसके अतीत को अनुभव करते हैं। उस धरती की गंध

से उन्हें विश्व युद्ध की याद आती है, जो उन्हें बेचैन करती है। बर्लिन में उनके रुकने का एक कारण ब्रेख्त के नाटक देखने की लालसा थी। ब्रेख्त के नाटकों में भी उन्हें युद्ध की छाया दिखती है। निर्मल पूर्वी और पश्चिम दोनों जर्मनी में रुकते हैं। उनकी पैनी निगाह वहाँ रहते हुए दोनों देशों के नागरिकों की मानसिकता को परखती है। युद्ध ने कैसे इन देशों के आपसी सम्बन्ध को प्रभावित किया है इसका सूक्ष्म विवरण निर्मल देते हैं। बर्लिन के बाद उनका अगला पड़ाव होता है 'कोपनहेगन'। यह एक स्कैडनेवियाई देश है। निर्मल कोपनहेगन की गलियों, थियेटर, नाइटक्लब, दुकानों, रेस्त्रां का जीवंत वर्णन करते हैं। उनकी स्थानीय विशेषताओं को बारीकी से उभारते हैं। कोपनहेगन की आर्ट गैलरियों और म्यूजियम को उत्सुकता से देखते हुए उसकी संस्कृति से अपने को जोड़ते हैं। अपने यात्रा-संस्मरण में उन्होंने कुछ थोड़े से व्यक्तियों, लेखकें के चित्र भी प्रस्तुत किये हैं। इनमें से एक हैं थोर्गियर के मित्र एंगुई। जो कोपनहेगन में 'आइसलैंडिक शिप कम्पनी' में काम करते हैं। इन्हीं के सौजन्य से निर्मल को आइसलैण्ड की यात्रा के लिए जहाज का टिकट मिल पाता है।

निर्मल कोपन हेगन से 'गुलफॉस' जहाज द्वारा आइसलैंड की यात्रा को निकलते हैं। कुल छह दिन की यात्रा है। छह दिन समुद्र की लहरों के साथ। इस यात्रा का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है निर्मल ने। छह दिन, समुद्र की अबाध नीलिमा, पानी, दूर-दूर तक पानी, बर्फीली हवाएँ, आसमान के तारें, काँपता डेक और डेक पर उड़ते पक्षी, सफेद रातें - यह सारे दृश्य सिनेमा की स्लाइड की तरह सरकते हैं -

"दिन और रात...

कित्ता पानी? कित्ता? हाथ फैल जाते हैं, और नन्हें-से आलिंगन में समूचा, अन्तहीन, समुद्र सिमट आता है।"[7]

आइसलैंड एक छोटा सा देश है। बहुत ही सुंदर और शांत-देश। रिक्याविक यहाँ की राजधानी है। रिक्याविक का सौंदर्य उन्हें अभिभूत करता है। यहाँ मौसम पल-छिन बदलता रहता है। यहाँ के ग्लेशियर, झरनें, बारिश, नदियाँ, गरम पानी के चश्मे से उठता सफ़ेद

धुआँ, बावड़ियाँ यह सब निर्मल के सामने एक स्वप्नलोक की तरह उपस्थित होते हैं। प्रकृति का यह जादुई सम्मोहन निर्मल को रोमांचित करता है –

"जब हम आइसलैंड के सबसे सुन्दर झरने 'गुलफ़ॉस' (स्वर्ण-प्रपात) को देखने बस से बाहर निकले, तो हम सबकी देह रह-रहकर सिहर जाती थी।

सामने दिखाई दी हवीता नदी। पत्थरों और चट्टानों के बीच लुढ़कते हुए पानी के कुण्डल। नंगी शिलाओं पर भँवर बनाता फ़ेनिल झाग ... और ऊँची ढलान से गिरती धार की बूँदे। एक ख़ास कोण से देखने पर हवा में छितरती ये बूँदे इन्द्र-धनुष रंगों का जाल बुनती-सी दिखाई देती हैं।"[8]

जितनी सुंदर आइसलैंड की प्रकृति है वैसे ही यहाँ के लोग भी। इनकी सहजता, निश्छलता, शर्मीलेपन पर निर्मल मुग्ध हैं। यहाँ कभी युद्ध नहीं हुए। चोरी की, हत्या की घटनाएँ न के बराबर है। इसी कारण इनकी अपनी सेना तक नहीं है। ये लोग स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। कला और पुस्तकों के प्रति काफी लगाव है। यहाँ एक छोटे से किसान के घर में भी पुस्तकें मिल जायेंगी। प्रसिद्ध सागा-ग्रन्थों की रचना इसी देश में हुई थी। साहित्य के अलावा यह लोग मूर्तिकला के प्रति भी रुचि रखते हैं। यहाँ के निवासी राजनीति के प्रति भी खुला और मुक्त दृष्टिकोण रखते हैं। ये पूर्वाग्रही नहीं हैं। निर्मल लिखते हैं – "कम्युनिस्ट देशों के बाहर शायद आइसलैंड ही एक ऐसा देश है जहाँ लोग कम्युनिस्ट विचारधारा से तीव्र मतभेद रखते हुए भी कम्युनिस्ट नेता के प्रति इतनी गहरी निष्ठा और आस्था प्रकट कर सकते हैं।"[9]

इस यात्रा-संस्मरण में आइसलैंड के अलावा प्राग, पेरिस, वियना का भी वर्णन है। निर्मल ने इन शहरों के इतिहास, सौंदर्य, स्वप्न को हार्दिकता से चित्रित किया है। वह किसी भी शहर में जाते हैं, वहाँ की गलियों, सड़कें, सड़क पर चलते लोग, पुराने गिरजे, म्यूजियम सब कुछ को ध्यान से देखते हैं। इन दृश्यों में उस शहर के अतीत को अनुभव करते हैं और उससे एक आत्मीय रिश्ता बनाते हैं। इन शहरों के पुराने लेखकों के मकान में उनकी विशेष दिलचस्पी है। वह चेखव, काफ्का मोत्सार्ट, के घर जाते हैं और उनकी

स्मृतियों को ताजा करते हैं। इन शहरों की नदियाँ, वहाँ के गिरजे और उसकी बजती घंटिया, थियेटर, सड़क पर नाचते-गाते लोग, रेस्त्रां, कैफे और लोगों की जिंदादिली उन्हें सम्मोहित करती है। पेरिस के जादुई सौंदर्य का वर्णन करते हुए वह लिखते हैं - "सेन के जिस छोर पर मैं खड़ा हूँ, वहाँ चेस्टनट की शाखाएँ बहते भूरे पानी पर झुक आई हैं। बहुत कम फ़ासले पर पोंत-न्यूफ़ है और उसके परे मधुमक्खियों के छत्ते-सा द्वीप-पानी के बीच एक भूखंड जहाँ नात्रेदाम की मीनारें धूप में झिलमिलाती हैं।"[10]

इस यात्रा-संस्मरण का सबसे सुंदर अंश है - चीड़ों पर चाँदनी शीर्षक यात्रा-संस्मरण। यहाँ निर्मल ने अपने गृह नगर शिमला के सौंदर्य और स्मृतियों को अत्यन्त चित्रमयी भाषा में मूर्त किया है। निर्मल ने जिस बिम्बमयी भाषा में शिमला के जादू को जीवंत किया है उससे शिमला की चाँदनी में उनके साथ पाठक भी नहाने लगता है। निर्मल का बचपन शिमला में बीता था। शिमला के पहाड़ और उसके साथ सूरज और बादलों की अठखेलियाँ निर्मल को बचपन में बहुत लुभाती थीं। और फिर रात में चीड़ों पर बिछी हुई चाँदनी और उसके साथ झड़ता हुआ बर्फ। यह उनके लिए एक जादुई संसार था। निर्मल शिमला की स्मृतियों में डूबते हुए लिखते हैं - "रात को सोते समय आकाश साफ़ होता था। दिसम्बर के निविड़, गहन अन्धकार में दूर की पहाड़ियाँ ड्राइंग-पेपर पर धूमिल रेखा-चित्र-सी स्तब्ध, निश्चल दीखती थीं - इतनी महीन, इतनी म्लान, कि लगता था जैसे अँधेरे पर हाथ फेरते ही सब कुछ मिट जाएगा। आकाश कुछ नीचे सरक आता था, धरती को छूता-सा और धरती अपना ओर-छोर समेटकर घुटनों पर झुक आती थी, जैसे पहाड़ियों के आगे गुमसुम प्रार्थना कर रही हो।"[11]

पहाड़ पर धूप अपने अलग-अलग रंग बिखेरती है। वहाँ का मौसम थोड़ी-थोड़ी देर में बदलता रहता है। जरा सी देर में बारिश होती है और जरा सी देर में ही धूप चमकती हुई दिखती है। पहाड़ पर चलते हुए कुछ दूर तक पीली छायाएँ दिखती हैं और थोड़ी ही दूरी पर साँवली छायाएँ। निर्मल ने प्रकृति के इस खेल को बहुत करीब से देखा है। उन्हीं के शब्दों में - "ये पहाड़ी छायाएँ एक-सी हैं, किन्तु हर जगह इनके पल-छिन बदलते रंगों

को देखा है। जाखू की पहाड़ियों पर स्कूल के कमरे की खिड़की से बाहर इन्हें धीरे-धीरे धूप के संग उतरते देखा है।"[12] प्रकृति से गहरे जुड़ाव के कारण ही निर्मल उसके इस वैविध्यपूर्ण सौंदर्य को आँक सके हैं। उसके एक-एक सूक्ष्म परिवर्तनों को बारीक रंग-रेखाओं में उभार सके हैं। जिस तरह कविता में पंत ने 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' को चित्रित किया है ठीक उसी प्रकार निर्मल ने गद्य में प्रकृति के पल-छिन बदलते सौंदर्य को उरेहा है।

प्रसंगवश-निर्मल ने अपनी डायरी 'धुंध से उठती धुन' में एक जगह वजीर्निया वुल्फ का हवाला देते हुए लिखा है कि उनके गद्य में प्रकृति के सूक्ष्म परिवर्तन हार्दिकता से अंकित हैं। "वजीर्निया वुल्फ़ की डायरी पढ़ते हुए जो बात एकदम आँखों को छूती है - वह है हर दिन का बदलता मौसम। डायरी के अधिकांश पन्ने मौसम से शुरू होते हैं - हवा, अकाश का रंग, पेड़ों के तेवर। लंदन में 4 अप्रैल, 1929 के दिन क्या मौसम रहा होगा, यह हम उनकी डायरी खोलकर पता चला सकते हैं।"[13] इसी संदर्भ में निर्मल आगे लिखते हैं - हिन्दी कहानियों एवं उपन्यासों में प्रकृति चित्रण के प्रति उदासीनता मिलती है। वह सिर्फ एक पृष्ठभूमि के रूप में ही चित्रित है, जीते-जागते परिवेश के रूप में नहीं। निर्मल का यह कथन बिल्कुल सत्य है। हमारे साहित्य में कविता में तो प्रकृति का जिक्र मिल जाता है पर गद्य साहित्य में उसकी काफी उपेक्षा की गयी है। लेखकों का यथार्थ के प्रति हद से ज्यादा आग्रह और उनका स्थूल घटनाओं के प्रति वर्णन का मोह प्रकृति को साहित्य से निष्कासित कर देती है। परंतु निर्मल का गद्य साहित्य इन सारी शिकायतों को दूर कर देता है। निर्मल ने अपने सम्पूर्ण गद्य साहित्य में प्रकृति की जैसी जीवंत और समग्र उपस्थिति दिखलायी है वह अद्‌भुत है। 'चीड़ों पर चाँदनी' में प्रकृति का जादुई सौंदर्य अभिभूत करता है। प्रकृति निर्मल की स्मृतियों में स्पंदित होकर अमिट हो गई है। निर्मल ने अपने गद्य में प्रकृति और स्मृति का जिक्र प्रायः साथ-साथ किया है। दरअसल उनके लिए प्रकृति और स्मृति शब्द एक जैसे हैं। निर्मल जब भी स्मृतियों में डूबते हैं तो वहाँ प्रकृति जरुर होती है। स्मृति में जाने का अर्थ ही है प्रकृति के पास जाना। प्रकृति के बिना वह स्वयं को अधूरा पाते हैं ठीक वैसे ही जैसे कि स्मृति के बिना। प्रकृति सिनेमा का वह पर्दा

है जिस पर स्मृतियाँ एक के बाद एक ऊपर उठने लगती हैं। आखिर दोनों ही उनके खोये हुए आत्म की तलाश है। प्रकृति और स्मृति एक दूसरे को आलोकित करते हैं। एक का अर्थ दूसरे में खुलता है। शिव और पार्वती के अभिन्न संबंधों की तरह –

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिप्रत्तये
जगतः पितरौ बन्दे पार्वती परमेश्वरौ।"[14]

शिमला, नारकण्डा, डलहौजी के पहाड़ उनसे जुड़ी बचपन की स्मृतियाँ या फिर वियना, पेरिस, प्राग की गलियाँ, सड़कें। वल्तावा, सेन नदी के किनारे बैठा हुआ उनका प्रिय लेखक। चाँदनी रात में, झड़ते हुए बर्फ के बीच सड़क पर चलते लोग सब उनकी स्मृतियों में प्रकृति को साथ लिए जीवित हैं – "वियना के फैले विस्तृत आकाश के नीचे मैं चलने लगा। एक-एक करके पुरानी स्मृतियाँ जगने लगीं, मास्को का क्रेमलिन, बुदापेस्त, जहाँ बुदा की पहाड़ी से झाँककर बहती हुई डेन्यूल को देखा था – ब्लू डेन्यूब, और अब वियना की रहस्यमय गलियाँ, जिनमें चलते हुए मोत्सार्ट का संगीत और आर्थर श्लीज़र की कहानियाँ साकार-सी हो उठती हैं।"[15]

'चीड़ों पर चाँदनी' यात्रा-संस्मरण में यूरोप के अलग-अलग शहरों में घूमते हुए निर्मल के मन को जो उल्लास है वह 'हर बारिश में' यात्रा-संस्मरण में अवसाद और चिंता का रूप ले लेता है। हालांकि यथार्थ से साक्षात्कार 'चीड़ों पर चाँदनी' में भी है – जब वह प्राग में बीस मील की दूरी पर बसे एक छोटे से गाँव लिदीत्से को देखते हैं, जिसे विश्वयुद्ध के दिनों में नाजियों ने पूरी तरह से तबाह कर दिया था। निर्मल का मन लिदीत्से को देखकर बेचैन हो जाता है। यही बेचैनी और तीव्र रूप में उन्हें दूसरी बार प्राग प्रवास के दिनों में होती है। निर्मल जब दूसरी बार प्राग आते हैं तो वहाँ सोवियत रूस के दमन का नग्न साक्षात्कार करते हैं। 'हर बारिश में' यात्रा-संस्मरण में उन्होंने प्राग के अपने इन्हीं अनुभवों का मार्मिक वर्णन किया है। सोवियत संघ ने कभी चेकोस्लोवाकिया को जर्मनी से मुक्ति दिलवाई थी। बाद में वही सोवियतसंघ, साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्ति दिलाने के नाम पर उसके ऊपर आक्रमण कर बैठा। चेक लोगों ने अपने नेता दुब्चेक के नेतृत्व में

शांतिपूर्ण प्रदर्शन किया। चेक लोगों पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाये गये। अखबारों पर सेंसर, लेखकों की गिरफ्तारियाँ, आम जनता का उत्पीड़न। यह सब एक समाजवादी देश ने एक शांतिपूर्ण समाजवादी देश के साथ किया। सोवियत आक्रमण के बाद प्राग को देख निर्मल ठगे से रह जाते हैं। जिस प्राग की जिंदादिली को देखा था आज वहाँ युद्ध की आहटें हैं वह सोवियत के टैंकों से घिरा हुआ है। फिजा में एक अजीब सा तनाव घुला हुआ है। चेक लोग अपने अस्तित्व की शांतिपूर्ण लड़ाई लड़ रहे हैं। वह अपने सदियों पुरानी संस्कृति, भाषा और साहित्य को बचाना चाहते हैं। सोवियत रूस उनके इस अस्तित्व के लिए संकट बनता है। एक समाजवादी देश कैसे किसी शांतिप्रिय देश के लिए खतरा बन जाता है - निर्मल उसे अपनी आँखों के सामने घटित होता देखते हैं। सोवियत के इस छल पर निर्मल लिखते हैं - "सोचता हूँ, राजनीति कितने चुपके से 'एब्सर्ड' नाटक से भी अधिक तर्कहीन हो सकती है - प्राग में घूमते हुए सोवियत सिपाही हर तर्क, हर समझदारी, हर मानवीय बोध से परे हैं, उन्हें यहाँ किसी ने नहीं बुलाया - जबकि सोवियत प्रेस में बराबर यह कहा जा सकता है कि 'वे चेकोस्लोवाकिया में समाजवाद की रक्षा करने आये हैं।' ...जिस 'समाजवाद' की रक्षा टैंकों और संगीनों के बल पर की जाए, उसे 'समाजवाद' कहना भाषा का बलात्कार करना है...।"[16]

कभी समाजवाद में निर्मल की भी आस्था थी। पर सोवियत के इस नग्न रूप को देखकर वह आम चेक नागरिकों की तरह ठगे से रह जाते हैं। पर इससे भी अधिक दुख निर्मल को इस बात का है कि वह संकट की इस घड़ी में प्राग की जनता के लिए कुछ नहीं कर पा रहे - "मुझे अपने मोह-भंग पर इतना दु:ख नहीं होता - सिर्फ रह-रहकर अपनी बेबसी का एहसास जरूर कोंचता है।"[17]

निर्मल ने इस यात्रा-संस्मरण में प्राग की सांस्कृतिक सम्पन्नता का भी चित्रण किया है। चेक जनता साहित्य, कला, थियेटर फिल्मों में काफी रुचि रखती है। वे लोग थियेटर को बहुत पसंद करते हैं। यहाँ विश्व के प्रसिद्ध नाटककारों के नाटक बराबर खेले जाते हैं। इनकी रंगमंचीय प्रस्तुति में नये-नये प्रयोग भी खूब होते हैं। थियेटर उनकी संस्कृति का

एक अनिवार्य हिस्सा है। निर्मल लिखते हैं - "यहाँ थियेटर जाना अपनी श्रेष्ठता दिखाना नहीं है, न ही एक ऐसी विलास और प्रदर्शन की चीज है, जिसमें केवल अभिजात वर्ग के लोग भाग लेते हैं। वह दैनिक रहन-सहन की संस्कृति का अनिवार्य अंग है, उसी तरह जैसे दूसरे देशों में सिनेमा या फुटबॉल मैच।"[18]

इस समाजवादी देश की सांस्कृतिक रुचि यूरोप के अन्य देशों की भौतिकवादी रुचि से काफी परिष्कृत और स्वस्थ है। यहाँ की संस्कृति को बाज़ार दूषित नहीं कर पाया था, पर धीरे-धीरे आधुनिकता के प्रवेश के साथ यहाँ पर भी बाज़ारू संस्कृति का प्रभाव बढ़ गया। घटिया स्तर के फिल्म और साहित्य ने प्राग के सांस्कृतिक माहौल को दूषित करने का काम किया। निर्मल इस बात पर न सिर्फ क्षोभ प्रकट करते हैं बल्कि प्राग के इस सांस्कृतिक बदलाव का तर्कपूर्ण विश्लेषण भी करते हैं।

निर्मल ने अपने इस यात्रा-संस्मरण में विश्व को पूर्वग्रह रहित होकर देखने की बात उठायी है। किसी देश को ठीक से समझने के लिए अपने सारे भ्रमों को उतारकर रख देना होता है। इंग्लैण्ड में जब वह अँग्रेजों को देखते हैं तो पूर्वग्रह से मुक्त होकर ही। निर्मल के अनुसार हमने अँग्रेजों की छवि एक बदमिजाज दबंग शासक के रूप में बना रखी है। पर वे भी एक साधारण इंसान हैं, इसका परिचय उन्हें निकट से जानने पर होता है। जब तक हमारे और उनके बीच भ्रमों की दूरी रहेगी वे हमारे लिए अपरिचित ही होंगे। और अंग्रेज ही नहीं किसी भी देश के नागरिकों एवं उनकी संस्कृति का वास्तविक परिचय पूर्वग्रहों से छुटकारा पाकर ही होता है। किसी देश को उसकी भाषा और अनुभव से जुड़कर ही समझा जा सकता है। इसी संदर्भ में निर्मल इस बात पर खेद प्रकट करते हैं कि हम भारतीयों ने पश्चिम को ठीक से नहीं समझा है। हमने अब तक यूरोप को अंग्रेजी ज्ञान के माध्यम से जाना है। अँग्रेज हमारे शासक थे बस हम उन्हीं की भाषा सीख कर रह गये। यूरोप में अन्य बहुत सी संस्कृतियाँ और भाषाएँ हैं जिनके बारे में भारतीयों का ज्ञान औसत ही है। विश्व साहित्य की कृतियों का भारत में अभाव, एवं उनके प्रति अज्ञानता, भारतीयों की जड़ता, इन सबने पश्चिम को भारत के लिए एक हौव्वा बना रखा है। निर्मल भारतीयों की

कूप-मण्डूकता की आलोचना करते हुए कहते हैं हम भारतीयों को अपने ज्ञान का दायरा विस्तृत करना चाहिए। साहित्य, कला, थियेटर के प्रति अपनी रुचि परिष्कृत कर यह दायरा बढ़ाया जा सकता है।

निर्मल ने इस यात्रा-संस्मरण में चेक साहित्य के प्रमुख लेखकों का परिचय भी दिया है। गंभीर साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विमर्श की चर्चा से 'हर बारिश में' यात्रा-संस्मरण यूरोप का एक समग्र चित्र प्रस्तुत कर सका है। संक्षेप में निर्मल के दोनों यात्रा-संस्मरण भूगोल से ज्यादा संस्कृति की यात्राएँ हैं। यूरोप की धड़कन उसका मन यह सब निर्मल ने अपनी बिम्बमयी भाषा में जीवंत कर दिया है। और यूरोप की प्रकृति का जादुई सम्मोहन तो यहाँ है ही। इसके साथ ही अपने गृहनगर शिमला की नैसर्गिक सुंदरता का मोहक वर्णन करके निर्मल ने उसे अतिविशिष्ट बना दिया है।

निबंध साहित्य

(क) स्मृति इतिहास और परम्परा

स्मृति निर्मल के सम्पूर्ण साहित्य का बीज बिन्दु है। उनकी कथाएँ स्मृति तत्व से निर्मित तो हैं ही, चिन्तन भी 'स्मृति' केन्द्रित है। निर्मल के निबंधों में स्मृति का विराट विमर्श प्रस्तुत हुआ है। निर्मल स्मृति के वैशिष्ट्य को साहित्य, कला, इतिहास, परम्परा, भारत और यूरोप आदि विभिन्न संदर्भों में प्रस्तुत करते हैं।

स्मृति अतीत का पुनर्सृजन है। वह हमारे वर्तमान की अतीतता है। स्मृति इतिहास की तरह निर्जीव तथ्यों को प्रस्तुत नहीं करती, न ही वह कालक्रमिक ढंग से ब्यौरे प्रस्तुत कर आगे बढ़ जाती है, वह हमारे अतीत को अपने समस्त ऐन्द्रिय बिंबों के साथ उपस्थित करती है। देखा जाय तो इतिहास भी स्मृति है पर जहाँ इतिहास पूरी तरह से बीत जाता है वहीं स्मृति में चेतना बनी रहती है। स्मृति का अपना खुला राज्य है। स्मृति के प्रदेश में जब चाहें तब जा सकते हैं। वहाँ जाने के लिए किसी पासपोर्ट की जरुरत नहीं। यह इतिहास का बन्द गलियारा नहीं है। यहाँ काल की अनिवार्यता नहीं है। यहाँ किसी भी बिन्दु पर

किसी भी कालखण्ड में कभी भी जाया जा सकता है। स्मृति के राज्य में सब कुछ को एक साथ देखा जा सकता है। धूप और चाँदनी को एक साथ अनुभव किया जा सकता है। यहाँ समग्र की पवित्रता को हर क्षण अपने भीतर अनुभव किया जा सकता है। स्मृति परंपरा से हमें जोड़ती है। हमारे साहित्य का सृजन करती है।

निर्मल के लिए भारत स्मृतियों का देश है। यहाँ के मिथक, पुराण, महाकाव्य, रीतिरिवाज, नदी, पहाड़, शहर, कस्बों की गलियाँ, गाँव की पगडंडियां, देवी-देवता सब व्यक्ति की स्मृतियों में धड़कते हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श की विभिन्न अनुभूतियों के साथ। यहाँ सड़क पर चलता हुआ अकेला व्यक्ति अकेला नहीं होता। वह हर पल स्मृतियों के घेरे में रहता है। कितनी ही स्मृतियाँ उसे घेरे हुए हैं - परम्परा, पूर्वजों की याद, तीज-त्यौहार, उत्सव, मेले, तीर्थ यात्राएँ, प्रकृति की हलचल, कितने शहरों-कस्बों के किस्से हैं, गाँव की चौपाले हैं, हवा में गूँजती लोकगीतों की कड़ियाँ हैं।

भारत का भूगोल निर्जीव भूगोल नहीं है। वह स्मृतियों का भूगोल है। जीवंत और स्पंदनशील। स्मृतियों में लगातार धड़कता हुआ भूगोल। यहाँ के नदी, पहाड़, पत्थर, शहर, गाँव किसी न किसी स्मृति से जुड़े हैं। यहाँ भूगोल संस्कृति का स्मृति स्थल बन गया है। निर्मल के शब्दों में - "ये जंगल, पहाड़, नदी-नाले केवल भौगोलिक 'वस्तुएँ' नहीं है। ये वे प्रतीक और रूपक हैं, जिनके सहारे एक धर्म-प्रधान संस्कृति अपने साहित्य के उपादान, अपनी आस्थाओं के आलोक-द्वीप, अपनी मिथक कथाओं की प्राणवत्ता हासिल करती है।"[19]

भारत की संस्कृति प्रकृति के बीच ही पुष्पित-पल्लवित हुई है। यहाँ प्रकृति के उपादान मनुष्य को उसकी सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ते है। परम्परा से उसके रिश्ते को अक्षुण्ण रखते हैं। उसे निरंतरता प्रदान करते हैं। निर्मल के अनुसार, "भारतीय भाषाओं में यदि गंगा, सरस्वती, हिमालय, सागर और अंतरिक्ष के बिंब इतनी गरमाई और गहराई से हमारी काव्यात्मक भावनाओं को झिंझोड़ते हैं तो उसका कारण यह है कि केवल प्रकृति के उपादान न होकर हमारी पौराणिक स्मृतियों के वाहक भी हैं जो किसी समय भारतीयों को

उनके देवी-देवताओं से जोड़ते थे, उनके लौकिक परिवेश को एक तरह की अलौकिक पवित्रता प्रदान करते थे।"[20]

भारत में किसी नदी को स्पर्श करते ही कोई पौराणिक स्मृति कौंध उठती है। गाँव में किसी पेड़ को छूते ही जाने कितने सारे मिथक, बिंब, लोककथाएँ सम्मोहित सी करती अपनी गंध में घेर लेती है। किसी शहर में गुजरते ही अतीत का एक पूरा कालखण्ड आँखों के सामने घूम जाता है। इस बारे में निर्मल लिखते हैं - "हमारे देश का भूगोल भी पौराणिक स्मृतियों में स्पन्दित होता है, गंगा महज एक नदी नहीं, जैसे हिमालय सिर्फ एक पहाड़ नहीं, वाराणसी और वृन्दावन महज शहर नहीं है, मनुष्य का अतीत संग्रहालयों में बन्द नहीं है, न ही उसके देवता यूनानी देवताओं की तरह किसी पौराणिक काल के स्मृति-चिन्ह हैं, मिथक और यथार्थ, पौराणिक स्मृति और वर्तमान जीवन, देवता और मनुष्य आज भी एक साथ रहते हैं, सैकड़ों विश्वासों, आस्थाओं, स्मृतियों और संस्कारों का यह संगम केवल एक ऐसी संस्कृति में सम्भव हो सकता था - जिसमें सम्पूर्ण मनुष्य की परिकल्पना निहित रहती है।"[21]

स्मृति की तीव्रता के कारण ही भारत की सांस्कृतिक विरासत कभी संग्रहालय की वस्तु नहीं बनी। भारतीय अपनी स्मृति में प्रकृति को हमेशा अपने पास अनुभव करते रहे। इस कारण उनका प्रकृति से कभी अलगाव नहीं हुआ। प्रकृति से उनका रिश्ता हर क्षण प्रगाढ़ ही होता रहा। भारत के भूगोल की यह विशिष्टता रही कि उसने हमारे अतीत को वर्तमान से जोड़े रखा। स्मृतियों की वाहक होने के कारण प्रकृति ने परम्परा को हमेशा जीवित रखा। निर्मल के शब्दों में - "भारत महज एक भौगोलिक - राष्ट्रीय इकाई नहीं है - हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ। वह एक सभ्यता का विशिष्ट चिरन्तन बोध भी है, जो तीन हजार वर्ष के अतीत को हमारे अधुनातन वर्तमान से जोड़ता है।"[22]

भारत में परम्परा कभी इतिहास की वस्तु नहीं रही। यहाँ यह एक शाश्वत बोध है जो हर भारतीय की स्मृति में लगातार जीवित है। एक भारतीय का अपनी परम्परा से सम्बन्ध स्मृतियों में निरंतर बना हुआ है। इसी कारण यहाँ परम्परा को संरक्षित करने के

लिए कभी किताबों और पुस्तकालयों की जरूरत नहीं पड़ी। निर्मल लिखते हैं – "यह सभ्यता–बोध यदि इतिहास के असंख्य और असह्य प्रहारों के बावजूद जीवित रहा तो सिर्फ इसलिए कि भारत में आदि–जीवन के दर्शन–सूत्र महज पोथियों के भीतर नहीं – समकालीन भारतीय की स्मृति में प्रवहमान हैं। स्वप्न की तरह हर स्मृति की अपनी बिम्ब–भाषा होती है – वह कहीं से भी उत्प्रेरित हो सकती है, वैदिक ऋचाओं, पौराणिक कथाओं अथवा महाकाव्यों से। यह वैसी ऐतिहासिक समृति नहीं है, जैसी ग्रीस की सभ्यता एक आधुनिक यूरोपवासी के लिए स्मृति है, जिसे वह पुस्तकों अथवा संग्रहालयों में ही याद कर पाता है।"[23]

एक भारतीय को अपनी परम्परा को जोर देकर कभी याद नहीं करना पड़ता। वह तो उसकी स्मृति में इस तरह घुली हुई है जैसे पानी और शक्कर। दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। रोज सोते, उठते, बैठते एक भारतीय अपनी परम्परा के ही साये में रहता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक कोई भी संस्कार हो, रोजमर्रा का कोई काम हो, खेती–किसानी से लेकर व्यापार–रोजगार आदि, कुछ भी। परम्परा एक अदृश्य लय के रूप में उसके भीतर समायी हुई है। समय–समय पर होने वाले मेले–त्यौहार इस अदृश्य लय की डोर को और मजबूत करते रहते हैं। निर्मल के शब्दों में – "भारतीय सभ्यता–बोध कोई बीती हुई याद न होकर आज भी मेंहदी की तरह हर व्यक्ति की जीवन–प्रणाली के कार्य–अनुष्ठानों में रची–बसी है।"[24]

भारतीय परम्परा में हमेशा एक निरंतरता बनी रही। परम्परा का अविरल प्रवाह कभी रुका नहीं। वह कभी मृत नहीं होने पायी। वह भारतीयों की स्मृति में हमेशा जीवित रही। निर्मल के अनुसार, "भारतीय परम्परा का यह विशिष्ट स्वभाव रहा है कि उसमें अतीत और वर्तमान अलग–अलग ऐतिहासिक खंडों में विभाजित नहीं, एक ही काल–प्रवाह के अभिन्न और अन्तरंग अंग है। परम्परा कोई बीते हुए समय की स्मृति नहीं, जिसे संग्रहालय में सुरक्षित रखकर छुटकारा पा लिया जाता है, बल्कि वह बराबर हमारे समकालीन द्वन्द्वों और

अन्तर्द्वन्द्वों में एक नैतिक मापदंड, एक प्रामाणिक कसौटी, अन्तश्चेतना की आवाज़ बनकर हस्तक्षेप करती है।"[25]

परम्परा की इस जीवंतता का कारण उसका किसी एक धर्म प्रतिष्ठान तक सीमित न होना है। वह हमारे सम्पूर्ण जीवन-प्रवाह में अन्तर्निहित है। हमारे जीवन के हर पक्ष से जुड़ी हुई है। जो अविरल प्रवाहित है। परम्परा का यह प्रवाह शताब्दियों से चलती हुई एक तीर्थ यात्रा की तरह है जो बीच-बीच में भले ही थकती रही हो पर खत्म कभी नहीं हुई। सतत प्रवहमान रही। जब-जब यह धारा मंद पड़ी तब-तब इस परम्परा के भीतर किसी कवि-मनीषी ने जन्म लेकर इसकी धारा को एक नयी गति दी। निर्मल के शब्दों में, "वह (भारतीय परम्परा) अपने को किसी एक धर्म-पुस्तक या किसी धर्म-प्रतिष्ठान तक सीमित नहीं रखती, बल्कि हमारे समूचे जीवन-प्रवाह में अन्तर्निहित है। और जब यह प्रवाह किसी ऐतिहासिक दुर्घटनाओं अथवा हमारी अपनी भूलों से कुंठित हुआ है तो स्वयं हमारी परम्परा ने अपने भीतर से कबीर और तुलसीदास, प्रसाद और निराला जैसे कवि-मनीषियों को जन्म दिया है ताकि उनकी काव्य धारा में अपने को परिशोधित करके वह अपने को पुनः प्रवहमान बना सके।"[26]

औपनिवेशिक दासता के समय अंग्रेजों ने भारतीय परम्परा को विकृत करने का काफी प्रयास किया। बहुत हद तक वह अपने इस कार्य में सफल भी रहे। अंग्रेजी सभ्यता के प्रभाव में आकर भारतीय अपनी ही पहचान को झुठलाने लगे। निर्मल इस बारे में लिखते हैं - "दो सौ वर्ष की औपनिवेशिक दासता ने जिन गहन स्तरों पर हमारी मानसिकता, वैचारिक स्वायत्तता, कालबोध और जीवन-शैली को प्रभावित किया है, उसके कारण हम अपनी 'पहचान' के बारे में शंकालु हो गए हैं। हम जो कुछ हैं, उसे भूलकर कुछ और होने का प्रयास करते हैं ... और यह उपक्रम संस्कृति के हर क्षेत्र में होता रहा है।"[27]

भारतीय चिंतकों ने संकट की इस घड़ी में अपनी परम्परा की ओर बार-बार देखा। उन्होंने अपने अतीत को वर्तमान की गति में विन्यस्त करने का प्रयास किया बिना किसी हीनता बोध के। कुछ बुद्धिजीवियों ने उनके इस प्रयास को पुनरुत्थानवादी प्रयास कहा।

निर्मल इस मानसिकता का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं – "भारतीयता की खोज कोई पुनरुत्थानवादी प्रयास न होकर स्वय अपनी चेतना से विस्मृति की धूल पोंछने का प्रयास है .... आधुनिक भारतीय कविता और उपन्यासों में रामायण–महाभारत की स्मृतियों, पौराणिक कथाओं और मिथकों का योगदान इतना महत्वपूर्ण है, क्योंकि ये एक संस्कृति के स्मृति–चिन्ह हैं, जिनके सहारे एक लेखक अपने भीतर के अतीत को अपने वर्तमान से जोड़कर एक ऐसे पैटर्न में एकसूत्रित कर पाता है, जहाँ उसके विशृंखलित अनुभव एक तरह की अर्थवत्ता प्राप्त कर सकें।"[28]

भारतीय कालबोध यूरोपीय कालबोध से बिल्कुल भिन्न है। यूरोपीय सभ्यता इतिहास निर्भर है। वहाँ अतीत और वर्तमान एक दूसरे से अलग है। भारतीय सभ्यता स्मृति निर्भर है। इसी कारण यहाँ अतीत और वर्तमान का स्पष्ट विभाजन नहीं है। यहाँ अतीत वर्तमान में हमेशा स्पंदित होता रहता है। बहुत ही सहज ढंग से। उसे अलग से आरोपित करने की जरूरत नहीं पड़ती। यहाँ परम्परा हमारे लिए इतिहास का विषय नहीं है। वह एक शाश्वत बोध है। निर्मल के शब्दों में – "हमारी मनीषा में यदि इतिहास के बोध का अभाव है तो इसलिए नहीं कि हम अतीत और वर्तमान में होने वाले परिवर्तनों के प्रति कम सजग या संवेदनशील थे, बल्कि इसलिए कि हम एक ऐसी सभ्यता में जीवित रहते हैं जहाँ अतीत और वर्तमान अलग–अलग स्वायत्त खण्डों में विभाजित नहीं है, जैसाकि योरोपीय निवासी अपने भीतर महसूस करता है। एक भारतीय होने के नाते मुझे इसकी चिन्ता नहीं है कि मैं कौन था – जिसे आज अस्मिता की चिन्ता कहा जाता है, क्योंकि मैं एक ऐसे वर्तमान में जीता हूँ जो हमेशा से ही मेरे भीतर मौजूद रहा है – शाश्वत वर्तमान का बोध।"[29]

भारत में परम्परा कभी मृत नहीं हुई। वह वर्तमान में भी जीवित है। एक भारतीय को परम्परा के प्रति कभी सचेत नहीं होना पड़ता, क्योंकि वह तो सहज रूप से ही उसके भीतर मौजूद है। परम्परा को अक्षुण्ण रखने का कार्य स्मृति करती है। स्मृति के कारण ही परम्परा हर भारतीय के मन–प्राण में सहज रूप से रची–बसी है। निर्मल के शब्दों में –

"यही कारण है, हर परंपरा में स्मृति को इतना महत्व दिया गया है - स्मृति जो हमें अपने पूर्वजों की शृंखला के साथ जोड़ती है।"[30]

स्मृति मनुष्य को प्रकृति के साथ उसके आत्मीय रिश्तों और दायित्वबोध की याद दिलाती है। स्मृति के कारण मनुष्य कभी अपने को अकेला नहीं पाता। समग्र के बीच अपनी उपस्थिति पाता है। समग्र का अंश होने का बोध उसे आत्मनिर्वासित होने से बचाता है।

अपनी परम्परा और अतीत से विच्छिन्न होना स्वयं अपनी पहचान को खोना है। यह आत्मविस्मृति मनुष्य की बहुत बड़ी त्रासदी है। स्मृति मनुष्य को उसकी पहचान लौटाती है। स्मृति जब बनी रहेगी हमारी अस्मिता भी बनी रहेगी। स्मृति भंग होते ही हम अपनी परंपरा, अपनी जड़ों से कटकर अपने आप के लिए ही पराये हो जाते हैं। इस बारे में निर्मल लिखते हैं - "अपने अतीत से उन्मूलित होना, जैसा सिमोन-वेल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'नीड फॉर रुट्स' में कहा है, आत्म-उन्मूलन का सबसे अभिशप्त रूप है। वह मनुष्य को उससे खंडित कर देता है, जो उसकी स्मृति है - स्मृति, जो उसे अपने पूर्वजों से जोड़ती है। स्मृति पहचान का वह क्षण है, जो उसकी अस्मिता परिभाषित करती है। आत्म-विस्मृति से अधिक कोई अन्य भयंकर और दयनीय स्थिति नहीं। वह मनुष्यत्व के सबसे पवित्र पहलू को दूषित करती है।"[31]

अतीत की स्मृति अतीत के प्रति मोहाविष्ट होना नहीं है। अतीत का बोध होना और उसके प्रति सम्मोहन होना इन दो स्थितियों में बहुत फर्क है। कुछ बुद्धिजीवियों ने अतीत स्मृति को अतीत के प्रति मोहासक्त होना बताया है। उनके मत में अतीत को याद करना कोरी भावुकता है। निर्मल इस धारणा का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं - "किन्तु अतीत का बोध अतीत के प्रति सम्मोहन या नॉस्टाल्जिया से बहुत भिन्न है। विगत के प्रति सम्मोहन उसी समय उत्पन्न होता है, जब हम परम्परा से विगलित हो जाते हैं। नॉस्टाल्जिया हमेशा उन चीजों से होता है जो हमसे टूटकर दूर छिटक गई हों, स्मृति में हम उसे खोजते हैं, जो हमारे भीतर पहले से ही मौजूद है। परम्परा का रिश्ता स्मृति से है, नॉस्टाल्जिया से नहीं।"[32]

निर्मल भाषा और स्मृति के रिश्ते पर भी विचार करते हैं। भाषा और स्मृति का गहरा संबंध है। भाषा एक देश की जातीय स्मृति की वाहक होती है। भाषा में राष्ट्रीय अस्मिता प्रस्फुटित होती है। शब्द का उच्चारण करते ही उसमें कितनी ही स्मृतियाँ गूँजने लगती हैं। शब्द के साथ एक पूरी संस्कृति ही कौंध उठती है। भाषा के नष्ट होते ही संस्कृति भी खतरे में पड़ जाती है। अंग्रेजों ने भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए इसीलिए भारतीय भाषाओं विशेषकर संस्कृत को नष्ट करने का प्रयास किया। इसके द्वारा वह भारतीयों का उनकी परम्परा से विच्छिन्न कर आत्मविस्मृत करना चाहते थे। वह जानते थे – "एक देश की जातीय अस्मिता को नष्ट करने का सबसे सरल उपाय है – उसकी स्मृति को उन्मूलित करना।"[33] संस्कृत भाषा में भारत की पूरी परम्परा जीवित थी। इसीलिए उन्होंने संस्कृत को अपना निशाना बनाया। इस बारे में निर्मल लिखते हैं – "संस्कृत और भारतीय भाषाओं के भीतर जातीय स्मृतियों की एक ऐसी समृद्ध और विपुल निधि सुरक्षित थी जो एक संजीवनी शक्ति की धारा अतीत से बहकर भारत की वर्तमान चेतना को आप्लावित करती थी। राष्ट्रीयता के बीज इसी चेतना में निहित थे, इसकी चेतावनी भी मैकॉले ने इन शब्दों में दी थी, "हम भारत में पश्चिमी संस्कृति का प्रभुत्व तब तक स्थापित नहीं कर पाएँगे जब तक भारतीय शिक्षा–पद्धति से संस्कृत भाषा को पूरी तरह निष्कासित नहीं कर देते।"[34]

भाषा, कला, साहित्य यह सब मनुष्य की स्मृतियों को सुरक्षित रखते हैं। हर कलाकृति का सृजन मनुष्य की स्मृति का एक नया अध्याय होता है। उसमें मनुष्य और प्रकृति के रिश्तों की कहानी छिपी होती है। कला के सामने होते ही हमारा रुका हुआ अतीत फिर से बहने लगता है। स्मृति इस तरह पुनर्सृजन है और कला इसकी अभिव्यक्ति है। कला से इस महत्व पर निर्मल लिखते हैं – "दरअसल कला मनुष्य के उन स्मृतिखंडों को नष्ट होने से बचाती है जिन्हें इतिहास भविष्य के जोम में जाकर कूड़ेदानी में फेंक देता है – वे स्मृतियाँ जो अतीत को समेटने या हमारे जीने में सहायक होती हैं और जिनके बगैर हम अपने आप से अजनबी बने रहते हैं।"[35]

निर्मल अपने चिंतन में स्मृति, अनुभव और साहित्य के संबंधों पर भी विचार करते हैं। वह कहानी की रचना प्रक्रिया में स्मृति की भूमिका को बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं। एक लेखक को अपने जीवन में रोजाना तरह-तरह के अनुभव होते हैं इनमें से कुछ अनुभव भावों की सघनता के कारण उसके मस्तिष्क पर गहरी छाप छोड़ते हैं। वह उसकी स्मृतियों में अपनी जगह बना लेते हैं। निर्मल के शब्दों में - "एक लेखक को चौबीस घंटों में सोते-जागते सैकड़ों अनुभव होते हैं, किंतु हर अनुभव उसके संवेदन-तंत्र को स्पंदित नहीं करता। वाह्य जगत का केवल वही प्रभाव कलात्मक अनुभव बन पाता है, जो हमारे भीतर अपना एक परिदृश्य रचने में समर्थ होता है। और यह वह तभी कर पाता है, जब वह अनुभव की ऊपरी सतह से नीचे जाकर उसके स्मृति परिवेश में अपनी जगह बना लेता है।"[36] यही स्मृति में रूपांतरित हुआ अनुभव बाद में कहानी बन जाता है। जब अनुभव स्मृति के घेरे में आ जाता है तो कहानी जन्म ले लेती है। स्मृति ही कहानी को संभव बनाती है। निर्मल अपनी कहानियों के रचना-प्रक्रिया के विषय में लिखते हैं - "हवा में उड़ते, आसपास मँडराते अनुभव-खंडों में किसको पकड़ पाता हूँ, किसको छोड़ देता हूँ, किसको महज गुजर जाने देता हूँ - यह महज संयोग पर निर्भर नहीं करता, न ही यह मेरी कलात्मक दक्षता या चालाक पकड़ पर निर्भर करता है, बल्कि जब तक उन अनुभव-खंडों को मेरे भीतर का जादू-मंत्र, अतीत पर गड़े स्मृति-संकेत अपने पास नहीं बुलाते, मैं उनका कोई फायदा नहीं उठा सकता, उनकी कभी कोई कहानी नहीं बनती। जरूरी नहीं कि अगर कोई अनुभव स्मृति के इस घेरे में आ जाते हैं, तो वे सचमुच किसी सार्थक या अच्छी रचना में परिणत हो सकेंगे, किंतु हर कहानी की शुरुआत या उसे शुरु करने की आकांक्षा इस बुलावे के आग्रह-स्मृति द्वारा अनुभव को आमंत्रित करने और अनुभव द्वारा स्मृति का दरवाजा खटखटाने की प्रार्थना से शुरु होती है।"[37]

स्मृति जीवन को समृद्ध करती हैं, उसे पूर्णता देती है। स्मृति व्यक्ति को उसके स्वप्नों से जोड़ती है, उसके आत्म को विस्तार देती है। स्मृति का हर क्षण पहचान का क्षण है। भला स्मृति के बगैर जीवन भी कोई जीवन है। जहाँ आदमी की कोई स्मृति ही नहीं, अपना कोई अतीत नहीं वहाँ कितना विपन्न है वह। स्मृति के बिना जीवन कैसे खाली सा

हो जाता है। आदमी अपने आप से ही अजनबी हो जाता है। इस बारे में निर्मल लिखते हैं – "मैं अक्सर सोचता हूँ कि वे शहर कितने दुर्भागे हैं, जिनके अपने कोई खँडहर नहीं। उनमें रहना उतना ही भयानक अनुभव हो सकता है, जैसे किसी ऐसे व्यक्ति से मिलना, जो अपनी स्मृति खो चुका है, जिसका कोई अतीत नहीं। अगर मुझसे कोई नरक की परिभाषा पूछे तो वह है, हमेशा वर्तमान में रहना, एक अन्तहीन रोशनी, जहाँ कोई छाया नहीं, जहाँ आदमी आँखे खोले रहता है – नींद और स्वप्न और अँधेरे को भूलकर।"[38]

इस तरह निर्मल स्मृति की बहुआयामी भूमिका को प्रस्तुत करते हैं। निर्मल के लिए स्मृति में जहाँ हमारी परम्पराएँ भाषा और कला सुरक्षित हैं। वहीं यह हमें हमारे पूर्वजों से जोड़ती है। हमें पहचान देती है और आत्मविस्मृति से बचाती है। स्मृति ही साहित्य का सृजन संभव करती है।

(ख) आत्म और अन्य की संकल्पना

निर्मल वर्मा का समूचा चिंतन समग्रता के आग्रह पर खड़ा है। समग्रता जो सब कुछ को साथ लेकर चलती है। जहाँ समस्त विश्व मौलिक स्तर पर एक है। जो भीतर है वही बाहर भी है। पशु, पक्षी, पेड़, पौधे, मनुष्य, नदी, पर्वत, चाँद, तारे सबसे एकत्व अनुभव करना क्योंकि वह सब समग्र के अंश है। सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव करना, यह भारतीय सभ्यता का वैशिष्ट्य है। भारतीय सभ्यता आत्म और अन्य के बीच कोई विभाजन नहीं करती। उसका अद्वैत सिद्धांत कहता है – मैं नहीं तू। दूसरे से प्रेम इसलिए करो कि तुम उसमें और वह तुम में है। निर्मल वर्मा भारतीय सभ्यता के इस वैशिष्ट्य को आत्मसात कर अपना विमर्श प्रस्तुत करते हैं। वह अपने चिंतन में विभिन्न कोणों से भारतीय सभ्यता में निहित संलग्नता के सर्वव्यापी बोध की अवधारणा को दिखलाते हैं और इसी आधार पर भारतीय व यूरोपीय सभ्यता के अंतर को रेखांकित करते हैं।

एक सभ्यता का समग्रता बोध क्या होता है, इसे स्पष्ट करते निर्मल कहते हैं – "मेरा अभिप्राय अर्थों में उस तन्तुजाल, उस टेक्सचर से है, जहाँ सब धागे एक समूचे

जीवन की अर्थ व्यवस्था के पैटर्न बुनते हैं, एक का अर्थ दूसरे में खुलता है, दूसरे का अर्थ तीसरे से जुड़ा है - अर्थों की अन्योन्याश्रित व्यवस्था - जिसमें भीतर और बाहर का सम्बन्ध - 'मनुष्य की एकीकृत आत्मछवि और बाहरी जगत की विविध अनन्त छवियाँ एक ही सूत्र में अन्तर्ग्रथित हैं।"[39] भारतीय सभ्यता की बुनावट ऐसी ही है जहाँ विविध छवियाँ एक ही सूत्र में अन्तर्ग्रथित हैं। यहाँ मनुष्य और प्रकृति दो विरोधी सत्ताओं में बंटे न होकर एक ही अद्वैतिक चेतना में अन्तर्निहित है। भारतीय सभ्यता में प्रकृति मनुष्य की सहचर है। उसके जीवन से अभिन्न रूप में जुड़ी है। यहाँ मनुष्य ने कभी प्रकृति के ऊपर शासन नहीं किया वरन उससे एक आत्मीय और जीवंत सम्बन्ध बनाया। भारतीय सभ्यता की इस विशेषता को रेखांकित करते हुए निर्मल कहते हैं - "एक ऐसा सभ्यता-बोध, जिसमें प्रकृति का विराट लीलास्थल स्वयं अपनी चेतना में स्वायत्त है, मनुष्य द्वारा अनुशासित नहीं। पशु, पक्षी, नदी, पहाड़, देवी, देवता, मनुष्य के प्रभुत्व के नीचे नहीं, उसके सान्निध्य में बसेरा करते हैं। उन्हें अपने 'होने' की पवित्रता ऊपर बैठे किसी 'ईश्वर' से नहीं, उस 'ईश्वरीय तत्व' से मिली है, जो स्वयं उनके भीतर विद्यमान है।"[40]

निर्मल के अनुसार "प्राचीन पैगन संस्कृतियों में - जिसमें भारतीय संस्कृति का विशेष स्थान रहा है - धरती पर मनुष्य अकेला वास नहीं करता, वह अनेक जीव-जन्तुओं और देवी-देवताओं के सान्निध्य में प्रकृति के साथ एक आत्मीय सम्बन्ध बनाकर जीवन यापन करता है।"[41]

भारतीय सभ्यता में निहित संलग्नता के सर्वव्यापी बोध की छाया उसके महाकाव्यों और कलाकृतियों पर भी दिखायी देती है। भारतीय सभ्यता में प्रकृति कभी उपभोग की वस्तु नहीं रही। यहाँ उससे जीवंत रिश्ता बनाया गया है। उसकी पवित्रता की रक्षा की गयी है। प्रकृति के अवयवों को मनुष्य ने अपने जैसा ही समझा है। इसके प्रमाण भारतीय काव्य-परम्परा में मौजूद है। निर्मल के अनुसार "प्रकृति उपभोग की वस्तु न होकर एक आन्तरिक पवित्रता प्राप्त कर लेती है, जो भारतीय काव्य-परम्परा का प्रमुख लक्षण है ...प्रकृति ही क्यों, क्या किसी महाकाव्य में पशु, पक्षियों का इतना जीवन्त 'व्यक्तित्व' -

मनुष्यवत, पर मानवीकृत नहीं, उभरकर आता है, जितना वाल्मीकि रामायण में, जहाँ हनुमान, बाली, सुग्रीव, जटायु, काग भुषुंडि की अविस्मरणीय भूमिकाएँ राम-कथा को नया आयाम देती हैं।"[42]

एक ओर यह भारतीय सभ्यता है जिसमें "सब जीव और प्राणी एक-दूसरे में अन्तर्गुम्फित हैं, अन्योन्याश्रित हैं, न केवल वे प्राणी जो प्राणवान हैं, बल्कि वे चीजें भी जो ऊपर से निष्प्राण (Inanimate) दिखायी देती हैं। इस अन्तर्गुम्फित दुनिया में चीजें आदमियों से जुड़ी हैं, आदमी पेड़ों से, पेड़ जानवरों से, जानवर वनस्पति से और वनस्पति आकाश, से बारिश से, हवा से।"[43] वहीं ठीक इसके विपरीत यूरोपीय सभ्यता है जिसने अपना विकास ही 'अन्य' की सत्ता को नकार कर किया है। इस सभ्यता में मनुष्य अपने को सृष्टि के केन्द्र में मानता है और प्रकृति को अपने अधीन एक उपभोग की वस्तु। निर्मल के अनुसार - "यूरोपीय संस्कृति का विकास प्रकृति से अपना पार्थक्य, अपना अलगाव, एक शब्द में कहें, तो उससे अपनी स्वायत्तता प्रतिष्ठित करने के प्रयास में निहित है।"[44]

यूरोपीय संस्कृति आत्मकेन्द्रित है। जबकि भारतीय संस्कृति में आत्मबोध पर जोर दिया गया है। इन दोनों के अंतर को स्पष्ट करते हुए निर्मल कहते हैं - "आत्मबोध अर्थात् जहाँ स्वयं 'आत्म' चिन्तन का विषय बन जाता है - मनुष्य की चेतना को यदि समूची सृष्टि में सर्वोच्च सोपान पर प्रतिष्ठित किया गया है, तो इसलिए कि समूचे जीव-जगत में वही एक ऐसा प्राणी है, जो आत्म-चेतन है। आत्म-चेतना उस आत्म-केन्द्रिता से बहुत भिन्न है, जहाँ मनुष्य अपने को सृष्टि के केन्द्र में स्थापित करता है, जहाँ मनुष्य अपनी कसौटी पर समस्त वस्तुओं को नापता-तौलता है - Man is the Measure of All things इसके विपरीत आत्म-चेतन व्यक्ति स्वयं अपने भीतर के 'आत्म' की प्रकृति का परीक्षण करता है, ताकि वह अपने को स्वयं प्रकृति में संचारित चेतना से सम्पृक्त कर सके। यहाँ जिसे मैं अन्य या दूसरा, या अपने से बाहर देखता हूँ, वह भी उसी चेतना का प्रतीक है, जो मुझमें प्रवाहित होती है।"[45]

आत्म-चेतन और आत्म केन्द्रित का फर्क ही मनुष्य के प्रकृति से उसके रिश्ते का निर्धारण कर देता है। एक आत्मकेन्द्रित व्यक्ति का अहं उसे उसके 'मेरेपन' तक ही सीमित रखता है जबकि आत्म-चेतन व्यक्ति का दायरा बहुत विस्तृत है। आत्म-चेतन व्यक्ति दायित्वों की एक पूरी शृंखला से बंधा है। वह अपने को समस्त विश्व से जुड़ा हुआ पाता है एवं उसके प्रति दायित्व अनुभव करता है। निर्मल के अनुसार "भारतीय परम्परा में मनुष्य का 'आत्म' उसके अहं (इगो) की तुलना में बहुत बृहत्तर है, जो अपने को जीव-जगत की समस्त सत्ताओं से अन्तर्सम्बन्धित पाता है। हर व्यक्ति, अच्छा हो या बुरा, उच्च जाति का हो या निम्न जाति का, राजा हो या प्रजा का साधारण सदस्य-दायित्वों की पूरी शृंखला में बँधा है। वह उस तरह से निजी संकल्प का वाहक नहीं है, जैसे यूरोपीय परम्परा में 'व्यक्ति' की अवधारणा है - अपेक्षाकृत स्वायत्त प्राणी, जो दूसरों के बीच रहता हुआ भी अपना निज सुरक्षित रखता है... एक अहंकेन्द्रित जीवात्मा, जो दूसरों से सम्बन्धित होती हुई भी अपने को कहीं बहुत अधूरी और अरक्षित पाती है।"[46]

जब हम आत्मबोध की बात करते हैं तो इसमें स्वयं के अलावा अन्य का बोध भी जुड़ा रहता है। निर्मल के शब्दों में - "मनुष्य के आत्मबोध में 'अन्य' अनिवार्य रूप से समाहित है ... इसके अभाव में मनुष्य का 'मैं' अपने में एक आत्म-छलना है, मनुष्य के बारे में यह अन्तर्दृष्टि भारतीय परम्परा की एक अनुपम देन रही है।"[47]

भारतीय सभ्यता में 'अन्य' को कभी अपने विरोधी के रूप में नहीं देखा गया। यहाँ 'अन्य' के साथ संलग्नता का अनुभव किया गया है। मनुष्य के दैनिक जीवन में 'अन्य' अनिवार्य रूप से समाहित है। उसके हर क्रिया-कलाप में 'अन्य' उपस्थित रहता है। यहाँ 'अन्य' पराई सत्ता न होकर अपने ही आत्म का विस्तार है। भारतीय सभ्यता में "आत्म और अन्य के बीच भेद को ही आत्म-छलना का कारण बताया गया। जिस संस्कृति में अन्य एक अजनबी, अनात्मीय और पराई सत्ता न रहकर स्वयं का ही एक बृहत्तर रूप माना जाता रहा हो, वहाँ अन्य के होने से अपने को कोई खतरा नहीं जान पड़ता, वह कोई विरोधी शत्रु तत्व नहीं है, जिस पर अपने को आरोपित करने से ही सुरक्षा का आभास

मिलता हो, या उसे अपने रूप में ढालने से (जो धर्म परिवर्तन में परिलक्षित होता है) ही अपने अस्तित्व की रक्षा की जाती हो। अब अन्य सिर्फ एक वस्तु, महज एक ऑब्जेक्ट नहीं रह जाता, वह आत्म के 'डिस्कोर्स' का ही एक अंग बन जाता है।"[48]

दूसरी ओर यूरोपीय संस्कृति है जो आत्मकेन्द्रित रही है। इस संस्कृति में मनुष्य समस्त सृष्टि के केन्द्र में है। यहाँ अन्य की सत्ता उसके उपभोग के लिए है। वह अन्य के प्रति अपना कोई दायित्व नहीं मानता। वह अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए अन्य को नष्ट कर देने में कोई बुराई नहीं समझता। निर्मल भारतीय और यूरोपीय सभ्यता के अंतर को हेगल और विवेकानन्द के हवाले से स्पष्ट करते हुए कहते हैं - "हेगल ने जहाँ व्यक्ति की अस्मिता दूसरे के विरुद्ध - अन्य के खिलाफ - परिभाषित की थी, वहाँ उसके विपरीत सम्बन्धों की दुनिया में विवेकानन्द बिल्कुल दूसरे कोण से व्यक्ति को आँकते हैं, "व्यक्ति का जीवन सम्पूर्ण के जीवन में बसा है, उसका सुख सम्पूर्ण के सुख से निहित है, सम्पूर्ण के बिना व्यक्ति की परिकल्पना असम्भव है। यह ऐसा शाश्वत सत्य है, जिसकी आधार-शिला पर समूचा विश्व टीका है। इस अनन्त सम्पूर्ण की ओर धीरे-धीरे अग्रसर होना, उसके प्रति अगाध सहानुभूति और समानता महसूस करना, उसके सुख में सुखी और उसकी यातना में दुखी अनुभव करना - यही व्यक्ति का एमात्र कर्त्तव्य है। यह केवल उसका कर्त्तव्य ही नहीं है, बल्कि उसके उल्लंघन में उसकी मृत्यु है।"[49]

संक्षेप में अन्य के सुख में सुखी होना और अन्य के दुख में दुखी होना यह भारतीय सभ्यता का मूल चरित्र है। यूरोपीय व्यक्ति की आत्मचेतना हमेशा दूसरे को नष्ट करके ही अपने को प्रतिष्ठित करती रही है। उससे उसका अहं तुष्ट होता रहा है। "इसके बिल्कुल विपरीत भारतीय चेतना दूसरों के विरुद्ध नहीं दूसरों के साथ ऐसे अनुष्ठानों, मिथकों, प्रतीकों और विश्वासों के माध्यम से जुड़ी है जिसे वह समाज के अन्य लोगों के साथ एक स्मृति के द्वारा साझा करता है। समाज के लोगों की यह सामान्य स्मृति हर व्यक्ति के आत्मन् और (सेल्फ) की सीमाओं को बढ़ा देती है। इसलिए एक यूरोपियन का अहम् एक भारतीय के सेल्फ से बहुत अलग है, उसमें दूसरे के प्रति विरोध नहीं बल्कि दूसरे ही उसके अस्तित्व उसके 'मैं' में शामिल हैं।"[50]

यूरोपीय सभ्यता ने अन्य को नष्ट कर ही अपना विकास किया। पर यह विकास उसके लिए आत्म छलना ही साबित हुई। अन्य को नष्ट कर एक ओर यूरोपीय मनुष्य अलग-थलग पड़ गया, वहीं प्रकृति के विनाश से पर्यावरण का भीषण संकट पैदा हुआ। 'अन्य' को रौंदते हुए प्रगति की लालसा ने समूची मानव सभ्यता को आत्मसंहार के रास्ते पर ले जाकर खड़ा कर दिया। इसी मनोवृत्ति ने बड़े-बड़े युद्धों को जन्म दिया जिसका परिणाम आज सारा विश्व भुगत रहा है। निर्मल इस बारे में लिखते हैं - "आज की सभ्यता का संकट और प्रदूषण उस ऐतिहासिक क्षण से शुरु हो गया, जब मनुष्य प्रकृति से अलग छिटक गया था - यह मानव-सभ्यता और मनुष्य की यातना का समान स्रोत है, जो आज हमें घसीटकर 'अणु युग' तक ले आया है।"[51]

अहंकेन्द्रित यूरोपीय सभ्यता प्रगति के नाम पर 'अन्य' को निर्ममतापूर्वक नष्ट करती रही। औद्योगिक क्रान्ति के दौर में उसने अनेक जातियों और कबीलों को उनके निवास स्थान से उन्मूलित किया। बड़े पैमाने पर उनका संहार हुआ। ये जातियाँ अपनी जड़ों से कटकर अपने अस्तित्व को ही खो बैठीं। औद्योगिक क्रान्ति का यह दुष्परिणाम भारत में भी दिखायी दिया। यहाँ भी प्रकृति और मनुष्य का सहज रिश्ता प्रभावित हुआ। निर्मल कहते हैं औपनिवेशिक शासन के समय भारत ने संलग्नता के सर्वव्यापी बोध को खो दिया। यूरोपीय सभ्यता की देखा देखी में भारत में भी अन्य को नष्ट करने का अभियान शुरु किया गया। बड़ी तादाद में जंगलों को उजाड़ा गया। अनेक जातियाँ अपने आवास स्थल से विस्थापित हुई। किसान को उसकी भूमि से उन्मूलित कर खेतिहर मजदूर में बदल दिया गया। मजदूर बड़े शहरों में पलायन को मजबूर हुए। विकास के नाम पर एक सभ्यता को किस तरह नष्ट किया जाता है इसका उदाहरण वह सिंगरौली कस्बे की त्रासदी के द्वारा देते हैं। सिंगरौली कस्बे में विकास के नाम पर न सिर्फ वहाँ की प्रकृति को नष्ट किया गया बल्कि वहाँ के निवासियों को भी विस्थापित किया गया। निर्मल की इस बात की गहरी पीड़ा है कि जहाँ पहले सिंगरौली में मनुष्य और प्रकृति के इतने आत्मीय और जीवंत संबंध थे, उसे आज विकास की अंधी दौड़ में निर्ममतापूर्वक रौंद दिया जा रहा है - "विश्वास नहीं होता कि आने वाले वर्षों में सब कुछ मटियामेट हो जायेगा - झोंपड़े, खेत, ढोर, आम के पेड़

– सब एक गन्दी, 'आधुनिक' औद्योगिक कॉलोनी की ईंटों के नीचे दब जायेगा – और ये हँसती–मुस्कराती औरतें, भोपाल, जबलपुर, या बैढन की सड़कों पर पत्थर कूटती दिखायी देंगी।"[52]

विकास की अंधी दौड़ सिर्फ प्रकृति का ही विनाश नहीं करती, वह मनुष्य और प्रकृति के सहज रिश्ते को भी खत्म कर देती है। मनुष्य अपनी परम्पराओं, मिथकों, प्रतीकों, स्मृतियों से कटकर आत्मनिर्वासित हो जाता है। मनुष्य की स्मृतियाँ और परम्पराएँ प्रकृति के बीच ही सांस लेती है। जब प्रकृति नष्ट हो जायेगी तब स्मृतियाँ और परम्पराएँ भी नहीं रहेंगी। जैसे एक पेड़ के खत्म हो जाने पर उस पर पलने वाले पक्षियों का जीवन भी संकट में पड़ जाता है। निर्मल इस बारे में कहते हैं – "जब एक नदी सूख जाती है, एक गाँव उजड़ जाता है, एक जंगल नष्ट हो जाता है, तो ये महज आर्थिक और पर्यावरण की (Ecological) दुर्घटनाएँ नहीं हैं, वे मनुष्य की संस्कृति पर घातक और मर्मभेदी घाव छोड़ जाती हैं क्योंकि उनसे पवित्रता का परिवेश नष्ट हो जाता है जिसके भीतर ही एक संस्कृति अपने अर्थों को संयोजित करती है, अपनी अन्तर्दृष्टियों को एक पैटर्न, एक दर्शन में बांधती है जिनके आधार पर ही मनुष्य अपनी आत्मा का सम्बन्ध बाहर की सृष्टि से जोड़ पाता है। जिस क्षण इस सम्बन्ध को ठेस पहुँचती है, उसी क्षण एक दुनिया, एक दृष्टि नष्ट हो जाती है।"[53]

संक्षेप में – मनुष्यता का वास्तविक विकास आत्म और अन्य के एकत्व में ही निहित है। आत्म और अन्य का एकत्व न केवल मनुष्य को आत्मनिर्वासित होने से बचाता है बल्कि प्रकृति को सुरक्षित रखते हुए मनुष्य स्वयं अपने जीवन को गरिमापूर्ण अर्थ देता है। भारतीय सभ्यता इस दृष्टि से विश्व में अनुपम है, जो यह मानती है दूसरे के सुख में ही वास्तविक सुख है। आधुनिक युग के पर्यावरणीय संकट और युद्धग्रस्त विश्व का एकमात्र समाधान आत्म और अन्य के एकत्व में ही संभव है। यह भावना मनुष्य को विश्व के समस्त प्राणियों से एक कर देती है और संवाद के नित नये द्वार खोलती है।

(ग) भारत और यूरोप

भारत निर्मल के लिए स्मृतियों, परम्पराओं और मिथकों का ऐसा पावन देश है जहाँ जड़ पदार्थों में भी जीवन देखा जाता है। जहाँ सम्पूर्ण प्रकृति मनुष्य के साथ बहुत ही आत्मीय और जीवंत रूप में जुड़ी है। यहाँ नदी, पहाड़, जंगल महज भूगोल नहीं जीवंत स्मृतियाँ है, जिनके साथ बातें करते हुए भारतीय जीवन सांस लेता है। यहाँ प्रकृति मनुष्य की विरोधी नहीं, उसकी सहचर है। यहाँ अगर मनुष्य श्रेष्ठ है तो इस अर्थ में कि उसे समग्र सत्ता के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाना है। यहाँ की परम्परा कभी संग्रहालय की वस्तु नहीं रही। वह भारतीय जीवन में रक्त की तरह प्रवाहित है। भारत, जहाँ परम्परा इतिहास नहीं एक शाश्वत बोध है। यह बात निर्मल को बहुत अभिभूत करती है। भारत के बरक्स वह यूरोप को देखते हैं - एक अहंकेन्द्रित सभ्यता जिसने अपना विकास ही अन्य को नष्ट करके किया है। यूरोप में आत्म और अन्य को नष्ट करके किया है। यूरोप में आत्म और अन्य के अलगाव ने किस तरह वहाँ की सभ्यता को युद्धग्रस्त किया है और वहाँ पर्यावरण, आत्मनिर्वासन, अकेलेपन का संकट खड़ा किया है, इसे वह अपने निबंधों में प्रमुखता से उठाते हैं। वह अपने निबंधों में यूरोप की अहंकेन्द्रित सभ्यता के अन्तर्विरोध और संकट का वस्तुपरक विश्लेषण करते हैं। निर्मल भारतीय सभ्यता के वैशिष्ट्य पर मुग्ध ही नहीं रहते उसके भी अन्तर्विरोधों पर चिंतन करते हैं। निर्मल काफी लम्बे समय तक यूरोप रहे। वहाँ से लौटकर भारत आने पर उन्होंने पाया दो सौ वर्षों के औपनिवेशिक शासन के दौरान भारत ने अपनी विशिष्टता को खो दिया है। भारतीय चित्त के संलग्नता के बोध में दरार आ चुका है, जिसका प्रभाव वह भारत के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक जीवन पर साफ देखते हैं। अपनी परम्परा से कटकर भारतीयों में किस तरह परायेपन और आत्मनिर्वासन की भावना आ गयी है, यह बात उन्हें बहुत पीड़ित करती है। अपने निबंधों में उन्होंने इस पीड़ा को व्यक्त किया है।

भारत ने कभी अपने प्रसार के लिए दूसरे देशों को नष्ट नहीं किया। न तो उसने कभी धर्मांतरण की आकांक्षा से कभी किसी दूसरे देश में हस्तक्षेप किया। न ही किसी

पराए देश को जीतने की इच्छा से उस पर आक्रमण किया। आत्म और अन्य का एकत्व और समग्र की पवित्रता उसका चरित्र है। इस चरित्र के कारण ही भारत भूमि की गोद में अनेक जातियाँ, नस्लें साथ-साथ पनप सकीं। निर्मल भारत के इस वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए कहते हैं - "भारतीय सभ्यता पश्चिम के राष्ट्रों से सर्वथा भिन्न है, जिन्होंने अनेक छोटी जातियों, उपजातियों और लोक-संस्कृतियों को नष्ट करके ही अपनी राष्ट्रीय एकता स्थापित की। आज के युग में भारत की एक ऐसा देश है, जिसकी राष्ट्रीय अस्मिता दूसरों के विनाश पर नहीं अपनी सभ्यता के विविध, बहुआयामी चरित्र से बनी है।"[54]

भारत में सदियों से विभिन्न जातियाँ और सम्प्रदाय अपनी स्मृतियों को एक दूसरे से साझा करती रही हैं। स्मृतियों की इस आपसी साझेदारी के कारण ही विभिन्न सम्प्रदायों में एकता कायम रह सकी। निर्मल के अनुसार - "शायद ही कोई ऐसा देश हो, जहाँ इतनी जातियाँ, उपजातियाँ, धर्म-सम्प्रदाय और भाषा-समुदाय अपनी-अपनी विशिष्टताओं के साथ एक-दूसरे के साथ इतने गहरे सहज और आत्मीय स्तर पर लगाव न महसूस करते हों। यह लगाव असम्भव होता, यदि इतिहास के विभिन्न चरणों में इन जातियों और धर्म-सम्प्रदायों की स्मृतियाँ एक-दूसरे के अन्तर्ग्रथित न होतीं।"[55]

भारत का सभ्यता-बोध कभी अतीत की वस्तु नहीं रहा। यह शाश्वत बोध है जो हमारे अतीत को वर्तमान से जोड़े हुए है। इसकी शाश्वतता के कारण ही हमारे यहाँ परम्परा कभी खंडित नहीं हुई। परम्परा का यह अविरल प्रवाह ही भारतीय संस्कृति की जीवंतता का कारण है। निर्मल लिखते हैं - "भारतीय संस्कृति सिर्फ अतीत का अवशेष न होकर एक जीवन्त समाज-व्यवस्था में प्रवहमान थी और यह प्रवाह विशिष्ट भौगोलिक परिवेश में दो हजार वर्ष की ऐतिहासिक निरन्तरता में विराजमान था। इतिहास के प्रहारों द्वारा क्षत-विक्षत, जगह-जगह रुँधा हुआ, भ्रष्ट, मैला, विकृत-फिर भी क्रियाशील, अपने बिम्बों और प्रतीकों में प्राणवान, लाखों लोगों के जीवन में रचा-बसा, उनके जीवन और मृत्यु को लगातार एक अर्थवत्ता देता हुआ....।"[56]

भारत का सभ्यताबोध क्या है – इसे स्पष्ट करते हुए निर्मल कहते हैं – "वह सभ्यता बोध और कुछ नहीं ज्ञान, अनुभव और परम्पराओं का वह संचित विवेक है, जिसके आधार पर हम सदियों से अच्छे को बुरे से, 'न्याय को अन्याय से, धर्म को अधर्म से, पवित्र को पाप से अलग करते आए हैं ... मर्यादाओं की एक आचार संहिता, जिसने भारतीय सभ्यता को एक ऐसा विशिष्ट चरित्र प्रदान किया है, जो इतिहास के दुर्दिनों से मलिन और दूषित भले हुआ हो – नष्ट कभी नहीं हुआ।"[57]

भारत ने अपने इस विशिष्ट सभ्यता बोध के कारण ही कभी अन्य के ऊपर शासन नहीं किया। कभी किसी जाति, देश, को अपने अधीन नहीं बनाया। हिरोशिमा, नागासाकी, चेकोस्लोवाकिया बनाना भारत का चरित्र नहीं रहा। फासिज्म और सर्वसत्तावादी विचारधाराओं का उसने हमेशा विरोध किया। वह इस मायने में यूरोप की दंभपूर्ण, अहंकेन्द्रित, अलगाववादी सभ्यता से बिल्कुल भिन्न थी। भारत ने कभी अपने को सृष्टि के केन्द्र में नहीं रखा। उसने हमेशा अपने को समग्र के एक अंश के रूप में प्रस्तुत किया। जिसकी यह सोच थी समग्र के सुख में ही वास्तविक सुख है। निर्मल के शब्दों में – "अन्य पूर्वी संस्कृतियों की तरह भारत में भी मनुष्य को सृष्टि का सम्पूर्ण स्वामी नहीं माना जाता, बल्कि तमाम जीवित प्राणियों में महज एक प्राणी स्वीकारा जाता है।"[58] और यह प्राणी धरती पर अकेला नहीं है। सम्पूर्ण प्रकृति उसके साथ है। जिसके साथ वह दायित्वों की एक पूरी शृंखला से बंधा है।

भारतीयों का यह विशिष्ट सभ्यता बोध दो सौ वर्षों के औपनिवेशिक दासता के समय बुरी तरह खंडित हुआ। यूरोपियों ने भारत की स्मृतियों और परम्पराओं को खंडित करने का अभियान चलाया। इसके पीछे उनकी मंशा थी भारतीयों को आत्मविस्मृत करके आसानी से उनपर अपना शासन चलाया जा सके। निर्मल के अनुसार – "भारत में यूरोप का उपनिवेशवाद सिर्फ भौगोलिक सीमाओं तक सीमित नहीं था, बल्कि उसकी जड़े कहीं गहरे जाती थीं। इसने भारत के काल–बोध को भी अपना निजी उपनिवेश बनाने की चेष्टा की। उन्होंने भारत के वर्तमान को अतीत के विखंडन के रूप में देखा और वह अतीत,

भले ही गौरवपूर्ण रहा हो, अब मृत और बीत चुकी चीज मान लिया गया।"[59] इस तरह यूरोप ने भारतीय मानस को भी अपना गुलाम बना लिया। अपनी सभ्यता की विकृतियों को भारत के ऊपर योजनाबद्ध ढंग से थोपने का कार्य शुरु किया। यूरोप के भुलावे में आकर भारतीय जनमानस अपनी परम्पराओं से कटने लगा। भारत की एकता छिन्न-भिन्न हो गयी। भारत का समग्रता बोध बुरी तरह से प्रभावित हुआ। यहाँ आत्म और अन्य के बीच गहरी खाई पैदा हो गयी। भारतीय अपने विशिष्ट सभ्यताबोध से दूरे होते चले गये। निर्मल लिखते हैं - "उनकी शासन-व्यवस्था ने भारत की समूची सभ्यता के तन्तु जाल को अलग-अलग धागों में बिखेर दिया ... अब हम एक सांस्कृतिक परम्परा के उत्तराधिकारी नहीं रहे, उसकी जगह अब हम एक ऐसे 'इतिहास के नागरिक' बन गए, जहाँ एक तरफ हम प्रजा थे, दूसरी तरफ अलग-अलग सम्प्रदायों और जातियों में विभक्त आदिवासी, हिन्दु-मुसलमान और सिख। अंग्रेजों ने अपने प्रशासन-तन्त्र द्वारा भारत में एकता स्थापित नहीं की बल्कि उस समाज की अदृश्य एकता को खंडित किया जो उनके आक्रमण से पूर्व भारतीय सभ्यता में पहले से ही मौजूद थी।"[60]

यूरोप के सम्पर्क में आने पर भारत में एक विचित्र स्थिति पैदा हुई। भारतीय चेतना दो पाटों में बंट गई। एक ओर यहाँ के कट्टर परम्परावादी थे जो भारत की मुक्ति अपने अतीत में देख रहे थे। दूसरी ओर आधुनिक बुद्धिजीवी थे जो भारत के विकास के लिए यूरोपीय मॉडल अपनाने पर जोर दे रहे थे। इस बारे में निर्मल लिखते हैं - "यूरोप से प्रतिश्रुत होने पर भारतीय मानस में जो फाँक आई वह आईने की उस दरार की तरह थी जिसके एक भाग में उस अतीत का आदर्शीकृत प्रतिबिम्ब था, जो हमेशा के लिए खो चुका था और दूसरे भाग में यूरोप की वह विकृत छवि थी, जो भारत के भावी निर्माण के लिए एक मॉडल की तरह उपयोग में लाई जाने वाली थी।"[61]

इस तरह भारत में दो ध्रुव बन गए। एक ध्रुव सम्प्रदायग्रस्त संगठनों का था जिसके लिए भारत का अतीत सर्वोपरि था। दूसरा ध्रुव आधुनिक बुद्धिजीवियों का था जिसके लिए यूरोप का भविष्य ही सर्वोपरि था। "इन दोनों के बीच भारतीय संस्कृति का परम्परा-बोध

ही जो अतीत को प्रासंगिक बनाता है और भविष्य को अर्थपूर्ण दिशा देता है – धीरे–धीरे लुप्त होता गया।"[62] यहाँ समस्या सचमुच विकट होती अगर भारत में इन दो परस्पर विरोधी धाराओं के बीच एक तीसरा विकल्प न होता। यह तीसरा विकल्प निर्मल रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, अरविन्द महर्षि रमण, गांधी को मानते हैं। इनमे वह गांधी के विचारों से खासे प्रभावित हैं। निर्मल लिखते हैं – "इस विकल्प का प्रेरणास्रोत न पश्चिम की संकीर्ण राष्ट्रीय भावना अथवा राज्य–व्यवस्था थी, न भारतीय इतिहास के किसी विशेष अतीत–खंड–हिन्दु या मुस्लिम राज्य की कपोल–कल्पना–बल्कि उसकी जड़े सीधे–सीधे भारतीय परम्परा के अखंडित और समग्र आत्म–बोध में जाती थीं।"[63]

इन पंक्तियों से निर्मल के स्वयं के वैचारिक दृष्टिकोण की पारदर्शिता झलकती है। जाहिर है वह किसी संकीर्ण विचारधारा से नहीं बंधे है। उनमें न तो अतीत के गौरवगान के नाम पर किसी तरह की साम्प्रदायिक कट्टरता है न तो आधुनिक बुद्धिजीवियों की तरह अपनी परम्परा को झुठलाने की भावना। वह भारत के संकट का समाधान संलग्नता के सर्वव्यापी बोध की अवधारणा में देखते हैं। यह अवधारणा जितनी भारत के लिए उपयोगी है उतनी ही पश्चिम के लिए भी।

पश्चिम की अहंकेन्द्रित, आक्रामक, दम्भी, स्वार्थ लोलुप सभ्यता ने विकास के नाम पर समूची मानवीय चेतना को संकट में डाल दिया है। निर्मल के मत में इस समस्या का एक मात्र हल भारतीय संस्कृति ही दे सकती है। निर्मल के शब्दों में "भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में, जहाँ पश्चिमी सभ्यता ने लगभग समूची मानवीय चेतना को स्वार्थग्रस्त, सुविधाभोगी मूल्यों द्वारा आविष्ट कर लिया है, भारतीय संस्कृति ही मेरे विचार में एकमात्र ऐसी वैकल्पिक दृष्टि प्रस्तुत कर सकती है, जिसके आलोक में मनुष्य अपनी उन अन्तहित सम्भावनाओं को उजागर कर सके, जो तेजी से विलुप्त होती जा रही हैं।"[64]

यूरोप में भारतीय मानस के संलग्नता के सर्वव्यापी बोध को काफी हद तक खंडित करने का कार्य किया। पर इस सबके बावजूद भी भारत अपने विशिष्ट सभ्यता बोध को बचाये रख सका। अपनी परम्परा से गहरा जुड़ाव और परम्परा की सतत प्रवहमानता ने

भारत को कभी पूरी तरह से टूटने नहीं दिया। इसकी आन्तरिक संरचना इतनी मजबूत थी कि इतिहास के तमाम प्रहारों के बाद भी वह अपने जीवन मूल्यों को कायम रख सकी। भारत के भीतर कभी भी अन्य को नष्ट करने की भावना नहीं पैदा हुई। निर्मल के अनुसार – "भारतीय संस्कृति में आज भी – समस्त विकृतियों के बावजूद वे तत्व मौजूद हैं, जिनके रहते मनुष्य को कभी इतनी स्पर्धा ओर अहंकेन्द्रित अभिमान नहीं हुआ कि प्रगति की लालसा में वह उस सृष्टि का ही संहार कर दे, जिसमें मनुष्य ने न केवल दूसरे प्राणियों से, बल्कि अपने भौगोलिक परिवेश से नाता जोड़ा है। दरअसल इस नाते में ही मनुष्य ने अपने को पहचाना है, संस्कृति का जन्म ही 'मैं और अन्य' की इस रहस्यमय पवित्र और उत्सुक पहचान के बीच में हुआ है जब मनुष्य अपने अहम् की खातिर अन्य को नष्ट कर देता है, तो उसका 'मैं' भी सर्वथा अर्थहीन मूल्यहीन गौरवहीन हो जाता है।"[65]

'मैं' की सार्थकता 'अन्य' के अस्तित्व के साथ ही है। 'अन्य' के साथ उसका जितना ही सौहार्दपूर्ण और आत्मीय रिश्ता होगा उतना ही उसका व्यक्तित्व गरिमापूर्ण होगा। निर्मल कहते हैं भारत के इस विशिष्ट सभ्यता बोध को बचाये रखना हम सब की जिम्मेदारी है। आधुनिकता की आंधी समग्र की पवित्रता को नष्ट कर रही है। निश्चय ही यह चिंता का विषय है कि "पिछले दो सौ वर्षों में एक भारतीय जिस अनुपात में आधुनिक होता गया है, उसी अनुपात में सम्पूर्णता का यह संस्कार हमारे जीवन में धुँधला और मलिन पड़ता गया है।"[66] यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने अहम से ऊपर उठकर समग्र की पवित्रता की रक्षा करें। इसी में समस्त विश्व का कल्याण है।

(घ) साहित्य और कला के प्रश्न

निर्मल अपने निबंधों में साहित्य और कला की स्वायत्तता और पवित्रता का प्रश्न बार-बार उठाते हैं। निर्मल किसी कलाकृति को उसकी अपनी शर्तों पर परखने की बात करते हैं। उनका मानना है कलाकार को किसी खास विचारधारा का गुलाम नहीं होना चाहिए। कला के प्रति स्वयं की अन्तर्दृष्टि विकसित करनी चाहिए जो पूर्वग्रहों से मुक्त हो। वह इस बात पर चिंता जाहिर करते हैं कि हम कलाकृति के पास नहीं जाते, उससे सीधा

संवाद नहीं करते। एक दूरी सी बनी रहती है। आलोचक जो दिखलाना चाहता है वही हम देखते हैं। शब्द, जिसमें साहित्य रूप लेता है आलोचक उसी के प्रति ही अवहेलना का भाव दिखाता है। यह बात निर्मल को बहुत क्षुब्ध करती है। निर्मल कला में समग्रता की बात उठाते हैं। भारतीय महाकाव्य और रेणु उनके प्रिय इसलिए हैं क्योंकि वह समग्रता का साहित्य है। जीवन के सभी रंग चटख, सुर्ख, उदास, धूसर सभी उसमें मिल जाते हैं इसमें आत्म और प्रकृति का आत्मीय संवाद है। इस साहित्य में निहित सम्पूर्णता का भाव ही निर्मल का अभीष्ट है।

निर्मल कलाकृति का मूल्यांकन उसके आंतरिक तत्वों के आधार पर करने की बात करते हैं। किसी बाहरी तत्व के आधार पर नहीं। निर्मल के मत में – "एक बार सृजन-प्रक्रिया के समाप्त हो जाने के बाद जिस कलाकृति का जन्म होता है, वह अपने में सम्पूर्ण और अन्तिम है। उसे केवल उसी में निहित तत्वों के आधार पर आँका जा सकता है, इसे शायद वे समीक्षक नहीं समझेंगे, जिनके लिए कला-कृति महज एक आईना है – ठोस, स्वतन्त्र सत्ता नहीं, जो अपने में सम्पूर्ण है।"[67]

कोई भी कलाकृति जितना ही जबरन थोपे गये विचारधाराओं, सत्ता की आकांक्षाओं से मुक्त होगी उतना ही वह अपने में शुद्ध और पवित्र होगी। विचारधाराओं को जबरदस्ती कलाकृति पर लादकर हम उसके सत्य को नष्ट कर देते हैं। निर्मल के अनुसार – "कोई भी कलाकृति अपनी शुद्ध पवित्रता में ही सबसे अधिक आलोचनात्मक हो सकती है। जिस हद तक सृजन-शक्ति समाज के बाहरी खूंटों से समाजशास्त्र और सैद्धान्तिक आग्रहों की 'छद्म चेतना' से मुक्त होती जाएगी, उस हद तक ही वे सार्थक आलोचनात्मक चेतना की वाहक बन सकेगी। दूसरे शब्दों में – वही कला, जो किसी विचार का यन्त्र न हो, सबसे अधिक प्रखर वैचारिक यन्त्र बन जाती है।"[68]

साहित्य सत्य पाने का माध्यम न होकर अपने में स्वयं एक सत्य है। यह सत्य जिस भाषा में रूपायित होता है हम उसी की सबसे अधिक उपेक्षा करते हैं। निराला, कबीर, प्रेमचंद, मुक्तिबोध आदि ने जिस शब्द की साधना द्वारा अपने युग के सत्य को प्रकट किया

है उसे ही आलोचक कितना उपेक्षित करता है। भाषा की बात करने वाले को बड़ी आसानी से रूपवादी, कलावादी आदि कह दिया जाता है। निर्मल इस बात पर क्षोभ प्रकट करते हुए कहते हैं – "यह कहते हुए दुख होता है कि जिस भाषा में हमारे साहित्य का सृजन होता है जिसके माध्यम से एक साहित्यिक कृति अपना वैशिष्ट्य प्राप्त करती है, हममें से अधिकांश अपनी उसी हिन्दी भाषा के प्रति उदासीन और असावधान रहते हैं और सोचते हैं कि भाषा के बारे में सोचना एक कलावादी विलास है। यह वैसी ही दृष्टि है कि कोई मोटर में सैर करना चाहे पर मोटर के भीतर की मशीनरी को मैला-कुचैला रखे और उस पर ध्यान न दे।"[69]

कला मनुष्य को उसकी स्मृतियों, परम्पराओं से जोड़ती है। वह समग्र से उसके रिश्ते को मजबूत बनाती है। हर कलाकृति का सृजन मनुष्य और समग्र के संबंधों की प्रगाढ़ता का एक नया अध्याय है। कला बार-बार मनुष्य को प्रकृति से उसके पुराने रिश्तों की याद दिलाती है। उस सर्वात्म बोध की याद जिसे मनुष्य विकास की दौड़ में भूलता जा रहा है। इस तरह कला और साहित्य मनुष्य को आत्मनिर्वासन से बचाते हैं। निर्मल के शब्दों में – "वह (कला) हमें बार-बार उस खोए हुए सम्बन्ध की याद दिलाता है, जब मनुष्य प्रकृति से विलगित नहीं हुआ था, जहाँ मनुष्य और मनुष्येतर के बीच वह खाई नहीं खुली थी, जिसके अँधेरे में मनुष्य की आत्मा अपने को इतना अनाथ पाती है – और प्रकृति अपने को इतना आत्मशून्य। प्रकृति का यह मौन और भाषा की वासना, जो इस मौन को शब्द देती हुई भी उसकी प्रकृति को अक्षुण्ण रखती है – वह अतिमानवीय सत्य है, जो कलाकृति के भीतर एक लौ की तरह जलता रहता है।"[70]

साहित्य और कला मनुष्य को उसके खोये हुए आत्म से साक्षात्कार कराते हैं। उसे आत्मविस्मृति से उबारते हैं। कला की रोशनी में मनुष्य अपने को पहचानता है। निर्मल कला का सत्य ही मनुष्य को उसकी स्मृति के पास ले जाने में मानते हैं। वह लिखते हैं – "कलाकृति का सत्य – यदि उसका कोई सत्य हो सकता है – तो वह मनुष्य को उसकी स्मृति में लौटाना है। स्मृति का यह लोक कोई 'स्वप्न लोक' नहीं है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य

अपनी स्थिति को भूल जाता हैं उल्टे यह उस खोई हुई आत्मचेतना को प्राप्त करना है, जिसे इतिहास ने धूमिल कर दिया था, जहाँ पहुँचकर ही वह अपनी वर्तमान मानवीय अवस्था की घोर दीन-दरिद्रता, उसके झूठ-प्रपंच, उसकी छलनाओं को देख सकता है। हर महान साहित्यिक कृति मनुष्य को आत्मविस्मृति से उबारती है, ताकि वह अपने से साक्षात् करने का साहस बटोर सके।"[71]

निर्मल के अनुसार इस धरती पर मनुष्य ही सबसे अधूरा प्राणी है। साहित्य मनुष्य के इस अधूरेपन को दूर करने का रचनात्मक प्रयास है। हर कलाकृति अधूरेपन का अतिक्रमण करती है। कला का अर्थ ही होता है सम्पूर्ण करना, खाली जगह को भरना। कला सृजन द्वारा मनुष्य को समग्र से जोड़ती है। आत्म और अन्य के रिश्तों को गरमाई देती है। कला की गोद में पहुँचकर मनुष्य अकेलेपन की ठिठुरन से छुटकारा पा जाता है। इस तरह कलाकृति मनुष्य को अधूरेपन से उबारकर सम्पूर्णता की ओर ले जाती है। निर्मल इस बारे में लिखते हैं - "मनुष्य का यह लावारिस अलगाव और अधूरापन कोई आधुनिक, पश्चिम-बोध की देन नहीं है - वह मनुष्य के मनुष्यत्व के बीच एक कीड़े की तरह विद्यमान है, धरती पर उसके महज 'होने' के बोध में निहित है। उसकी समूची मिथक संरचना, धर्म-विधान, ईश्वर-कल्पना और हमारे समय में सम्पूर्ण क्रान्ति का स्वप्न इसी अभिशप्त अनाथावस्था से छुटकारा पाने का गौरवपूर्ण, ट्रैजिक और बीहड़ प्रयास है। कला यदि इनसे अलग है, तो इसलिए नहीं कि वह इस अधूरेपन के पाप से मुक्ति का स्वप्न नहीं देखती - यह स्वप्न और आकांक्षा ही तो उसकी सतत प्रासंगिकता के केन्द्र में है - फर्क केवल इतना है (और यह बुनियादी अन्तर है) - कि यह स्वप्न कहीं बाहर और परे न होकर स्वयं उसकी सृष्टि, उसके फार्म, उसकी संरचना में सन्निहित है।"[72] इस तरह कला अपने स्वरूप से ही अकेलेपन से मुक्ति का रचनात्मक और गौरवपूर्ण प्रयास बन जाती है।

'अधूरापन नहीं समग्रता और सम्पूर्णता' यह निर्मल के चिंतन का मूलमंत्र है। इसी दृष्टि में वह साहित्य को परखते हैं। निर्मल के लिए साहित्य की प्रासंगिकता इसी में है कि

वह कितना जीवन को उसकी सम्पूर्णता में प्रस्तुत करता है। कला मनुष्य की सम्पूर्ण छवि दिखलाती है। निर्मल के अनुसार "मनुष्य को उसकी सम्पूर्ण छवि में देख पाने की चेष्टा आज के युग में बिना किसी समझौते के, बिना किसी विकृति के, बिना किसी अपने दुराग्रहों के या अपने विश्वासों को अपने तथा यथार्थ के बीच में लाए हुए केवल कला कर सकती है।"[73]

रेणु उनके प्रिय रचनाकार इसलिए हैं क्योंकि उनका साहित्य सम्पूर्णता का साहित्य है। रेणु के साहित्य में प्रकृति अपने सम्पूर्ण ऐन्द्रियबोध के साथ उपस्थित है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की एक जीवंत और निराली दुनिया। शूल और फूल एक साथ। धूप और चाँदनी का सह-अस्तित्व। निर्मण रेणु में एक समग्र मानवीय दृष्टि देखते हैं। रेणु की दृष्टि मानव जीवन के सम्पूर्ण पक्षों को आँकती है। उसके सुख-दुख के साथ। जीवन की प्रवहमानता अनेकानेक रंगों, गन्धों और सुरों का अविरल प्रवाह उनके साहित्य में व्याप्त है। रेणु के समग्र मानवीय दृष्टि को रेखांकित करते हुए निर्मल कहते हैं - "कैसा है यह अजीब लेखक, जो गरीबी की यातना के भीतर भी इतना रस, इतना संगीत, इतना आनन्द छक सकता है, सूखी, परती जमीन के उदास मरुस्थल में सुरों, रंगों और गन्धों की रासलीला देख सकता है, सौंदर्य को बटोर सकता है, आँसुओं को परख सकता है, किन्तु उसके भीतर से झाँकती धूल-धूसरित मुस्कान को देखना नहीं भूलता - एक सौंदर्यवादी की तरह नहीं, जो सुन्दरता को अन्य जीवन्त तत्वों से अलग करके उसका रसास्वादन करता है।"[74]

एक महान कलाकृति का सत्य सार्वभौमिक होता है। वह मनुष्य के समग्र और सार्वभौमिक अनुभव को प्रकाशित करती है। महान कला यह बतलाती है कि मनुष्य की मूल अनुभूतियाँ एक हैं, सुख और दुख की अभिव्यक्ति अलग हो सकती है पर ऐन्द्रिय अनुभूति के स्तर पर वह एक हैं यह अनुभूति नस्ल, देश, राष्ट्रीयता की सीमाओं से परे होती है। वह इतिहास और समय की दीवारों को तोड़ देती है। हर देश के नागरिक को अपने प्रभाव में ले लेती है। निर्मल के शब्दों में "हर उत्कृष्ट कलाकृति अपने चरमक्षणों में

अपनी संस्कृति की सीमाओं को भेदकर मानव प्रकृति के ऐसे अँधेरे, अज्ञात और आदिम कोनों को उजागर करती है जहाँ मनुष्य मात्र मनुष्य है - प्रेम, मृत्यु, ईर्ष्या, वासना और बलिदान की अनुभूतियों से लिथड़ा हुआ - महज पूर्व और पश्चिम का प्राणी नहीं।"[75]

संक्षेप में निर्मल साहित्य और कला के प्रश्नों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर प्रस्तुत करते हैं। उनके लिए कला और साहित्य सम्पूर्णता का बोध है। वह जीवन की समग्रता का आख्यान है। जहाँ मनुष्य और प्रकृति के रिश्ते सुरक्षित हैं। कलाकृति का वास्तविक मूल्यांकन उसके आंतरिक तत्वों के आधार पर ही किया जा सकता है। किसी पूर्वग्रह के आधार पर नहीं। इसीलिए निर्मल बार-बार कला की स्वायत्तता का प्रश्न उठाते हैं।

पत्र-साहित्य

निर्मल वर्मा के अब तक कुल तीन पत्र-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। ये पत्र-संग्रह उनके देहावसान के बाद गगन गिल के सम्पादन में प्रकाशित हुए। पहले पत्र-संग्रह 'प्रिय राम' (2006) में निर्मल के बड़े भाई रामकुमार के नाम लिखे गए पत्रों का संकलन है। 'देहरी पर पत्र' (2010) में युवा कथाकार जयशंकर को लिखे गये पत्र संकलित हैं 'चिट्ठियों के दिन' (2010) में प्रसिद्ध लेखक रमेशचन्द्र शाह और उनकी पत्नी ज्योत्सना मिलन एवं बेटियों के नाम से लिखे गये पत्र संकलित हैं।

1967 से लेकर 2005 तक की अवधि में फैले इन पत्रों से निर्मल के जीवन के कई छुए-अनछुए पहलू सामने आते हैं। इन पत्रों से एक रचनाकार का अन्तरंग जीवन तो झांकता ही है, हम उसकी रचना-प्रक्रिया से भी अवगत होते हैं। यह पत्र निर्मल की सोच, चिंतन, मानसिक बुनावट को उद्घाटित करते हैं। अपने बारे में कम ही बोलने वाले निर्मल संबंधों के प्रति कितने आत्मीय और उत्सुक हैं, ये पत्र-संग्रह इसका भी प्रमाण हैं। प्रकृति-प्रेमी, स्मृति की गंध में डूबा रचनाकार, एक सजग कला-प्रेमी, गंभीर अध्येता निर्मल के व्यक्तित्व के ऐसे बहुत सारे पहलू इन पत्रों से झांकते हैं।

निर्मल को जितनी रुचि, कला और साहित्य के प्रति रही है, उतनी ही पत्रों के प्रति भी। वह देश में हो या विदेश में अपने आत्मीय जनों को पत्र जरुर लिखते थें और उनके

पत्रों का बेसब्री से इंतजार भी करते रहते थें। पत्रों के महत्व पर वह रमेशचन्द्र शाह को लिखे एक पत्र में कहते हैं - "हमारी दुनिया कितनी विपन्न रह जाती यदि हमें फ़्लॉबेर, चेख़व के पत्र पढ़ने को न मिलते ... यहाँ तक कि वर्जीनिया वुल्फ़ और रिल्के जैसे 'प्राइवेट' लेखक भी कैसे अपने पत्रों में कला की पवित्र मर्यादाओं को भंग करते हुए मुक्त और खुली उड़ान भरते हैं यह अपने में अद्‌भुत है।"[76]

निर्मल वर्मा जीवन के आखिरी पड़ाव तक सृजनरत रहें। दिन-रात, घर हों या बाहर लगातार अध्ययनरत, सृजनरत। हर क्षण गहरी सोच में डूबी आँखे। नयी-नयी किताबों के प्रति उत्सुकता। उन्हें पढ़ने की ललक। दुनिया के किसी भी शहर में हों, वहाँ लगने वाली कला प्रदर्शनियों एवं नाटकों को जरूर देखते थे। उनके इस व्यक्तित्व की छाया इन पत्र-संग्रहों में साफ देखी जा सकती है। वह भाई रामकुमार को एवं अपने मित्रों को पत्र लिखते समय साहित्य, कला, फिल्म एवं संस्कृति की बराबर चर्चा करते थें। निर्मल के लिए साहित्य-कला कोई दिल बहलाने की चीज़ नहीं थी। वह उनके लिए धर्म है। मनुष्य होने का धर्म। जो मनुष्यता को संभव बनाता है। वह जीवन-दृष्टि है। इसीलिए निर्मल कला को कर्म की तरह पूजते थें। नयी-नयी किताबों को वह कैसे लगन से पढ़ते थें यह उनके पत्रों से झलकता है। भोपाल से भाई रामकुमार को लिखे एक पत्र में वह वर्जीनिया वुल्फ़ की एकाग्रता की चर्चा करते हैं। यह एकाग्रता स्वयं उनका भी स्वभाव है। फुरसत के पलों में भी कला और साहित्य को ओढ़ने-बिछाने वाले निर्मल के इस व्यक्तित्व की छाप उनके इस पत्र में देखी जा सकती है -

"दुपहर के समय कला परिषद् की प्रदर्शनी में चला जाता हूँ - वहाँ आजकल बैठना अच्छा लगता है, दिल्ली और लन्दन से जो पुस्तकें लाया था, उन्हें ही अक्सर पढ़ता हूँ। अभी हाल में वर्जीनिया वुल्फ़ की डायरी का दूसरा खण्ड समाप्त किया। लेखन के प्रति उनकी एकाग्रता और आत्म-अनुशासन बहुत-बहुत ही Unique-सा जान पड़ा। इन दिनों जॉयस का उपन्यास 'A Portrait of an Artist as a young man' भी पढ़ रहा हूँ - क्या तुमने इसे पढ़ा है?"[77]

पुस्तकों के अलावा निर्मल की थियेटर एवं फिल्मों में भी खूब रुचि थी। हिन्दी के अतिरिक्त वह अन्य देशी-विदेशी भाषाओं की फिल्मों और नाटक में भी खासी दिलचस्पी रखते थे। निर्मल के इस वैश्विक कला-बोध ने उनके चिंतन को गहराई एवं व्यापकता प्रदान की है। कथाकार जयशंकर को लिखे एक पत्र में निर्मल की फिल्मों के प्रति रुचि देखिए -

"पिछले दिनों कुछ अच्छी फ़िल्में भी देखने को मिलीं, जर्मन निर्देशक हरज़ोग मुझे बहुत पसन्द हैं। मैक्समुलर भवन में उनकी फिल्म 'वोयज़ोख' दिखायी गयी थी, जो जर्मन लेखक Buchner के नाटक पर आधारित है - बहुत ही शक्तिशाली फिल्म है। फ्रेंच डायरेक्टर Erich Rohmer की भी कुछ फिल्में इण्डिया इन्टरनेशनल सेंटर में देखीं।"[78]

निर्मल अपने कला-साहित्य प्रेम में कभी परिवार की उपेक्षा नहीं करते। उन्हें जितनी चिंता साहित्य की है उतनी ही परिजनों एवं मित्रों की भी। इसीलिए वह अपने हर पत्र में परिजनों के हाल-चाल जानने के लिए उत्सुक रहे हैं। इन पत्रों में वह एक साथ बौद्धिक भी हैं और साथ ही एक घरेलू इंसान। अपनी प्रसिद्धि के अहं से परे एक साधारण-सा इंसान। वह भाई रामकुमार को पत्र लिख रहें हों या शाह परिवार को, हर एक सदस्य के बारे में जानने को उत्सुक हैं। उसके सुख-दुख में सहभागी बनने को व्यग्र। भाई को पत्र लिखते समय जहाँ परिवार के सदस्यों की चिंताए झलकती हैं, वहीं शाह जी की बेटियों को पत्र लिखते समय उनका अपार स्नेह एवं वात्सल्य भी झलकता है। यही स्नेह उनका अपने मित्रों के प्रति भी है। इन पत्रों में निर्मल की पिता, पुत्र, भाई, देवर, काका, मामा, सखा आदि ऐसी बहुत सी छवियाँ उभर कर सामने आती हैं।

1968 में लंदन से भाई को लिखे एक पत्र में देखिए वह परिवार के हर एक सदस्य के बारे में जानने को कैसे उत्सुक हैं - "यहाँ लन्दन में कभी-कभी निर्मला की याद आती है। अगर वह यहाँ की दुकानों को देखती तो शायद सो न पाती। क्या वह और सरला अक्सर घर आते हैं। मुनिया और बीना की विवाह की तैयारियों की ख़बर ने मुझे भी

काफ़ी चकित कर दिया। बबुआ और टुलू के हाल लिखना। माँजी के कुशलक्षेम के बारे में शीघ्र लिखना। अच्छा–।"[79]

इन पत्रों में सामयिक घटनाओं पर भी प्रतिक्रियाएँ हैं। साहित्य जगत की हलचल, देश, राजनीति, समाज आदि मुद्दों पर अपने पत्रों में चर्चा करते हैं। निर्मल का मन बहुत संवेदनशील था। देश–विदेश की कोई भी बुरी घटना उन्हें बहुत आहत करती थी। इसी तरह प्रिय लेखकों की मृत्यु भी उन्हें विचलित कर देती थी। इन बातों का जिक्र उनके पत्रों में मिलता है। इन पत्रों से निर्मल के व्यक्तिगत जीवन के भी कई अंत:साक्ष्य मिलते हैं। निर्मल का यूरोप प्रवास, वहाँ का अभाव और अकेलापन, पहली पत्नी से बनते–बिगड़ते रिश्ते, बेटी पुतुल की चिंताएँ, लेखकीय जीवन का आत्मसंघर्ष, स्वयं की बीमारी आदि बहुत सी बातों पर इन पत्रों के माध्यम से रोशनी पड़ती है। 1970 में भाई को लिखे एक पत्र में उनके वैवाहिक जीवन के तनावपूर्ण स्थिति की एक झलक मिलती है। देखिए –

"मैं बहुत शीघ्र इंगलैंड जाने की सोच रहा था – क्योंकि पुतुल बीमारी के बाद बहुत कमजोर हो गयी है और उसकी देखभाल की व्यवस्था भी कोई बहुत सन्तोषजनक नहीं है। किन्तु पिछले वर्षों मे मेरे और बकुल के सम्बन्ध इतने शिथिल और अप्रीतिकर हो गये हैं, कि वहाँ सिर्फ़ पुतुल के लगाव के अलावा मुझे जाने का कोई अर्थ समझ में नहीं आता। यह दयनीय स्थिति है।"[80]

इन पत्रों में स्मृतियों की भी खास जगह है। भाई को पत्र लिखते समय वह अपनी पुरानी यादों को जरुर साझा करते हैं। जिनमें शिमला का बचपन है तो दिल्ली की युवावस्था भी। निर्मल का काफी समय विदेश में बीता है, जहाँ भारत की याद स्वाभाविक ही है। अपने कई पत्रों में वह भारत की स्मृतियों का जिक्र करते हैं। एक पत्र में वह अपनी पुरानी यादों को साझा करते हुए भाई को लिखते हैं –

"रानीखेत के नाम से ही पाईन्स की याद आती है – बरसों पहले मैं डाकबंगले में ठहरा था। चारों तरफ़ चीड़ों से घिरा हुआ – वहीं बाग में परिन्दे लिखना शुरु किया था – अब तो वह कहानी, वह जगह और उम्र सब स्वप्न–सा जान पड़ते हैं।"[81]

स्मृतियों का जिक्र कथाकार जयशंकर एवं शाह परिवार के नाम लिखे गये पत्रों में भी मिलता है। निर्मल 1980-82 में भोपाल में निराला सृजनपीठ पर रहें। वहाँ वह शाह परिवार के सम्पर्क में रहते थे। भोपाल की यादों को शाह परिवार को लिखे पत्रों में साझा किया है।

निर्मल अपने पत्रों में प्रकृति का जिक्र करना कभी नहीं भूलते। प्रकृति के बिना तो उनका सब कुछ अधूरा है। वह जहाँ से भी खत लिखते हैं, उस जगह के मौसम और भूगोल का ब्यौरा जरुर देते हैं। निर्मल का पत्र सिर्फ एक पत्र ही नहीं होता, वह एक पेंटिग्स होती है जहाँ से खत लिखते हैं उस जगह की पेंटिग्स। अपने अपने आसपास की प्रकृति की हर छोटी-बड़ी घटना को वह जरुर अपनी चिट्ठी में जगह देते हैं। निर्मल के कथा-साहित्य में प्रकृति-परिवेश के प्रति जो सजगता है, वह इन पत्रों में भी दिखती है। 1967 में प्राग से भाई को लिखे एक पत्र में कहते हैं - "पिछले कुछ दिनों से यहाँ कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा है ... समूचा प्राग सफेदी से ढँका जान पड़ता है। बर्फ बराबर गिरती है। तापमान सिफ़र से 15 डिग्री तक नीचे चला जाता है।"[82]

प्रकृति का एक सूक्ष्म वर्णन रमेशचन्द्र शाह को 1990 में लिखे गये एक पत्र में देखिए -

"आपका पत्र शिमला में मिला था। मैं अभी दो दिन पहले ही वहाँ से लौटा हूँ। इस बार मुद्दत बाद-बर्फ़ का गिरना देखा। वह रात भर गिरती रही - बिल्कुल नीरव और शान्त-सुबह अनायास खिड़की के बाहर नज़र गयी, देवदार के पेड़ एक सफेद तन्मयता में ढँके थे - डालें बर्फ़ के बोझ से ऐसे झुकी थीं, मानो कोई जानवर भार ढोते हुए सहसा सिर झुकाकर ऊँघने लगा हो!।"[83]

संक्षेप में इन पत्र-संग्रहों के द्वारा निर्मल के जीवन के कई सारे पन्नों पर रोशनी पड़ती है। उनका लेखकीय आत्म संघर्ष, यूरोप-प्रवास, दाम्पत्य जीवन का बिखराव, अभाव बीमारी, आदि के साथ चिंतन और रचना प्रक्रिया के अन्तःसूत्र का भी जिक्र इन पत्रों में

मिलता है। निर्मल के संवेदनशील व्यक्तित्व, परिजनों के प्रति इनके स्नेह एवं लगाव का उद्‌घाटन भी इन पत्रों के माध्यम से होता है। और प्रकृति एवं स्मृतियाँ तो इन पत्रों में हैं ही।

डायरी साहित्य

निर्मल वर्मा की डायरी 'धुंध से उठती धुन' 1973-95 के दौरान अलग-अलग स्थानों से लिखी गई है। निर्मल ने अपने जीवनकाल में कई जगहों की यात्राएँ की थीं। शिमला, आयोवा, मुक्तेश्वर, रानीखेत, हार्वड, मणिपुर, अमरकंटक, प्रयाग आदि। इस डायरी में इन जगहों पर बिताये गये दिन अंकित हैं। उन दिनों का अनुभव और उनका जीवन इस डायरी के पन्नों पर दर्ज है। निर्मल की यह डायरी पारम्परिक ढंग की डायरियों से भिन्न है। इसमें रोजमर्रा की बातों का ब्यौरा नहीं है। यह निर्मल के मन की यात्रा है। अन्तः प्रक्रियाओं का लेखा-जोखा है। इस डायरी में खुद से बातें करते निर्मल हैं। वह अनकहा है जो कथा में नहीं कह पाये। उनका अकेलापन है। अकेलेपन में जीवन का साक्षात्कार हैं एकांत के क्षणों में कला-संस्कृति के प्रश्नों पर गंभीर चिंतन-मनन है। यहाँ उन्होंने अपनी स्मृतियों को संजोने की कोशिश की है, उसे वर्तमान जैसा बनाते हुए। इस डायरी में प्रकृति की भी एक खास जगह है। प्रकृति की लय ने ही उनके विचारों के आरोह-अवरोह को निर्धारित किया है।

निर्मल 'धुंध से उठती धुन' में भारतीय संस्कृति के प्रश्नों पर मंथन करते हैं। भारतीय संस्कृति की अविरल प्रवाहमानता, उसका शाश्वत काल-बोध, उसके मिथक, परंपराएँ, जातीय स्मृति, समग्रता, नैरतंर्य यह सब निर्मल को उद्वेलित करते हैं। भारतीय संस्कृति में निहित आत्म और अन्य की एकता की संकल्पना उन्हें अभिभूत करती है। इस दर्शन में वह मनुष्य का उज्जवल भविष्य देखते हैं। इलाहाबाद के कुम्भ मेले में वह भारतीय संस्कृति की अविरल प्रवाहमानता को देखते हैं। भारतीय जन-मानस की आस्था, विश्वास, गंगा, परम्परा, स्मृतियों के वह साक्षी होते हैं। कुम्भ मेले के दृश्यों को देखते हुए उन्हें भारतीय काल-बोध की विशिष्टता का अनुभव होता है। वह लिखते हैं - "कैसा अंत? क्या कोई ऐसी जगह है जिसे हम अंत कहकर छुट्टी पा सकें? जिस जगह एक-नदी

दूसरी में समर्पित हो जाए और दूसरी अविरल रूप से बहती रहे, वहाँ अंत कैसा? हिंदू मानस में कोई ऐसा बिंदु नहीं जिस पर अँगुली रखकर हम कह सकें, यह शुरू है, यह अंत है। यहाँ कोई आखिरी पड़ाव, 'जजमेंट डे' नहीं, जो समय को इतिहास के खंडों में बाँटता है। नहीं अंत नहीं है और मरता कोई नहीं, सब समाहित हो जाते हैं, घुल जाते हैं, मिल जाते हैं। जिस मानस में व्यक्ति की अलग सत्ता नहीं, वहाँ अकेली मृत्यु का डर कैसा?"[84]

निर्मल ने इस डायरी में अकेलेपन और एकांत के बारे में काफी कुछ लिखा है। निर्मल के लिए एकांत का अर्थ खुद से बातें करना है। अपने आत्म से संवाद जिसे हम समय की आपा-धापी में भूल गये हैं। एकांत साधना में ही हम कला-संस्कृति के प्रश्नों को गंभीरता से समझ पाते हैं। एकांत के क्षण में निर्मल को कला का कोई प्रश्न घेर लेता है और वह गहरी सोच में डूब जाते हैं। हर बार डूबने पर चिंतन के कुछ अमूल्य कण निकालकर लाते हैं। ऐसी ही एक घड़ी में वह लिखते हैं -

"कला एक शोक है, एक वियोग, अपने भीतर खिंची रक्तिम भूमध्य रेखा-एक फाँक। जब हम उसके भीतर झाँकते हैं, तो हमें उसकी छाया में अपने छूटे और बिछुड़े हुए अंग दिखाई देते हैं - वे पंख, जिन पर पक्षी उड़ता है, वह आँख, जिसमें दोनों आँखों की नज़र मिलती है, वह आत्मा, जो कभी देह में वास करती थी ... हम नीचे झाँकते हैं और उसकी छाया में एक क्षण के लिए सब छूटे-बिछुड़े अंग हमसे दुबारा जुड़ जाते हैं...।"[85]

अकेलेपन के क्षणों में भी निर्मल कभी अकेले नहीं होते। उनके प्रिय लेखक हर घड़ी उनके साथ होते हैं। रिल्के, सिमोन वेल, काफ्का, लूकाच, वर्जीनिया वुल्फ, चेखव, आन्द्रेजीद ये लोग अपनी किताबों से उठकर चले आते हैं निर्मल के पास कभी शिमला की दोपहरी में तो कभी मास्को की शाम में। उनसे एक अन्तरंग संवाद होता है, जिसमें निर्मल कला-संस्कृति-साहित्य के कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों का साक्षात्कार करते हैं। डायरी में निर्मल ने अपने इन अनुभवों को कई जगह उद्धृत किया है। शिमला डायरी में ऐसे ही एक प्रसंग में वह आन्द्रे जीद को उद्धृत करते हुए लिखते हैं - "मैं आन्द्रे जीद के जर्नल्स

के अंतिम पृष्ठ पढ़ रहा था, जो उन्होंने अपनी मृत्यु से कुछ दिन पहले लिखे थे। ये पृष्ठ शायद उनकी डायरी में सबसे अधिक मर्मस्पर्शी हैं। देह और आत्मा के विषय में वह जो कुछ कहते हैं - "एक को दूसरे के बिना नहीं सोचा जा सकता" - वह ऐसा सत्य है, जिस पर मैं हमेशा विश्वास करता आया हूँ। अंतिम साँस तक जीद की तर्क शक्ति एक उज्जवल, चमकीली लौ की तरह सुलगती रही, "अपने को मुक्त करना कुछ भी नहीं है, मुक्त रहना (बीइंग फ्री) यह कठिन काम है।"[86]

डायरी लिखते हुए निर्मल का मन प्रकृति में खूब रमा है। जहाँ से डायरी लिखा है, उसके परिवेश को जरूर चित्रित किया है। कोई भी दिन हो, कैसा भी मौसम हो - उसकी हर आहट को दर्ज किया है। बर्फ़, धूप, चाँदनी, नदी के अनेकशः रंगों की आवाजाही ने डायरी को काव्यात्मक बन दिया है। प्रकृति ने ही इस डायरी को धुन प्रदान की है। निर्मल ने प्रकृति की धुन को उसी की भाषा में चीन्हा है। प्रकृति की छोटी-छोटी हलचलों, उसके सूक्ष्म परिवर्तनों को वह बहत ही सुंदर भाषा में आँकते हैं। शिमला, फागू, मुक्तेश्वर, मनाली, मास्को, मणिकर्ण आदि के कितने ही नयनाभिराम दृश्यों को उन्होंनें अपनी जादुई भाषा में मूर्त किया है। मुक्तेश्वर डायरी में पहाड़ के जादुई सौंदर्य को चित्रित करते हुए वह लिखते हैं - "एक गुलाबी छत है। डूबती रोशनी का लंबा सिलसिला - यह रँगा हुआ सुर्ख़ लाल, जिसमें बादल तैरते हैं। मैं ऊपर चला आता हूँ, जहाँ चट्टानें हैं, नीचे घाटी, ऊपर मंदिर, मंदिर के ऊपर कव्वे उड़ते हैं। मुक्तेश्वर-शायद अकेला हिल-स्टेशन है, जहाँ एक बिंदु पर खड़े होकर अल्मोड़ा, चौबटिया और नैनीताल के पहाड़ देखे जा सकते हैं - सब एक चमकती लौ में नहाते हुए।"[87] प्रकृति के दृश्यों ने निर्मल को बहुत लुभाया है। नदी का बहना, पेड़ों पर उतरती धूप, झींगुरों की आवाज़, महुये की महक, काँच पर फिसलती धूप, पेड़ों की फुनगियाँ इन दृश्यों को उनका मन डायरी में तरह-तरह से उरेहता रहता है। प्रकृति के आँगन में निर्मल का मन सृष्टि को परखता है। भारतीय मनीषा ने प्रकृति के दृश्यों में जीवन के कितने ही सूत्र खोजे थे। निर्मल भी गंगा की लहरों को, चारों ओर फैली धूप को, पहाड़ों पर चाँदनी के आलोक को, झरते हुए बर्फ़ को - खुली आँखों से निहारते हैं। प्रकृति के यह कार्य-व्यापार उनके चिंतन को गहराई प्रदान करते हैं -

"सड़क के पार पेड़ों की हिलती फुनगियाँ, मकानों की छतें, एरियल पोल! मैं धूप के फैलाव में हूँ, दो आँखे देखती हुई। यह असाधारण अनुभव है - जब चीज़ों के बीच की दीवार ढह जाती है - सबके सामने अपने को खोलती हुई, एक अखंडित, सर्वव्यापी प्रवाह, धूप में, फुनगियों पर हवा में, योगी इसी तरह देखते होंगे....।"[88]

अब तक हम प्रकृति को कविता में या बहुत हुआ कहानी-उपन्यास में ही देखते आये थे पर डायरी साहित्य में उसकी इतनी विराट लीला अद्‌भुत है।

डायरी में निर्मल ने अपनी स्मृतियों को भी सँजोने की कोशिश की है। निर्मल का मन स्मृतियों में खुद को ढूंढता है। हावर्ड में हो या शिमला में, स्मृतियों के आस-पास उनका मन भटकता रहता है। इस डायरी में कितने ही शहरों की छतें हैं, गलियाँ है। दोपहर की तितीरी धूप है। बुदापेस्ट, कासल, सोन नदी की कलकल, मंदिर की घंटियाँ, सड़क पर चलते लोग सब उनकी स्मृतियों में अंकित है। हावर्ड डायरी में निर्मल लिखते हैं - "किंतु इन दिनों में बीती हुई सर्दियों को नहीं, शुरु शिशिर के पतझड़ी दिनों को याद करता हूँ, जब हम यहाँ आए थे, हार्वर्ड स्क्वायर में संगीत लहरियाँ गूँजती थीं, हर जगह विद्यार्थियों के झुंड घूमते हुए दिखाई देते थे, अख़बारों की स्टॉल पर पिक्चर पोस्टकार्ड, कैलेंडर, हवा में झूमते हुए फैस्टून-यूनिवर्सिटी नगर का उत्सवी आनंद-हमने एक पूरे सीजन का चक्र समाप्त कर लिया और अब बिदाई के छोर पर आ खड़े हैं...।"[89]

डायरी में उन्होंने स्मृति को वर्तमान में तो जिया ही है वर्तमान के दृश्यों को भी स्मृति में बदलता हुआ अनुभव किया है। इलाहाबाद में कुम्भ मेले के दृश्यों को देखते हुए उनका मन सोचता है - "संभव है आज की सुबह बरसों बाद स्मृति पर अटक जाए - फूस के छप्पर, इलाहाबाद का किला, मेले पर उड़ती धूल-क्या याद आएगा? एक बूँद में कितनी स्मृतियाँ गले के भीतर ढरती जाएँगी। अंगूर का रस जिस तरह फर्मेण्ट होकर शराब बन जाता है। उसी तरह आज का यह पानी अरसे बाद अमृत बनेगा - हज़ारों स्मृतियों की धूप में पका हुआ...।"[90]

निर्मल के सम्पूर्ण साहित्य में स्मृति का राज्य फैला हुआ है। स्मृति उनके रचनाकर्म की आधार भूमि है। इन्हीं स्मृतियों के धागे में उन्होंने अपनी कथा को बुना है। निर्मल के लिए स्मृतियों का अर्थ घर है। छांव और घोंसला है। भारत है। अपने आत्म से संवाद है। जो कि इस डायरी में भी है।

इस डायरी में निर्मल ने अपने समय को भी दर्ज किया है। समय का यथार्थ, तनाव, शंकाएँ, पीड़ाएँ सब इसमें अभिव्यक्त हैं। निर्मल का संवेदनशील मन दुखद घटनाओं से आहत होता है। इंदिरा गांधी की हत्या, एवं उसके बाद के साम्प्रदायिक दंगे, अयोध्याकांड, भोपाल गैस त्रासदी, सिंगरौली के विस्थापितों की त्रासदी आदि पर उन्होंने मार्मिक टिप्पणियाँ की हैं।

अंत में सूचना क्रांति की आंधी ने आज जिस तरह पत्र एवं डायरी साहित्य के अस्तित्व को खत्म सा कर दिया है, ऐसे में निर्मल का यह पत्र-डायरी साहित्य हमारे साहित्य की अमूल्य निधि बन गया है।

(iii) निर्मल वर्मा के यात्रा-संस्मरण, निबंध, पत्र एवं डायरी साहित्य का शिल्प

निर्मल वर्मा के कथेतर-शिल्प में भी कथा-शिल्प जैसी ही समृद्धि और सौंदर्य के दर्शन होते हैं। बल्कि कहीं-कहीं तो वह कथा-शिल्प से होड़ लेती मालूम होती है। निर्मल के कथेतर शिल्प की आत्मीयता, संप्रेषणीयता एवं संवादधर्मिता सहज ही आकृष्ट करती है। कथेतर गद्य की सादगी उसे एक विशिष्ट रूपाकार प्रदान करती है। इस शिल्प का प्रधान गुण है उसका हल्कापन। यहाँ हल्केपन से तात्पर्य है भाषा की सहजता और संप्रेषणीयता से। निर्मल के कथेतर गद्य में एक तरह की संवादधर्मिता मिलती है। वह इस बात को लेकर बराबर सतर्क रहे हैं कि यह संवाद कहीं पकड़ से बाहर न हो जाये। उनके गद्य में संवाद का ढंग कुछ उसी तरह का है जैसाकि हम अपने किसी बहुत आत्मीय से बोलते हैं। उसमें उत्तेजना और आक्रामकता नहीं होती। 'आप ही गावै, आप ही सुनै' वाली प्रकृति उनमें नहीं मिलती। उनके गद्य में वैचारिक तेजस्विता बहुत ही शांत ढंग से अभिव्यक्त हुई है।

निर्मल के कथेतर गद्य का यह हल्कापन सिर्फ शिल्प के स्तर पर है। संवेदना के स्तर पर तो वह बहुत ही गंभीर प्रश्नों को उठाते हैं। उनके निबंध–साहित्य, कला, जीवन, धर्म, राजनीति के गंभीर प्रश्नों को तार्किक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। परन्तु विमर्शों की यह गंभीरता शिल्प के स्तर पर आतंकित नहीं करती। अर्थात् इस शिल्प पर अमूर्तन का बोझ नहीं है। विचारों की तरलता है। इसी दृष्टि से हमने उसे हल्का कहा है। शिल्प के हल्केपन के कारण विचार सहज रूप से ग्राह्य हो जाते हैं। आचार्य शुक्ल लिखते हैं – "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है।"[91] शुक्ल जी की इस कसौटी पर निर्मल के निबंध पूरी तरह खरे उतरते हैं। निबंध जैसी अकाल्पनिक गद्य विधा में जहाँ बिंब, उपमा, संगीत, कल्पना आदि तत्वों के लिए अवकाश नहीं होता, वहाँ महज शब्दों की सादगी एवं उनके अभिनव विन्यास द्वारा ही निर्मल ने उसे अपूर्व रचाव प्रदान किया है। इनके निबंधों की तरलता ही उसका आभरण है।

निर्मल के निबंधों में शब्दों की प्रकृति सामान्य बोल–चाल के शब्दों की है। गंभीर विषयों की विवेचना के लिए जान–बूझकर संस्कृत के भारी–भरकम शब्दों के प्रयोग करने की प्रवृत्ति उनमें नहीं मिलती। संस्कृत शब्दों का प्रयोग संदर्भ के अनुरूप ही हुआ है। और वही शब्द प्रयोग किये हैं जो सामान्य व्यवहार में प्रचलित हैं। जैसे – 'तिरोहित', 'असहिष्णु', 'शाश्वत', 'प्रवहमान', 'अक्षुण्ण', 'रहस्योद्घाटन', 'प्राणवत्ता' आदि। निर्मल ने संस्कृत के सामासिक पदों का प्रयोग लगभग न के बराबर किया है। उर्दू एवं अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग भी संदर्भ के अनुरूप ही हुआ है। क्षेत्रीय शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति उनमें नहीं मिलती। इस तरह निर्मल की हिन्दी शुद्ध नागर हिन्दी है पर आभिजात्य प्रवृत्ति से मुक्त है। सहज एवं सामान्य शब्दावली जैसे – 'झिलमिल', 'लहुलुहान', 'आत्मछलना', 'बुलाहट', 'हिलोर', 'सँजोकर', 'फाँक', 'समूचा', 'छटपटाहट', 'धड़कन' आदि शब्द ही उन्होंने प्रयुक्त किये हैं।

सामान्य शब्दों के प्रयोग एवं उनके विशिष्ट वाक्य–विन्यास द्वारा आत्मीयतापूर्ण निबंध का एक उदाहरण देखें – "हर देश की धरती एक सभ्यता का घर होती है – यदि

घर के कुछ कमरे, कुछ आँगन कोटर ढह जाते हैं, तो उनमें वास करती हुई पूर्वजों की स्मृतियाँ हमेशा के लिए नष्ट हो जाती हैं।"[92]

प्रश्नवाचकता द्वारा, उद्धरण देकर संबोधितकर एवं स्वयं को उपस्थित कर निर्मल ने संवादधर्मी गद्य की स्थितियाँ निर्मित की हैं। इन युक्तियों द्वारा निर्मल अपनी वैचारिक यात्रा में 'अन्य' को उपस्थित करते चलते हैं। 'अन्य' के प्रति लगाव ने ही उनके गद्य को संवादधर्मी बनाया है। एक दो उदाहरण देखें -

"जब मैं कला के सम्पूर्ण बोध की बात करता हूँ, तो उसमें वह समूचा अन्धकार भी छिपा है, मनुष्य के आत्मखंडित जीवन की यातना, जिसे नकारकर कोई कलाकृति सुन्दर नहीं हो सकती।"[93]

"क्या समय का बीतना कोई भ्रम है? क्या वह कोई लीला रचता है और जब हमारे पास से गुजरता है तो क्रीड़ा भाव से मुस्कराता है, धीरे से हमारे कानों में फुसफुसाता है - "देखो यह वही रास्ता है जिस पर से मैं साल पहले गुजरा था, यहाँ मैं झिझका था, वहाँ मैं थोड़ी देर के लिए ठिठका था" --- समय की यह फुसफुसाहट हम अक्सर अनसुनी कर देते हैं, लेकिन ऐसे क्षण भी आते हैं कि अचानक हम थोड़े अचम्भे में पड़ जाते हैं।"[94]

इन उद्धरणों में प्रश्नवाचकता एवं 'मैं', 'हम' शब्दों द्वारा 'अन्य' को सम्बोधित किया गया है। संक्षेप में निर्मल अपनी वैचारिक यात्रा में 'अन्य' को शामिल करते चलते हैं।

निर्मल ने अधिकतर विचारात्मक निबंध लिखे हैं। यह निबंध व्याख्यात्मक, आलोचनात्मक, तुलनात्मक, विवेचनात्मक आदि विभिन्न शैलियों में लिखे गये हैं। भारतीय और यूरोपीय सभ्यता की विशिष्टता को व्यंजित करने के लिए तुलनात्मक शैली का प्रयोग बहुतायत से हुआ है। एक उदाहरण देखें -

"भारत की भौगोलिक एकता केवल ऐसे परम्परा-बोध में ही अर्थवान बन सकती है, जहाँ अनेक संस्कृतियाँ और धर्म-सम्प्रदाय शताब्दियों से एक-दूसरे से प्रेरणा पाते रहे हैं।

इस दृष्टि से भारतीय सभ्यता पश्चिम के राष्ट्रों से सर्वथा भिन्न है, जिन्होंने अनेक छोटी जातियों, उपजातियों और लोक-संस्कृतियों को नष्ट करके ही अपनी राष्ट्रीय एकता स्थापित की।"[95]

व्याख्यात्मक शैली का एक उदाहरण देखें -

"किसी संस्कृति का निर्माण न केवल मनुष्य द्वारा होता है, बल्कि उस शक्ति के द्वारा भी जो मनुष्येतर है, जिसको बनाने में मनुष्य का कोई हाथ नहीं, प्रकृति, और जब मैं 'प्रकृति' कहता हूँ, तो सीमित अर्थ में नहीं, सिर्फ उस शक्ति के अर्थ में नहीं, जो मनुष्य के बाहर है - हवा, पहाड़, जंगल, सूर्य या समुद्र बल्कि उस अदृश्य और सार्वभौमिक शक्ति के रूप में भी, जो मनुष्य के भीतर है, जिसे हम मानवीय प्रकृति या 'स्वभाव' कहते हैं...।"[96]

इसके अतिरिक्त निर्मल ने कला एवं संस्कृति के प्रश्नों पर निर्णयात्मक एवं तर्कपूर्ण शैली में भी निबंध लिखे हैं। निर्मल ने भावात्मक शैली में निबंध कम ही लिखे हैं। उनके तथाकथित 'भारत-प्रेम' में बहुत संभव था गद्य का रूप अतिशय भावात्मक हो जाता। पर एक सजग वैचारिक विवेक एवं आत्मसंयम उसे कोरी भावुकता से बचा लेती है। यहाँ भावुकता की जगह आत्मीयता मिलती है। इस दृष्टि से 'नर्मदा - एक सांस्कृतिक परिक्रमा', 'एक दूसरी जिंदगी', 'पत्थर और बहता पानी' निबंध महत्वपूर्ण है। भावात्मक शैली का एक उदाहरण देखें -

"किन्तु यदि प्रकृति के पास जाने का मतलब है, अपने अलगाव और अकेलेपन से मुक्ति पाना, अपने छिछोरे, ठिठुरते अहम का अतिक्रमण करके, अनवरत समय की कड़ी में अपने को पिरो पाना, तो यह बोध पुराने खँडहरों के बीच भी होता है। यह विचित्र अनुभव है। ठहरे हुए पत्थरों के सामने बहते समय को देख पाना। पहली बार इतिहास का अनुभव-किताबों और तिथियों से न होकर-पत्थरों के बीच उगती घास, छतों पर चिपटे चिमगादड़ों, गुदम्बदों पर गमगीन, ऊँघती धूप द्वारा होता है।"[97]

निर्मल के भावात्मक निबंधों में संस्कृत की पदावलियाँ नहीं मिलती जैसाकि उनके पूर्ववर्ती निबंधकारों में देखने को मिलती हैं। यहाँ न तो सामासिक पदों का प्रयोग है न ही तत्सम शब्दों की बहुलता। महज सहज और सादे शब्दों द्वारा लय की सृष्टि कर उसे भावात्मक बनाया गया है।

निर्मल के निबंधों में कथात्मक शैली का प्रयोग भी खूब हुआ है। बात को प्रभावशाली एवं संप्रेषणीय बनाने के लिए उसमें कथा-तत्व का मिश्रण किया गया है। इस दृष्टि से 'कला की प्रासंगिकता', 'संवाद की मर्यादाएँ', 'मनुष्यत्व से साक्षात्कार', 'सृजन का परिवेश', 'शताब्दी के ढलते वर्षों में', निबंध उल्लेखनीय हैं। भारतीय संस्कृति में साम्प्रदायिकता के प्रवेश पर कथात्मक शैली में लिखते हैं -

"एक पुरानी कहानी याद आती है - एक शिशु और दो झगड़ती माँओं की कहानी, दोनों का यह दावा है कि वह ही शिशु की असली माँ हैं। सम्राट सोलोमन का फैसला यह है कि शिशु को दो हिस्सों में काटकर दोनों को ही बाँट दिया जाए। आज देखना यह है कि फैसले के विरोध में असली माँ की पीड़ा किसकी आत्मा से बाहर निकलती है - सिख, हिन्दू या मुसलमान की आत्मा से या वह प्रेम और पीड़ा में घुली-मिली सचमुच एक सामूहिक चीख होगी, जिसमें असली या नकली का भेद करना असम्भव होगा?"[98]

निर्मल विचारों को पुष्ट करने के लिए बहुत से उदाहरण भी देते चलते हैं। यह उदाहरण दैनिक जीवन एवं प्रकृति की घटनाओं से लेकर प्रसिद्ध लेखकों की उक्तियाँ तक कुछ भी हो सकती है। आचार्य शुक्ल ने भाषा में अर्थ-ग्रहण की जगह बिंब-ग्रहण कराने पर बल दिया है। निर्मल के कथेतर साहित्य में बिंब-ग्रहण की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। बिंबात्मकता के कारण ही उनके यहाँ चिंतन दृश्य में रुपातंरित हो जाता है। निर्मल के निबंध साहित्य में बिंबात्मकता संदर्भ के अनुरूप व्यंजित हुई है। पत्र, यात्रा-वृत्त एवं डायरी साहित्य में बिंबधर्मिता खूब देखने को मिलती है। बिंबधर्मिता के कारण ही संवेदना संप्रेषणीय हो पाई है और पाठक भावों से निकटता का अनुभव करता है।

'कला की प्रासंगिकता' निबंध में उन्होंने कलाकृति के सत्य को तितली के रूपक द्वारा कैसे अभिव्यंजित किया है, इन पंक्तियों में देखिए –

"किसी कलाकृति के सत्य को उसकी भाषा से अलग करके देखना कुछ वैसा ही है, जैसे किसी तितली को मारकर एलबम में चिपका देना .... उसके रंग, पंख, देह-मज्जा सब वही हैं, सिर्फ एक छोटी-सी चीज का अभाव है – उसकी उड़ान का माँसल सौन्दर्य और अकथनीय प्राणवत्ता। तितली की मरी हुई देह कविता का वह 'अर्थ' है, जिसे हमने उसके शब्दों से अलग करके अपनी व्याख्या में टाँग लिया है।"[99]

यह है चिंतन का दृश्य में रूपांतरण। निबंध साहित्य के अलावा निर्मल के यात्रा-संस्मरण, पत्र एवं डायरी साहित्य में दृश्यात्मकता एवं बिंबधर्मिता खूब देखने को मिलती है। निर्मल ने देश-विदेश के अनुभवों को, वहाँ की प्रकृति को अत्यन्त चित्रमयी भाषा में मूर्त किया है। गौर करने की बात यह है कि यहाँ उन्होंने चित्रांकन प्रत्यक्ष रूप-व्यापारों के आधार पर किया है, कोरी कल्पना का सहारा लेकर नहीं।

प्रत्यक्ष रूप-व्यापार के कुछ जीवंत उदाहरण देखिए –

"टापू पर पके गूलर गिरते हैं ... टप, टप...।"[100] (ध्वनि बिंब)

"बाग़ के दोनों और घने छायादार वृक्ष थे, जिनकी टहनियाँ यूनानी देवताओं की मूर्तियाँ पर काँपती रहती थीं।"[101] (स्पर्श बिंब)

"सेन के जिस छोर पर मैं खड़ा हूँ, वहाँ चेस्टनट की शाखाएँ बहते भूरे पानी पर झुक आई हैं।"[102] (वर्ण एवं स्पर्श बिंब)

निर्मल अपने पत्र, यात्रा एवं डायरी साहित्य में मौसम के ब्यौरे जरुर देते हैं। पाठक को मौसम का अनुभव वह बिंबों के माध्यम से कराते हैं। विभिन्न ऐन्द्रिय बिंबों की सजीवता से पाठक निर्मल के भावजगत के साथ यात्रा करने लगता है। गंध बिंब का एक उदाहरण देखें 'प्रिय राम' से –

"दिन भर धूप निकलती है और हवा चलती है। चीड़ की पत्तियों की ख़ुशबू, जो पिछले दिनों दब गयी थी, अब हवा में तिरती रहती है।"[103]

'चिट्ठियों के दिन' से मिश्रित बिंब का एक उदाहरण प्रस्तुत है -

"देवदार के पेड़ एक सफेद तन्मयता में ढँके थे - डालें बर्फ़ के बोझ से ऐसे झुकी थीं, मानों कोई जानवर भार ढोते हुए सहसा सिर झुकाकर ऊँघने लगा हो! धूप निकलने के बाद हर टहनी थोड़ा-सा सिहर कर अपना बोझ हल्का कर लेती और तब अचानक छपछप की आवाज़े सारे जंगल में सुनाई देने लगतीं।"[104]

निर्मल के यहाँ वर्ण बिंब खूब मिलते हैं। उन्हें हर रंग की पहचान है। एक ही रंग के विभिन्न शेड्स तक उनके यहाँ खूब मिलेंगे। पेड़ के, धूप के, चाँदनी के नदी के कितने सारे रंग हैं - उनकी भाषा में। 'देहरी पर पत्र' से एक उदाहरण देखिये -

"इन दिनों सब पेड़ों पर पीले, लाल, सुर्ख़ बैंगनी और केसरी रंगों की होली में नहाये पत्तों की बाहर दिखायी देती है।"[105]

'धुंध से उठती धुन' डायरी में मौसम के कुछ रंग देखिये -

"जब मैं क्लब से बाहर आया, तो सहसा आकाश में पीला-गुलाबी सा चाँद दिखाई दिया।"[106]

"सूरज चढ़ गया है - सर्दी के धूप में पीले ऊन का गोला। नीले आकाश में एक भी बादल नहीं।"[107]

"नीचे गंगा के किनारे एक रक्तिम, सुर्ख़, सैलाब-सा उमड़ आया था - रेत पर खिंची खून की लकीर जो सूर्यास्त के फटे रंगों से बाहर बह निकली थी।"[108]

निर्मल का यात्रा-संस्मरण 'चीड़ों पर चाँदनी' अपनी बिम्बधर्मिता के कारण अलग से आकर्षित करता है। बिंबों ने उनके अनुभवों को जीवंत बना दिया हैं। ध्वनि, स्पर्श, गंध,

वर्ण के विभिन्न बिंबों में प्रकृति भाषा में बोलने लगती है। ध्वनि बिंब का एक उदाहरण देखें –

"रिक्याविक की आउटर हार्बर ... सुबह। हल्की-हल्की बारिश हो रही है, छोटी-छोटी बूँदे डेक पर टप-टप गिरती हैं।"[109]

गंध बिंब का उदाहरण –

"वे शुरू पतझर के दिन थे। प्राग की गलियों में अंगूर-लताओं की गन्ध तिरती रहती थी।"[110]

स्पर्श बिंब का उदाहरण –

"दिन-भर इन चोटियों पर पीले या सलेटी रंग के बादलों का मेला लगा रहता है – 'पाउडर-पफ़' – सा हर बादल हवा में तिरता हुआ अपने सुनहले पंखों से बर्फ के इस मोज़ायक को पोंछ जाता है।"[111]

वर्ण बिंब का एक उदाहरण –

"पूरी रात होने के कुछ क्षण पूर्व... झील के दो चेहरे हो जाते हैं – एक हँसता हुआ, दूसरा सोया-सा। पानी बँट जाता है, आधा जल गहरा हरा, कहीं-कहीं श्यामल-आधा सफ़ेद, जैसे किसी ने चूने का चिट्टा चूरा पानी में घोल दिया हो।"[112]

निर्मल के कथेतर भाषा की एक और प्रमुख विशेषता है उसकी चित्रात्मकता। निर्मल अपने आस-पास की घटनाओं एवं स्थितियों का सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं और आँखों द्वारा देखे गये दृश्य को भाषा में हूबहू मूर्त कर देते हैं। यहाँ पर लगता है सचमुच उनका गद्य़ बोलता है। 'धुंध से उठती धुन' से एक उदाहरण देखिए –

"कल शाम खाने के लिए कमरे से बाहर निकले, तो सारा आकाश तारों से झकाझक भरा था – बिल्कुल वैसे ही तारों का जमघट – जो पहली बार देखकर चकित

हो गया था। एक घंटे बाद भोजन के बाद लौटे, तो बादलों में अधिकांश तारे ढँक गए थे – क्षितिज पर चाँद निकल रहा था, बादलों के भीतर से धीरे–धीरे बाहर सरकता हुआ – पूर्णिमा के बाद का चाँद ओवल आकार में मोदिलियानी के चेहरे–सा लंबा उदास, गमगीन, बीमार।"[113]

निर्मल ने अपनी अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिए कहीं–कहीं अनूठी उपमाओं का भी प्रयोग किया है। यहाँ उपमा–विधान कथा–गद्य जितना नहीं है पर निर्मल का रागी मन संदर्भ के अनुकूल उपमाओं का प्रयोग करने से नहीं चूकता। 'हर बारिश में' के एक संस्मरण में वह प्राग में अखबारों पर लगे सेंसर का उल्लेख करते हैं। इस स्थिति का वर्णन वह उपमा के माध्यम से इस तरह करते हैं –

"ऐसा ही एक अखबार लैम्पपोस्ट के नीचे उलटे घायल कबूतर की तरह फड़फड़ाता है, फिर असहाय–सा होकर खम्बे के इर्द–गिर्द लिपट जाता है।"[114]

फरवरी का महीना कितना छोटा लगता है, आया नहीं कि खत्म। उसकी तुलना चाभी वाले खिलौने से करते हुए कहते हैं – "फरवरी का महीना भी एक खिलौना ही होता है, एक बार फुदका – और बस, चाभी खत्म।"[115]

ग्लेशियर की उपमा सफेद बालों वाली बिल्ली से देते हुए लिखते हैं – "उत्तर की ओर बढ़ते हुए हमें दूर क्षितिज–रेखा पर झिलमिलाते लैग्योदूल ग्लेशियर की झलक मिल जाती थी – बर्फ़ की स्निग्ध सफ़ेदी, जैसे कोई नरम सफ़ेद बालों वाली बिल्ली औंधे मुँह लेटी धूप सेंक रही हो।"[116]

निर्मल प्रकृति का मानवीकरण भी खूब करते हैं। एक उदाहरण देखिए –

"चाँद दिखाई देता है। पूर्णिमा का पूरा चाँद, इलाहाबाद के किले पर ऊँघता हुआ।"[117]

ऐसे विवरणों के कारण ही निर्मल का गद्य बोलता हुआ-सा गद्य लगता है। निर्मल के कथा-साहित्य में विशेषण की प्रवृत्ति बहुत मिलती है। निर्मल का कथेतर साहित्य भी विशेषणों से समृद्ध है। इस संदर्भ में वह कथा-भाषा से आगे निकलती हुई दिखती है। यात्रा-विवरणों में निर्मल ने प्रकृति की सूक्ष्मता को उभारने के लिए विशेषणों का बहुतायत से प्रयोग किया है। कुछ विशेषण प्रयोग देखें - 'वासन्ती गन्ध', उजले पानी-सा ख़ामोश, राख-से सफ़ेद चेहरें, 'गुदगुदा-सा अँधेरा', 'चमकीला-सा स्वप्न'। निर्मल ने अपने गद्य में धूप के कई सारे विशेषण दिये हैं। 'पेरिसः एक स्टिल लाइफ' में धूप के तीन विशेषण देखिये जो उनकी सूक्ष्म निरीक्षण वृत्ति का परिचय देते हैं - 'छतों पर शाम की गुलाबी धूप', 'अप्रैल की वासन्ती धूप', 'कच्ची धूप में सिमटी' आदि।

संगीतात्मकता निर्मल के गद्य साहित्य की विशिष्ट पहचान है अनेक आलोचकों ने निर्मल की संगीत धर्मिता की प्रशंसा की है। जैसाकि नामवर सिंह कहते हैं - "संगीत की जैसी सूक्ष्म संवेदना निर्मल ने व्यंजित की है, वह नयी कहानी की बहुत बड़ी उपलब्धि है।"[118] यह संगीतधर्मिता निर्मल के सिर्फ कथा-गद्य में ही नहीं कथेतर-गद्य में भी है। उनका कथेतर गद्य संगीतात्मकता के कारण ही हर किसी को बहुत आकर्षक लगा है। संगीत का तत्व ही उनके सम्पूर्ण गद्य को एक विशिष्ट पहचान देता है। यह संगीतात्मकता निर्मल ने अपने गद्य को लयात्मक बनाकर अर्जित की है। लयात्मकता ही उनके गद्य में संगीत का जादू जगाती है। आरोह-अवरोह के साथ गद्य का प्रवाह, रागपूर्ण शब्दों का चयन एवं उनका वाक्य में कलात्मक विन्यास। अर्थात् कथेतर गद्य में भी संगीत की सृष्टि।

निर्मल के कथेतर शिल्प की संवाद धर्मिता और संगीतात्मकता का एक बड़ा कारण उसकी लयात्मकता है। गंभीर विचार भी राग पूर्ण शब्दों एवं उनके विशिष्ट विन्यास के कारण तरलीकृत हो उठे हैं। शब्दों का चयन एवं उनका वाक्य में संयोजन निर्मल ने इस ढंग से किया है कि उनसे लय की सृष्टि होने लगती है। इस दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण है उनका शब्द चयन। चाहे निबंध हो या डायरी। भावों को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने अनुकूल एवं संप्रेषणीय शब्दों का ही चुनाव किया है। विचारों के प्रवाह में जहाँ वाक्य

लम्बे हो गये हैं वहाँ यति चिन्हों के प्रयोग द्वारा उन्हें एक लय प्रदान की गयी है। 'आदि और अन्त' निबन्ध में यति चिन्हों के प्रयोग द्वारा लयात्मक भाषा का एक उदाहरण देखें –

"किन्तु जो विस्मृत है, वह मृत नहीं हो जाता, एक बार जो अनुभव हो चुका है, वह हमेशा बना रहता है, जीवन में नहीं तो स्मृति में, नींद में, स्वप्न में, अवचेतन में। यदि इतिहास उसे अपने छद्म उजाले से निष्कासित कर देता है तो वह आत्मा के अँधेरे में – जो असली है – शरण पा लेता है।"[119]

रागपूर्ण शब्दों के चयन द्वारा संगीत तत्व की सृष्टि का एक उदाहरण देखें, जिनके कारण निर्मल के निबंधों की भाषा बहुत आत्मीय लगती है –

"रेणु जिस आँख से दुनिया को देखते थे, उनके आँसू में वह डबडबाती हुई चमकती थी। हम जान नहीं पाते हैं कि वह दुनिया के आँसू हैं, जो रेणु की आँखों में चमक रहे हैं या रेणु की आँख है, जिसमें दुनिया डबडबा रही है। आकाश में पक्षियों की पाँत हम खेतों पर देखते हैं – उड़ती छायाओं की धूमिल रेखा। हवा में लोकगीतों का उफनता ज्वार – गर्द, माँसल, मैला – जैसा गिरते हुए पानी के ऊपर धुँआ उठता है, सफेद, फेनिल फुहार।"[120]

निर्मल के डायरी–पत्र साहित्य में शिल्प के हल्केपन की मात्रा बढ़ती गयी है। अर्थात् उसमें भाषा की सहजता साफ झलकती है। भाषा की यह सहजता उन्होंने वाक्य में भावों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति द्वारा पैदा की है। वहाँ व्याकरणिक अनुशासनों का आतंक नहीं है। उदाहरण के लिए डायरी लिखते हुए वह क्रिया पदों का कम से कम प्रयोग करते हैं। इससे भाषा, पाठक से आत्मीय एवं अनौपचारिक तो हुई ही है उसकी लयात्मकता भी बढ़ी है। एक दो उदाहरण देखें –

"बारिश की सुबह। मैं डायना आइक की 'रिलीजन क्लास' में बैठा हूँ – बौद्ध धर्म पर लेक्चर।"[121]

"सिर्फ़ एक महीना लौटने को शेष है। आतंक की विचित्र अनुभूति। अपने पर गहरा अफसोस।"[122]

"कमरे की खिड़की। गिरती हुई बर्फ़, लैंपपोस्ट के इर्द-गिर्द उसके फाए उन मच्छरों की याद दिलाते थे, जो बारिश के दिनों में दिल्ली के लैंपपोस्टरों के नीचे मँडराते हैं। चीत्कारती हुई हवा, पुलिस या एंबुलेंस या फायरब्रिगेड के हृत भेदी सायरन। मेरा गिलास खिड़की के आले पर काँपता रहता और मैं भीतर के अँधेरे से बाहर की सफेदी देखा करता....।"[123]

निर्मल के यहाँ वाक्य की लय भावों के अनुरूप हैं। जहाँ एक साथ कई भावों का विस्फोट है वहाँ वाक्य में यति चिन्हों का प्रयोग बढ़ गया है। ब्योरे देने के लिए अथवा हल्के-फुल्के क्षण में छोटे वाक्य प्रयोग किये हैं। जहाँ भावों की सघनता हैं वहाँ लम्बे वाक्य देखने को मिलते हैं विशेषता किसी अवसाद की मनःस्थिति में।

'प्रिय राम' पत्र-संग्रह में वह भाई रामकुमार को माँ की मृत्यु पर पत्र लिखते हैं। वहाँ भावों के प्रवाह में लम्बे-लम्बे वाक्य देखने को मिलते हैं -

"शायद यह एक बहुत डरावने क़िस्म की पीड़ा है जब आदमी चुप रहने के बावजूद यह महसूस करता है - कि जाने वाला व्यक्ति अपने साथ उन खास शब्दों को भी हमेशा के लिए अपने साथ ले गया है, जो केवल उनके साथ रहकर बने थे ... और जो खुद हमारे भीतर मर गये हैं या कुछ अर्से बाद मर जायेंगे।"[124]

निर्मल के वाक्य संयोजन की यह प्रमुख विशिष्टता है कि वहाँ वाक्य की प्रकृति एक जैसी नहीं मिलती। हर अवतरण में छोटे-बड़े होते वाक्य, अवतरण की एकरसता को तोड़कर उनमें आरोह-अवरोह की सृष्टि करते हैं। यह प्रवृत्ति निबंध से चलकर यात्रा-पत्र-डायरी साहित्य में क्रमशः बढ़ती गयी है। 'चीड़ों पर चाँदनी' से वाक्य की विविधता का एक उदाहरण देखें -

"हम धूप में ऊँघने लगे हैं। हवा चलती है और अजीब कोमल-सी सरसराहट होती है कानों के पास। घास, तितलियाँ-या महज़ हवा। थोर्गियर दूरबीन से बन्दरगाह की ओर देख रहे हैं। सोते हुए भी मुझे लहरों का स्वर सुनाई देता है ... जैसा कोई रो रहा है।"[125]

शब्द, मात्रा, ध्वनि एवं वाक्य की आवृत्ति द्वारा लय पैदा करने की प्रवृत्ति निर्मल के कथेतर साहित्य में भी दिखाई देती है। आखिर यही तो वह युक्तियाँ है जिनके द्वारा वैचारिक तनाव को हल्का सर्जनात्मक संस्पर्श दिया गया है। 'चीड़ो पर चाँदनी' में 'ई' मात्रा की आवृत्ति द्वारा लय का एक उदाहरण देखें -

"धुन्ध की जामुनी चादर - जो इतनी झीनी और पतली है कि उसके पीछे हर चीज़ मायावी-सी जान पड़ती है ... लहरों में भीगती, डूबती और सरसराती-सी एक अयथार्थ लोक की धुन्ध।"[126]

'शब्द और स्मृति' निबंध संग्रह के 'पत्थर और बहता पानी' शीर्षक निबंध में 'नहीं' और 'है' शब्द की आवृत्ति से वाक्य की लयात्मकता का एक उदाहरण देखिए -

"यहाँ कोई भ्रम नहीं। कोई छलावा नहीं। मनुष्य अपने से शुरु होता है, अपने में नष्ट हो जाता है। इस आत्म-केंद्रित सत्य के पीछे कोई तसल्ली नहीं, कोई दिलासा नहीं। यह क्षण ही शाश्वत है, सम्पूर्ण है, अन्तिम है। सब कुछ अभी है, यहाँ है - इसके परे सिर्फ राख है, कुछ भी नहीं।"[127]

निर्मल के कथेतर साहित्य में सूक्तियाँ भी खूब देखने को मिल जाती हैं। जीवन के गहन अनुभवों के यह निचोड़ कथेतर गद्य में अलग से चमकती रहती हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं -

"साहित्य हमें पानी नहीं देता, वह सिर्फ़ हमें अपनी प्यास का बोध कराता है।"[128]

"अपने साथ रहना कितना कठिन है।"[129]

"रचना ने सत्य देने का माध्यम है, न हमारे सत्य खोजने का लक्ष्य। वह अपने में सत्य है।"[130]

"साहित्य अकेलेपन के क्षणों में अपने से साक्षात्कार है।"[131]

"हम जिस परंपरा में जीते हैं, साँस लेते हैं, उसका बोध तब तक नहीं होता, जब तक उससे थोड़ा कट नहीं जाते।"[132]

"संस्कृति मनुष्य की आत्मचेतना का प्रदर्शन नहीं, उस सामूहिक मनीषा की उत्पत्ति है, जो व्यक्ति को एक स्तर पर दूसरे व्यक्ति से और दूसरे स्तर पर विश्व से जोड़ती है।"[133]

निर्मल के कथेतर शिल्प में विभिन्न गद्य-रूपों का संश्लेष देखने को मिलता है - निबंध, यात्रा, संस्मरण, डायरी, कहानी, पत्र यह समस्त विधाएँ आपस में घुल-मिल गई हैं। निर्मल के कथेतर साहित्य में कथा-तत्व का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। विधाओं के संश्लेष से पाठक कथेतर साहित्य में भी कथा का स्वाद पाता है। निर्मल के यात्रा-संस्मरण कहीं डायरी विधा में भी हैं, कहीं निबंध विधा में भी। उदाहरण के तौर पर देखें 'सुलगती टहनी' निबंध के रूप में 'कला का जोखिम' निबंध संग्रह में संकलित है और डायरी के रूप में 'धुंध से उठती धुन' में। वैसे भी इस निबंध में डायरी, कहानी, संस्मरण, यात्रा, रिपोर्ताज सभी विधाओं के गुण मिल जाते हैं। इसी तरह उनके पत्र-संग्रहों में यात्रा-संस्मरण एवं डायरी के गुण मिलते हैं। अपने गद्य-साहित्य में कथा और कथेतर के मिश्रण को लक्ष्य कर निर्मल लिखते हैं - "इसीलिए मैं अपने निबंधों और कहानियों में किसी तरह की फाँक नहीं देखना। दोनों की तृष्णाएँ भले ही अलग-अलग हों, शब्दों के जिस जलाशय से वे अपनी प्यास बुझाते हैं, वह एक ही हैं। निबंध मेरी कहानियों के हाशिए पर नहीं, उसके भीतर के रिक्त स्थानों को भरते हैं, जहाँ मेरी आकांक्षाएँ सोती हैं।"[134]

संक्षेप में निर्मल का कथेतर गद्य संवादधर्मी गद्य है। हल्कापन उसका गुण है। विचारों की सहजता एवं स्पष्टता के कारण शिल्प पाठक को बहुत आत्मीय लगता है। शिल्प के

हल्केपन के कारण ही निर्मल की अभिव्यक्ति संप्रेषणीय हो सकी है। विचार गांठों से मुक्त है। उनमें एक तरलता है। इसी तरह यात्रा-पत्र-डायरी-निबंध सभी विधाओं में संश्लेष भी देखने को मिलता है। इन सभी में कथा का तत्व मिल जाता है जिनके प्रति पाठक आकर्षित होता है। शब्दों का भावानुकूल चयन एवं उनका विशिष्ट वाक्य-विन्यास गद्य में लय की सृष्टि करता है। कुल मिलाकर निर्मल का कथेतर शिल्प हिंदी साहित्य में एक प्रतिमान बन गया है।

संदर्भ

1. प्रकीर्णिका, सं० बालकृष्ण राव, श्रीराम शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1995, पृ० 15-16
2. रामचन्द्र शुक्ल संचयन, सं० नामवर सिंह, साहित्य अकादमी, दिल्ली, सं० 1993, पृ० 118
3. काव्य के रूप, गुलाब राय, आत्मा राम एण्ड सन्स, दिल्ली, सं० 1970, पृ० 213
4. प्रकीर्णिका, वही, पृ० 25
5. हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं० 1992, पृ० 307
6. शब्द और स्मृति, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1976, पृ० 10
7. चीड़ों पर चाँदनी, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2007, पृ० 51
8. वही, पृ० 78
9. वही, पृ० 40
10. वही, पृ० 111
11. वही, पृ० 128
12. वही, पृ० 131
13. धुंध से उठती धुन, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1997, पृ० 190
14. रघुवंशम, कालिदास, हिन्दी व्याख्याकार श्री हरगोविन्द मिश्र, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं० 1982, पृ० 2
15. चीड़ों पर चाँदनी, वही, पृ० 126
16. हर बारिश में, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2010, पृ० 86
17. वही, पृ० 91
18. वही, पृ० 71
19. दूसरे शब्दों में, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2005, पृ० 120
20. वही, पृ० 40
21. ढलान से उतरते हुए, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1985, पृ० 97
22. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2001, पृ० 89
23. वही, पृ० 14-15
24. वही, पृ० 15
25. आदि, अन्त और आरम्भ, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2010, पृ० 195
26. वही, पृ० 195

27. वही, पृ० 122–123
28. वही, पृ० 123
29. ढलान से उतरते हुए, वही, पृ० 69
30. दूसरे शब्दों में, वही, पृ० 48
31. वही, पृ० 96
32. कला का जोखिम, निर्मल वर्मा, रामकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2001, पृ० 38
33. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, वही, पृ० 169
34. साहित्य का आत्म सत्य, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2010, पृ० 13
35. कला का जोखिम, वही, पृ० 48
36. दूसरे शब्दों में, वही, पृ० 22–23
37. वही, पृ० 23
38. शब्द और स्मृति, वही, पृ० 93
39. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, वही, पृ० 16
40. आदि, अन्त और आरम्भ, वही, पृ० 192
41. वही, पृ० 85
42. वही, पृ० 70
43. ढलान से उतरते हुए, वही, पृ० 26
44. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, वही, पृ० 100
45. आदि, अन्त और आरम्भ, वही, पृ० 52–53
46. वही, पृ० 68
47. वही, पृ० 79–80
48. दूसरे शब्दों में, वही, पृ० 86
49. ढलान से उतरते हुए, वही, पृ० 26
50. वही, पृ० 74
51. कला का जोखिम, वही, पृ० 19
52. ढलान से उतरते हुए, वही, पृ० 100
53. वही, पृ० 79
54. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, वही, पृ० 92–93
55. वही, पृ० 90
56. वही, पृ० 18–19
57. वही, पृ० 89
58. वही, पृ० 78
59. वही, पृ० 49

60. वही, पृ० 21
61. वही, पृ० 71–72
62. वही, पृ० 24
63. वही, पृ० 25
64. आदि, अन्त और आरम्भ, वही, पृ० 86
65. ढलान से उतरते हुए, वही, पृ० 78
66. वही, पृ० 76
67. शब्द और स्मृति, वही, पृ० 33
68. वही, पृ० 47
69. साहित्य का आत्म-सत्य, वही, पृ० 136–137
70. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, वही, पृ० 116–117
71. वही, पृ० 117–118
72. कला का जोखिम, वही, पृ० 59
73. आदि, अन्त और आरम्भ, वही, पृ० 138
74. कला का जोखिम, वही, पृ० 95
75. आदि, अन्त और आरम्भ, वही, पृ० 73
76. चिट्ठियों के दिन, निर्मल वर्मा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2010, पृ० 84
77. प्रिय राम, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2006, पृ० 126
78. देहरी पर पत्र, निर्मल वर्मा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2010, पृ० 31
79. प्रिय राम, वही, पृ० 36
80. वही, पृ० 63
81. वही, पृ० 84
82. वही, पृ० 19
83. चिट्ठियों के दिन, वही, पृ० 76
84. धुंध से उठती धुन, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1997, पृ० 143
85. वही, पृ० 202
86. वही, पृ० 15
87. वही, पृ० 27–28
88. वही, पृ० 187
89. वही, पृ० 179
90. वही, पृ० 143
91. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० 2057 वि०, पृ० 276

92. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, वही, पृ० 26
93. वही, पृ० 128
94. ढलान से उतरते हुए, वही, पृ० 67
95. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, वही, पृ० 92
96. वही, पृ० 98-99
97. शब्द और स्मृति, वही, पृ० 96
98. ढलान से उतरते हुए, वही, पृ० 129
99. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, वही, पृ० 136
100. चीड़ों पर चाँदनी, वही, पृ० 134
101. वही, पृ० 113
102. वही, पृ० 111
103. प्रिय राम, वही, पृ० 97
104. चिट्ठियों के दिन, वही, पृ० 76
105. देहरी पर पत्र, वही, पृ० 127
106. धुंध से उठती धुन, वही, पृ० 41
107. वही, पृ० 144
108. वही, पृ० 156
109. चीड़ों पर चांदनी, वही, पृ० 65
110. वही, पृ० 101
111. वही, पृ० 129
112. वही, पृ० 134
113. धुंध से उठती धुन, वही, पृ० 96
114. हर बारिश में, वही, पृ० 82
115. धुंध से उठती धुन, वही, पृ० 78
116. चीड़ो पर चाँदनी, वही, पृ० 77
117. धुंध से उठती धुन, वही, पृ० 139
118. कहानी : नयी कहानी, नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2008, पृ० 34
119. आदि, अन्त और आरम्भ, वही, पृ० 29
120. वही, पृ० 142-143
121. धुंध से उठती धुन, वही, पृ० 166
122. वही, पृ० 179
123. वही, पृ० 181

124. प्रिय राम, वही, पृ० 78
125. चीड़ों पर चाँदनी, वही, पृ० 56
126. वही, पृ० 64
127. शब्द और स्मृति, वही, पृ० 98
128. धुंध से उठती धुन, वही, पृ० 15
129. वही, पृ० 169
130. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, वही, पृ० 112
131. आदि, अन्त और आरम्भ, वही, पृ० 180
132. दूसरे शब्दों में, वही, पृ० 83
133. शब्द और स्मृति, वही, पृ० 63
134. आदि, अन्त और आरम्भ, वही, पृ० 197

उपसंहार

निर्मल वर्मा का हिंदी गद्य साहित्य के विकास में योगदान

गद्य आधुनिक युग के साहित्य की प्रमुख विधा है। आधुनिक साहित्य गद्य के विभिन्न रूपों में स्वयं को अभिव्यक्त कर रहा है। सामान्यत: गद्य का अर्थ है – छंदमुक्त रचना, जो यति, गति और मात्रा के नियमों से मुक्त है। पद्य की तरह लय इसमें भी होता है पर यह अनियत होती है। इसमें स्पष्ट संप्रेषण की भावना निहित होती है। वैचारिकता की प्रधानता होती है और जो बोलचाल एवं व्यावहारिक आवश्यकताओं के लिए प्रयुक्त होती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी सभ्यता, शिक्षा एवं साहित्य के प्रसार, भारतीय नवजागरण एवं छापेखाने के खुल जाने से अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी में भी गद्य साहित्य के विकास की संभावनाएँ पैदा हो गयीं। भारतेंदु युग में हिन्दी नये चाल में ढली। ब्रज भाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया। पद्य रचना के साथ-साथ गद्य रचना की प्रवृत्ति भी तेजी से विकसित हुई जिसके कारण आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल को 'गद्य-काल' की संज्ञा दी। आधुनिक काल में सशक्त विचाराभिव्यक्ति के लिए गद्य का सहारा तो लिया ही गया, उसके अनेक रूपों को भी विकसित किया गया जिनमें निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी, पत्र आदि प्रमुख हैं।

आधुनिक हिन्दी गद्य का विकास विभिन्न देशभाषाओं और बोलियों के मेल से हुआ है। इसने संस्कृत, उर्दू, दक्खिनी हिंदी, ब्रज, मैथिली, राजस्थानी, अवधी आदि के सम्मिलित प्रभावों से अपना रूप ग्रहण किया। हालांकि अपने विकास क्रम में वह क्षेत्रीय बोलियों के प्रभाव से मुक्त होती गई पर उस पर संस्कृत और उर्दू का प्रभाव बना रहा जिसका उदाहरण विभिन्न युगों के गद्य लेखकों की शैलियों पर दिखाई देता है।

भारतेंदु युग से हिन्दी गद्य की अविच्छिन्न परंपरा का सूत्रपात होता है। हालांकि भारतेंदु से पहले भी खड़ी बोली हिन्दी गद्य में रचनाएँ होती रहीं जिनमें 'राम प्रसाद निरंजनी', सदल मिश्र, इंशा अल्ला खां, मुंशी सदासुख लाल, राजा लक्ष्मण सिंह एवं शिवप्रसाद सितारे हिंद की रचनाएँ प्रमुख हैं। इन सभी रचनाकारों की भाषा में क्षेत्रीय बोलियों का पुट और व्याकरणिक अशुद्धियों की भरमार मिलती है।

भारतेंदु और उनके युग के अन्य रचनाकारों – प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवास दास, जगमोहन सिंह आदि ने भाषा को सामान्य जन की भाषा से जोड़ा। इनके गद्य में जिंदादिली और आत्मीयता मिलती है। खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को निखारने में इनका महत्वपूर्ण योगदान है। फिर भी इस युग के लेखकों में व्याकरणिक अशुद्धियों को दूर करने को लेकर कोई गंभीर प्रयास नहीं दिखता।

हिन्दी गद्य का वास्तविक निर्माण बीसवीं शताब्दी में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के द्वारा हुआ। द्विवेदी जी और उनके सहयोगियों ने भाषा का मार्जन और परिष्कार करके उसका साहित्यिक रूप स्थिर किया। इस युग के गद्य पर संस्कृत का विशेष प्रभाव है। इस गद्य में सादगी और इतिवृत्तात्मकता मिलती है।

1920–1936 के कालखण्ड में हिन्दी गद्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। हिन्दी गद्य ने द्विवेदीयुगीन नीरसता, इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति छोड़कर भावात्मकता, लालित्य और रवानी की ओर रुख किया। इस कालखण्ड में प्रसाद ने हिन्दी गद्य को काव्यात्मक बनाया तो प्रेमचंद ने गद्य को बोलचाल की लय दी। वहीं आचार्य शुक्ल ने गंभीर चिंतन को सर्जनात्मक भाषा में ढालकर प्रस्तुत किया।

सन् 1936 के बाद हिंदी गद्य में काफी विविधता देखने को मिलती है। एक ओर प्रगतिशील लेखकों का यथार्थवादी गद्य है जिसमें भाषा की सादगी, सहजता और सरलता मिलती है। इन गद्य लेखकों में यशपाल, राहुल सांस्कृत्यायन, रांगेय राघव, उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृत राय का नाम प्रमुख है। इन सभी लेखकों की अपनी विशिष्ट शैलियाँ हैं जिनसे हिंदी गद्य समृद्ध हुआ है। दूसरी ओर अर्न्तजगत की गुत्थियों को खोलता जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, हजारी प्रसाद द्विवेदी का भावात्मक–काव्यात्मक गद्य है। इनके गद्य पर संस्कृत के लालित्य का प्रभाव है।

सन् 1950 के बाद का गद्य संक्रमणकालीन यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए अपने लिए नयी भाषा का आविष्कार करता है। इस गद्य में संश्लिष्टता और जटिलता देखने को मिलती है। अपने समय के जटिलतर यथार्थ को व्यंजित करने के लिए लेखकों ने

प्रतीकों, बिंबों का सहारा लिया है। यहाँ वर्णन-कला से मुक्ति है। उसकी जगह सूक्ष्मता ने ले ली है। इसी समय आंचलिक कथाकारों की भी एक पीढ़ी सामने आती है जिनके द्वारा हिन्दी गद्य को आंचलिक भाषा के रूप में एक नयी भंगिमा प्राप्त होती है।

इस तरह हिंदी गद्य ने अपनी विकास यात्रा में कई मंजिलें तय की हैं। विभिन्न शैलियों और प्रवृत्तियों के विकास से वह खूब समृद्ध हुई है।

प्राय: गद्य की श्रेष्ठता का मूल्यांकन काव्यशास्त्रीय मापदण्डों के आधार पर ही किया जाता रहा है। हिन्दी में अब तक गद्य के मूल्यांकन का कोई शास्त्र तैयार नहीं किया जा सका है। हमने अपने शोध-प्रबंध में इसी बिन्दु पर विचार किया है।

गद्य पर काव्यात्मक प्रभाव होना नि:संदेह अच्छा है, पर काव्यात्मकता का प्रभाव इतना भी न हो कि वह 'गद्य-काव्य' में बदल जाये। गद्य में कविता का गुण उसे सूचनात्मक-इतिवृत्तात्मक गद्य से अलगाता है। गद्य में कविता का गुण भाषा की व्यंजना शक्ति से आता है। यहाँ सृजनात्मक कल्पना के वैभव से प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता और बिंबों का प्रयोग होता है। लय इस भाषा की आंतरिक प्रवृत्ति होती है। उपमा और बिंबों के प्रयोग से विचार भी दृश्य में मूर्त हो जाते हैं। लेकिन गद्य में अलंकरण एक सीमा तक ही होनी चाहिए क्योंकि अन्तत: गद्य का प्रधान लक्ष्य है संप्रेषण और इसके लिए भाषा का सहज होना जरूरी है।

एक अच्छे गद्य की कसौटी यह भी है कि उसकी भाषा यथार्थ को पुनर्सृजित कर सके। यथार्थ का पुनर्सृजन तभी संभव है जब भाषा उस परिवेश को जीवंत करने में सक्षम हो। संक्षेप में भाषा परिवेश के अनुकूल होनी चाहिए। इसी तरह गद्य की लय को भी संवेदना के अनुरूप होनी चाहिए। इससे भाषा और पाठक की अंतरंगता बढ़ती है।

गद्य में विभिन्न विधाओं का समावेश यथार्थ की जटिलता को समग्र रूप से अभिव्यक्त कर पाता है। गद्य के विभिन्न रूपों - डायरी, निबंध, कहानी, संस्मरण, यात्रावृत्त आदि में संश्लेष के कारण विचार, वर्णन और अनुभव सही अनुपात में व्यंजित होते हैं। यह संश्लेष गद्य को नीरस होने से बचाता है। उदाहरण के लिए निबंध जैसी विचारपूर्ण विधा में

कहानी जैसी अनुभूति प्रधान विधा का संश्लेष उसे तरलीकृत करता है और विचार सहज रूप से ग्राह्य होते हैं। गद्य में वाक्य-विन्यास का केन्द्रीय महत्व है। वाक्य-विन्यास में प्रयोगशीलता उसे रूढ़ता से मुक्त करती है। वाक्य में शब्दों का क्रम, उनकी आवृत्ति, एक वाक्य का दूसरे वाक्य से सम्बन्ध, विराम चिन्हों का प्रयोग, यह सभी युक्तियाँ गद्य को लयात्मक बनाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। क्रिया पदों का कम प्रयोग और अव्ययों का उचित प्रयोग भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। गद्य में वर्णन करने में आत्मसंयम रखने से वह बोझिल होने से बचता है। अनावश्यक विस्तार गद्य की लय को बाधित करता है। वर्णन न करके वर्णन को व्यंजित कर देने की क्षमता गद्य का एक प्रतिमान है। इसके लिए मितकथन, सांकेतिकता का सधा हुआ प्रयोग महत्वपूर्ण है। पर यहाँ यह ध्यान रहे इससे भाषा पर अमूर्त्तन न हावी होने पाये क्योंकि गद्य का प्रधान लक्ष्य संप्रेषण ही है। इसके लिए भाषा का स्पष्ट होना आवश्यक है। संक्षेप में मितकथन, सांकेतिकता, बिम्बात्मकता के साथ भाषा का संप्रेषणीय होना गद्य का एक श्रेष्ठ प्रतिमान है।

गद्य की यह सारी विशेषताएँ निर्मल वर्मा के गद्य-साहित्य में मिल जाती हैं। इस दृष्टि से उनका साहित्य स्वयं श्रेष्ठ गद्य का एक प्रतिमान है। निर्मल ने अपनी अनूठी भाव संवेदना और उसको व्यंजित करती जादुई भाषा से हिन्दी गद्य को अविस्मरणीय रूप से समृद्ध किया। उन्होंने अपने गद्य-साहित्य द्वारा हिन्दी गद्य को एक नई ऊँचाई दी। यह अपने आप में अभूतपूर्व है।

निर्मल ने गद्य की लगभग सभी प्रमुख विधाओं में लिखा है - कहानी, उपन्यास, निबंध, यात्रा-संस्मरण, डायरी, पत्र आदि विभिन्न विधाओं में उन्होंने अपनी संवेदना को व्यंजित किया है।

निर्मल ने अपने कथा-साहित्य में स्मृति, प्रकृति, मृत्यु, नियति, प्रेम, अकेलापन, आत्मनिर्वासन को मुख्य विषय-वस्तु बनाया है। यह सारे ही प्रसंग मनुष्य के जीवन में केन्द्रीय अर्थ रखते हैं। निर्मल के कथा-साहित्य में इन विषयों को काफी संवेदनशीलता से व्यंजित किया गया है। निर्मल की कथा में अकेलापन एक दु:स्वप्न की तरह छाया हुआ है।

उनके उपन्यास और कहानियों के पात्र अकेलेपन का दंश भोगते हुए अपनी क्रूर नियति का सामना करते हैं। वह अपने अकेलेपन को दूर करना चाहते हैं पर नियति है कि उन्हें बार-बार अकेला कर देती है। यहाँ अकेलापन उनके अस्तित्व की अपरिहार्यता बन गयी है। नियति का तीखा दंश उनके पात्रों को असाधारण रूप से कारुणिक बना देता है। उनके पात्र एक दूसरे से मिलते हैं, कुछ पल का संग-साथ होता है और फिर वे लौट आते हैं अपने शाश्वत अकेलेपन में। कहीं भवितत्वयता का बोध, कहीं मृत्यु, कहीं प्रेम का अधूरापन अलग-अलग शक्लों में अकेलापन यहाँ मौजूद है। 'परिंदे' की लतिका हो, या 'मायादर्पण' की तरन अथवा 'लालटीन की छत' की काया यह सभी अलग-अलग कारणों से अकेलेपन में जीने को विवश हैं। फिर भी वह अपने अकेलेपन को दूर करने का पूरा प्रयास करते हैं। 'वे दिन' का नैरेटर जानता है रायना का साथ कुछ ही दिनों का है फिर भी वह एक सुलगते क्षण में अँधेरे के बीच आत्मीयता की 'ताप' को पकड़ने की पूरी कोशिश करता है। अकेलेपन से मुक्ति की आकांक्षा उनकी कई कहानियों में व्यंजित है। इस दृष्टि से उनकी 'बुखार', 'दूसरी दुनिया', 'माया का मर्म', 'एक दिन का मेहमान' और उनके सारे ही उपन्यास महत्वपूर्ण हैं। निर्मल के साहित्य में स्मृति का तत्व बहुत प्रबल है। वह उनकी रचनाओं का मूलाधार है। निर्मल के पात्र जब भी अकेलेपन में भटकते हैं, स्मृति के पास चले जाते हैं। स्मृति उन्हें उनके आत्मनिर्वासन से बचाती है। स्मृति में जाना आत्म के पास जाना है। अपनी परम्परा, अपने पुरखों, अपनी जड़ों के पास जाना है। स्मृति के सहारे वह अपने अकेलेपन से लड़ते हैं। मृत्यु के कारण पैदा हुए शून्य को 'परिंदे' की लतिका और 'जाले' कहानी के पात्र स्मृति के जरिए भरते हैं। इन पात्रों के लिए स्मृति घर की तरह है। इस घर में आत्मनिर्वासन की धूप-ताप से निर्मल के पात्र अपने को बचाते हैं।

निर्मल के कथा साहित्य में मृत्यु-बोध के भी कई रूप देखने को मिल जाते हैं। कहीं वेदना, कहीं निर्वेद, कहीं विस्मय - विभिन्न रूपों में मृत्यु का विमर्श उनके साहित्य में दिखता है। 'अंतिम-अरण्य' में मृत्यु से साक्षात्कार की कथा है। 'लालटीन की छत' में किशोर जीवन का विस्मय और भय है। 'ज़िंदगी यहाँ और वहाँ', 'कव्वे और काला पानी', 'जाले', कहानियों में पुरखों की छायाएँ हैं। 'डायरी का खेल', 'किसी अलग

रोशनी में' में जिजीविषा का भाव आकर्षित करता है। और भी बहुत से प्रसंग हैं उनके कथा-साहित्य में। बेरोजगारी की यातना को लेकर लिखी गयी 'लंदन की एक रात', 'दूसरी दुनिया', 'माया का मर्म' कहानियाँ अपनी संवेदनशीलता के कारण महत्वपूर्ण हैं। आपातकाल के भयावह परिदृश्य को 'रात का रिपोर्टर' उपन्यास अभिव्यक्त करता है। 'एक चिथड़ा सुख' उपन्यास में सुख की सम्पूर्णता के तलाश में भटकते हुए कुछ अभिशप्त चरित्रों की मार्मिक कथा है।

निर्मल के गद्य-साहित्य में प्रकृति की विशिष्ट उपस्थिति है। प्रकृति उनके साहित्य में एक चरित्र की तरह जीवंत रूप में अभिव्यक्त है। कथा से लेकर कथेतर तक में प्रकृति की बहुवर्णी छवियाँ अंकित हैं। कहानी और उपन्यासों के चरित्र प्रकृति के दृश्यों में अपने खोए हुए समय की तलाश करते हैं। वह उनके अकेलेपन की साथी है। पत्तों का उड़ना, नदी का शोर, चीड़ों पर फिसलती चाँदनी, झरते हुए बर्फ़, पहाड़ पर बिखरी हुई धूप इन सबसे निर्मल के पात्रों का बहुत आत्मीय संबंध है। कथा-साहित्य ही नहीं, निर्मल के पत्र, डायरी और यात्रा-वृत्त में भी प्रकृति की महत्वपूर्ण उपस्थिति है। प्रकृति के जादुई सौंदर्य को निर्मल ने अपने कथेतर साहित्य में खूब मन से अंकित किया है। उसके हर एक परिवर्तन को, मौसम के एक-एक रंग को उन्होंने उसकी सूक्ष्मताओं को दिखाते हुए व्यंजित किया है। कैसा भी प्रसंग हो, निर्मल किसी भी जगह की यात्रा पर हों उनके साथ-साथ प्रकृति भी चलती रहती है। उनके सम्पूर्ण साहित्य में शिमला, नारकण्डा, अमरकंटक, प्राग, विएना, आइसलैंड आदि विभिन्न जगहों के भूगोल और मौसम के बहुत सजीव और अन्तरंग विवरण मिलते हैं।

प्रकृति से यह गहरा लगाव उनके निबंधों में एक अलग ही शक्ल में मिलता है। निर्मल अपने निबंध साहित्य में बार-बार 'समग्र परिवेश की पवित्रता', 'आत्म और अन्य की संकल्पना' और 'संलग्नता के सर्वव्यापी बोध' की बात उठाते हैं। दरअसल प्रकृति के राग ने ही उन्हें आत्म से अन्य के एकत्व का अनुभव कराया है। प्रकृति मनुष्य को उसके आत्म से जोड़ती है। उसके उपादान मनुष्य की परम्परा, स्मृतियों को सुरक्षित रखते हैं। भारतीय सभ्यता में मनुष्य और प्रकृति दो विरोधी सत्ताओं में बंटे न होकर एक ही अद्वैतिक

चेतना में अन्तर्निहित हैं। यहाँ सब जीव और प्राणी एक दूसरे से अन्तर्गुम्फित हैं। यहाँ 'अन्य' मनुष्य का विरोधी नहीं बल्कि उसका सहचर है उसका ही प्रतिरूप है। इसीलिए भारत ने कभी 'अन्य' को अपने शत्रु के रूप में नहीं देखा। कभी प्रकृति पर शासन नहीं किया। बल्कि उससे एक जीवंत रिश्ता बनाया। भारत का काल-बोध भी बहुत विशिष्ट है। यहाँ इतिहास का आतंक नहीं मिलता। यहाँ स्मृति का राज्य है जिसमें सब कुछ को एक साथ देखा जा सकता है। काल की अनिवार्यता से मुक्त है - यह स्मृति का राज्य। इसी कारण भारत में परम्परा कभी संग्रहालय की वस्तु नहीं बनी। परम्परा एक शाश्वत बोध है जो हर भारतीय की स्मृति में लगातार जीवित है। यहाँ परम्परा में एक अविरल प्रवाह है। निरंतरता है। इसीलिए वह कभी मृत नहीं हुई।

निर्मल अपने साहित्य में स्मृति की बहुआयामी भूमिका को लक्षित करते हैं। स्मृति से ही रचना जन्म लेती है। स्मृति मनुष्य को उसके स्वप्नों से जोड़ती है। वह उसके पहचान का क्षण है। स्मृतिहीन मनुष्य विपन्न है। स्मृतिहीनता मनुष्य के आत्मनिर्वासन का कारण बनती है। कला और साहित्य में मनुष्य की स्मृतियाँ सुरक्षित हैं। कला स्मृति के द्वारा मनुष्य के समग्र से उसके रिश्ते को मजबूत बनाती है। उनके संबंधों को गरमाई देती है। कला मनुष्य को आत्मविस्मृति से उबारती है। निर्मल कला का सत्य ही मनुष्य को उसकी स्मृतियों से जोड़ने में देखते हैं। निर्मल अपने साहित्य में कला और साहित्य की स्वायत्तता का प्रश्न प्रमुखता से उठाते हैं। वह किसी भी कलाकृति को उसके आंतरिक तत्वों के आधार पर परखने की बात करते हैं। वह इस बात पर क्षोभ प्रकट करते हैं कि आलोचक अपने पूर्वग्रहों के आधार पर कलाकृति का मूल्यांकन करता है। कला क्या कहती है वह उसे अनसुना कर देता है। वह मानते हैं लेखक को किसी खास विचारधारा का गुलाम नहीं होना चाहिए। कला के प्रति स्वयं की अन्तर्दृष्टि विकसित करनी चाहिए जो किसी भी तरह के पूर्वग्रहों से मुक्त हो।

इस तरह निर्मल ने अपने कथेतर साहित्य में जीवन, प्रकृति, कला, संस्कृति आदि के प्रश्नों पर अपना मूल्यवान चिंतन प्रस्तुत किया है।

निर्मल के साहित्य में उनकी अनुभूतियाँ बहुत जीवंत लगती हैं। यह संभव हुआ है उनके जादुई भाषा-शिल्प के द्वारा। निर्मल के यहाँ संवेदना लिखे हुए शब्द मात्र नहीं होती, वह बोलती है, साकार हो उठती हैं। निर्मल का गद्य 'बोलते हुए शब्दों का गद्य' है। इस मायने में निर्मल का गद्य अपने समकालीनों से बिल्कुल अलग है। उनका गद्य हिन्दी गद्य के विकास की एक नयी मंजिल है। निर्मल का गद्य न तो तत्समता का भावात्मक गद्य है न वर्णन का विचारपूर्ण गद्य। यह संगीतात्मकता का गद्य है। लयात्मकता और आत्मीयता इसका प्रधान गुण है। निर्मल का सम्पूर्ण गद्य ही संगीतधर्मी है। इस दृष्टि से उनका कथा और कथेतर गद्य एक जैसा है। उनमें कोई द्वैत नहीं। संगीतिक गुणों के कारण निबंध का विचारपूर्ण गद्य भी बहुत आत्मीय लगता है। निर्मल के गद्य की सांगीतिकता पैदा हुई है उसकी लयात्मकता के कारण। उनके यहाँ शब्दों का चुनाव राग की दृष्टि से किया गया है। स्वर और व्यंजन का प्रयोग संवेदना के अनुरूप है। इन ध्वनियों को वह वाक्य की संरचना में इस तरह गूंथते हैं कि वह लयात्मक प्रभाव पैदा करती है। उन्होंने कभी भी भारी भरकम शब्दों का प्रयोग नहीं किया। खड़ी बोली हिन्दी के सामान्य शब्द ही प्रयोग किये हैं। हिन्दी के अलावा अन्य भाषाओं के उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है जो वाक्य के प्रवाह में सहज ढंग से खप गये हैं। लय की सृष्टि उनके यहाँ वाक्य के विशिष्ट संयोजन द्वारा भी की गई है। एक वाक्य का दूसरे वाक्य से संबंध उनमें यति और गति का उचित प्रयोग, शब्दों की, वाक्यांशों की आवृत्ति और आरोह-अवरोह का प्रयोग लय पैदा करने की युक्तियाँ हैं। उनके यहाँ वाक्यों का क्रम एक जैसा नहीं है। वाक्य एक जैसी प्रवृत्ति के नहीं हैं। एक ही अवतरण में कहीं बिल्कुल छोटे वाक्य हैं। फिर थोड़ा बड़े। फिर छोटे। फिर एकदम से बड़े। किसी-किसी अवतरण में वाक्य पानी में उठती तरंगों की तरह लगातार बड़े होते जाते हैं। वाक्य की लय संवेदना के अनुरूप भी चलती है। हल्के-फुल्के मूड में छोटे-छोटे वाक्य हैं। भावों की सघनता लम्बे-लम्बे वाक्यों द्वारा प्रकट हुई है। निर्मल का गद्य संगीतात्मक होने के साथ-साथ आत्मीय भी है। निर्मल का गद्य समूह को लक्ष्य करके कहा गया गद्य नहीं है। वह अपने निकट आत्मीय से संवाद स्थापित करता हुआ गद्य है। उनके यहाँ बात को कहने का ढंग कुछ ऐसा है जैसे कोई बहुत आत्मीय उनके पास बैठा

है और वह बहुत हल्के स्वर में उससे कुछ कह रहे हैं। यहाँ हल्कापन ही भाषा को बहुत सहज बनाता है। सुनने वाले को भी ऐसा लगता है यह बात केवल उसी से कही जा रही है और वह निर्मल की अनुभूतियों से अन्तरंगता स्थापित कर लेता है। भाषा की इसी आत्मीयता के कारण ही वह भी निर्मल के साथ शिमला, प्राग, विएना, लंदन के दृश्यों में अपनी उपस्थिति पाता है। निर्मल के निबंध साहित्य में गद्य की आत्मीयता और संवादधर्मिता के कारण वैचारिक तेजस्विता भी बहुत शांत और संयत ढंग से अभिव्यक्त हुई है।

निर्मल के यहाँ अनुभूतियाँ जीवंत लगती हैं तो अपनी बिम्बात्मकता के कारण। बिम्बों ने ही विचार तक को दृश्य में मूर्त कर दिया है। निर्मल के साहित्य में देखना बहुत है। वह बिंबों के द्वारा एक-एक दृश्य को हूबहू साकार करते हैं। ध्वनि, वर्ण, गंध, स्पर्श आदि के विभिन्न ऐन्द्रिय बिंब कहानियों, यात्रा-वृत्तान्तों के दृश्यों और घटनाओं को सजीव रूप में आंकते हैं। निर्मल के इस भाषिक सामर्थ्य से ही हम गिरजे की घंटियों को, पियानों के स्वरों को, भागते हुए पत्तों के शोर को अपने भीतर सुनते हैं। बर्फ के धुएँ को अपनी आँखों के सामने उठता हुआ देखते हैं। चीड़ की गंध को तीक्ष्णता से महसूस करते हैं। बिंब ही नहीं विशेषण और उपमाएँ भी उनके यहाँ खूब है। कोई भी वस्तु या दृश्य साधारण दृश्य नहीं होते। धूप, चाँदनी, पहाड़, बारिश, सांझ सब के हजारों रंग हैं। यथा मैली धूप, पीली धूप, गुलाबी धूप, कच्ची धूप, गुलाबी बादल, गुदगुदा-सा अँधेरा, नीला अँधेरा, उज्ज्वल आलोक, धूमिल छाया, पतझर का हरा आलोक, साँवला-सा मैलापन, ठिठुरती धूप आदि। वह इन सब के बहुत बारीक वर्णन करते हैं। उपमाओं, विशेषणों और बिंबों का इतने बड़े कैनवास पर चित्रण हिंदी गद्य साहित्य में दुर्लभ है। इसके अलावा उनकी भाषा, संकेतों और प्रतीकों में भी खूब बात करती है। इससे उनकी भाषा को सूक्ष्म अर्थवत्ता प्राप्त हुई है और वह वर्णन के अनावश्यक विस्तार से अपने को बचा सकी है। निर्मल के शिल्प की यह सारी विशेषताएँ उनके सम्पूर्ण गद्य में देखी जा सकती हैं। कथा शिल्प जैसी समृद्धि उनके कथेतर शिल्प में भी है। उपमाएँ, बिंब, विशेषण, सूक्तियाँ, लय आदि सब कुछ निर्मल के कथेतर शिल्प में मिल जाती हैं।

निर्मल के यहाँ कथानक की संरचना भी अपने पूर्ववर्ती कथाकारों से भिन्न है। यहाँ काल की एकरेखीय गति का उल्लंघन है। इनके यहाँ प्रेमचंद जैसी कथा संरचना नहीं मिलती। प्रेमचंद के उपन्यासों में कथानक की निर्मिति एक भवन की तरह होती है। एक ईंट के बाद दूसरी ईंट। आदि मध्य और अन्त। इस तरह वह कथानक को पूर्णता की ओर ले जाते हैं। जब कि निर्मल के उपन्यासों में घटनाओं की क्रमबद्धता नहीं है। वह वर्तमान से अतीत और अतीत से वर्तमान में आवाजाही करती रहती हैं। उनके यहाँ घटनाएँ स्मृतियों के फ्रेम में घटती हैं जहाँ सब कुछ को एक साथ देखा जा सकता है। के. अयप्पा. पणिक्कर ने भारतीय कथा साहित्य के जिन दस विशिष्ट लक्षणों की चर्चा की है उनमें 'काल का नमनीयकरण' सिद्धान्त निर्मल की कथा-संरचना में देखा जा सकता है। इस तरह निर्मल की कथा संरचना में भारतीय आख्यान परम्परा का प्रभाव मिलता है।

इसके अलावा निर्मल ने अपने कथा-शिल्प में घटनाओं से अधिक अनुभूतियों को महत्त्व दिया है। उनके यहाँ कथात्मक सम्बद्धता की जगह भावात्मक सम्बद्धता मिलती है। कथा में आद्यन्त एक संवेदना विद्यमान होती है। उनके यहाँ उदासी, स्मृति, अकेलापन आदि का पूरा भाव बोध एक लहर की तरह चरित्र और परिवेश से सम्पृक्त होकर सामने आता है।

इस तरह निर्मल ने हिन्दी गद्य साहित्य को अपनी अनूठी भावसंवेदना और रचना विधान द्वारा एक नया आयाम दिया। उनका गद्य हिन्दी गद्य साहित्य के संसार में अलग से पहचाना जा सकता है। वह बिल्कुल अलग ही मिज़ाज का गद्य है जिसका परिचय हमने यहाँ उपसंहार में दिया है। अंत में निर्मल के ही शब्द उधार लेकर कहूँ तो वह 'ओस में नहाया, धूप में चकता हुआ' गद्य है।

हिन्दी गद्य के विकास में निर्मल वर्मा का यह योगदान निश्चय ही अविस्मरणीय है।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

आधार-ग्रन्थ

कहानी-संग्रह

1. निर्मल वर्मा, परिन्दे, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, सं० 2008
2. वही, जलती झाड़ी, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, सं० 2008
3. वही, पिछली गर्मियों में, राजकम प्रकाशन, नयी दिल्ली, तीसरा सं० 2004
4. वही, बीच बहस में, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा सं० 2010
5. वही, कव्वे और काला पानी, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा सं० 2007
6. वही, सूखा तथा अन्य कहानियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, सं० 2008

उपन्यास

7. निर्मल वर्मा, वे दिन, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, चौदहवां सं० 2008
8. वही, लालटीन की छत, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तृतीय सं०, 1989
9. वही, एक चिथड़ा सुख, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, सातवां सं०, 2011
10. वही, रात का रिपोर्टर, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, सं० 2009
11. वही, अंतिम अरण्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, छठवां सं०, 2011

निबंध

12. निर्मल वर्मा, शब्द और स्मृति, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, चौथा सं० 2006
13. वही, कला का जोखिम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तीसरा सं० 2001
14. वही, ढलान से उतरते हुए, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम सं० 1985
15. वही, भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय सं० 2001

16. वही, इतिहास, स्मृति, आकांक्षा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं० 2010

17. वही, आदि, अन्त और आरम्भ, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, सं० 2010

18. वही, सर्जना पथ के सहयात्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, सं० 2008

19. वही, साहित्य का आत्म-सत्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, सं० 2010

20. वही, दूसरे शब्दों में, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, चौथा सं० 2005

यात्रा-संस्मरण

21. निर्मल वर्मा, चीड़ों पर चाँदनी, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पाँचवां सं० 2007

22. वही, हर बारिश में, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पाँचवाँ सं० 2010

डायरी

23. निर्मल वर्मा, धुंध में उठती धुन, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला सं० 1997

पत्र-संग्रह

24. निर्मल वर्मा, प्रिय राम, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला सं० 2006

25. वही, देहरी पर पत्र, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० 2010

26. वही, चिट्ठियों के दिन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० 2010

सहायक-ग्रंथ

1. अज्ञेय, सर्जना और संदर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सं० 1985

2. वही, स्मृति लेखा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सं० 1986

3. वही, भारतीय कला दृष्टि, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं० 2010

4. अशोक वाजपेयी (सं०), निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं० 1990

5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सैंतीसवाँ संस्करण संवत् 2057 वि०

6. आचार्य जयशंकर त्रिपाठी, संस्कृत साहित्य – रचना का इतिहास, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, सं० 2002

7. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी, सं० 1983

8. इन्द्रनाथ मदान (सं०), हिन्दी कहानी : पहचान और परख, लिपि प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1973

9. कुमार कृष्ण, हिन्दी कथा साहित्य : परख और पहचान, विभूति प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1987

10. कुमार कृष्ण, कहानी के नये प्रतिमान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० 2005

11. केदारनाथ अग्रवाल, समय समय पर, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 1970

12. गगन गिल (सं०), संसार में निर्मल वर्मा, रेमाधव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, नोएडा, सं० 2006

13. गुलाब राय, काव्य के रूप, आत्मा राम एण्ड सन्स, दिल्ली, सं० 1970

14. जय कृष्ण प्रसाद खण्डेलवाल, लौकिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सं० 2002

15. जगन सिंह, आधुनिकता और हिंदी कहानी, प्रासंगिक प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1980

16. जबरीमल्ल पारीख (सं०), उपन्यास सिद्धांत विवेचना, छठवाँ खंड, इंदिरा गांधी मुक्त विद्यालय, दिल्ली, सं० 2002

17. डॉ० अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं० 2009

18. डॉ० कैलाश चन्द्र भाटिया, हिन्दी साहित्य की नवीन विधाएँ, यूनाइटिड बुक हाउस, दिल्ली, प्रथम सं० 1979

19. डॉ० चित्तरंजन मिश्र, डॉ० गणेश प्रसाद पांडे (सं०), कथा भूमि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 1999

20. डॉ० दंगल झाल्टे, उपन्यास समीक्षा के नये प्रतिमान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1987

21. डॉ० देवी शंकर अवस्थी, नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1998

22. डॉ० नगेन्द्र (सं०), काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः वामन, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सं० 1994

23. डॉ० नगेन्द्र (सं०), हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, तैंतीसवां संस्करण, 2006

24. डॉ० नगेन्द्र (सं०), भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सं० 2009

25. डॉ० प्रेम प्रकाश गौतम, हिन्दी गद्य का विकास, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर, सं० 1966

26. डॉ० बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे, हिन्दी गद्य के विविध साहित्य रूपों का उद्‌भव और विकास, किताब महल, इलाहाबाद, सं० 1958

27. डॉ० भगीरथ मिश्र, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, इतिहास, सिद्धान्त और वाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं० 2007

28. डॉ० भारत भूषण अग्रवाल, गद्य की पगडण्डियाँ, कपूर पब्लिकेशन्स, दिल्ली

29. डॉ० मुरारी लाल शर्मा, हिन्दी यात्रा – साहित्य : स्वरूप और विकास, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, प्रथम सं० 2003

30. डॉ० रामचन्द्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय सं० 1992

31. वही, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय सं० 1994

32. वही, हिंदी गद्य : प्रकृति और रचना संदर्भ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सं० 2004

33. वही, आधुनिक हिंदी साहित्य : विविध आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सं० 2007

34. डॉ० श्याम वर्मा, आधुनिक हिंदी गद्य शैली का विकास, ग्रन्थम, कानपुर, प्रथम सं० 1971

35. डॉ० शिवमूर्ति शर्मा, संस्कृत साहित्य का इतिहास, दया पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, सं० 2002

36. डॉ० शिवकुमार शाण्डिलय, हिन्दी भाषा और संप्रेषण प्रक्रिया, मंगला प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1984

37. नामवर सिंह, कहानी नयी कहानी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2008

38. नामवर सिंह (सं०), रामचन्द्र शुक्ल संचयन, साहित्य अकादमी, दिल्ली, सं० 1993

39. निर्मला जैन, आधुनिक साहित्य : मूल्य और मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1980

40. निर्मला जैन, काव्य चिंतन की पश्चिमी परंपरा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० 2006

41. निर्मला जैन (सं०), जैनेन्द्र रचनावली खण्ड एक, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2008

42. निर्मला जैन (सं०) महादेवी साहित्य खण्ड तीन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2007

43. नेमिचन्द्र जैन, अधूरे साक्षात्कार, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1989

44. नंद किशोर आचार्य (सं०), अन्तर्यात्रा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2003

45. वही, (सं०) अवलोकन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2003

46. वही, साहित्य का स्वभाव, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, सं० 2001

47. परमानंद श्रीवास्तव (सं०) हिन्दी गद्य मधु संचय, भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता, सं० 1990

48. परमानंद श्रीवास्तव (सं०), गोदान एक पुनर्विचार, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 1999

49. वही, उपन्यास का पुनर्जन्म, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1995

50. प्रेम सिंह (सं०), निर्मल वर्मा : सृजन और चिंतन, फिफ्थ डायमेंशन पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सं० 1989

51. प्रो० गोपाल राय, उपन्यास की संरचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० 2006

52. प्रो० माजदा असद, गद्य की नई विधाओं का विकास, ग्रंथ अकादमी, नयी दिल्ली, प्रथम सं० 1991

53. प्रो० जी गोपीनाथन (सं०), निर्मल विमर्श, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, वर्धा, प्रथम सं० 2007

54. भारत यायावर (सं०), रेणु रचनावली-2, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1999

55. मदन सोनी, कथा पुरुष, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, प्रथम सं० 2000

56. मधुकर उपाध्याय (सं०), निर्मल माया, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० 2007

57. मधुरेश, हिन्दी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय सं० 2000

58. वही, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ सं० 2008

59. वही, हिन्दी उपन्यास सार्थक की पहचान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2002

60. मुकुन्द द्विवेदी (सं०), हजारी प्रसाद द्विवेदी, चुने हुए निबंध, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1996

61. रमेश चन्द्र शर्मा, हिन्दी कहानी का सफर, प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, सं० 1982

62. रमेश चन्द्र शाह, भूलने के विरुद्ध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० 1990

63. रामविलास शर्मा, कथा विवेचना और गद्य शिल्प, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं० 1999

64. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय सं० 2006

65. राम दरश मिश्र, हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० 1968

66. रामव्यास पाण्डेय, श्री निवास शर्मा (सं०), समकालीन आलोचना के प्रतिमान, मणिमय प्रकाशन, कलकत्ता, प्रथम सं० 1974

67. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका (1757-1857), लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 1971

68. वचनदेव कुमार, संस्कृत साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सं० 1977

69. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, ओरियंटलांग्मैन, दिल्ली, सं० 2007

70. वीरभारत तलवार, सामना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2005

71. शमशेर बहादुर सिंह, कुछ और गद्य रचनाएँ, राधाकृष्ण, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1990

72. शिवदान सिंह चौहान, आलोचना के मान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2002

73. सच्चिदानंद वात्सयायन, सामाजिक यथार्थ और कथाभाषा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम सं० 1986

74. वही, अद्यतन, सरस्वती विहार प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० 1977

75. वही, संवत्सर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय सं० 1989

76. सत्यकाम, नई कहानी, नए सवाल, अनुपम प्रकाशन, पटना, प्रथम सं० 2002

77. सुल्तान अहमद, कहानीकार निर्मल वर्मा, संस्कृति प्रकाशन, अहमदाबाद, प्रथम सं० 1989

78. सुधीश पचौरी, निर्मल वर्मा और उत्तर उपनिवेशवाद, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० 2003

अंग्रेजी ग्रन्थ

1. Indian Narratology, K. Ayyappa Paniker, Indira Gandhi National Centre for the Arts, New Delhi, 2003.

पत्र-पत्रिकाएँ

1. अक्षरा, मई-जून, 2008
2. आजकल, जुलाई, 2000
3. आजकल, जनवरी, 1980
4. आजकल, जून, 1980
5. आजकल, अप्रैल, 2007
6. आजकल, अप्रैल, 2009
7. पूर्वग्रह, अंक 27-28, 1974
8. बहुवचन, अंक-92, जुलाई-सितम्बर, 2002
9. समन्वय, अंक 13-14, कार्तिक पूर्णिमा 2064
10. साक्षात्कार, मार्च 2007
11. संवेद, अप्रैल, 2006
12. शब्दयोग, दिसम्बर, 2006

शोध-प्रबंध सार

हिन्दी गद्य साहित्य के विकास में निर्मल वर्मा का योगदान

CONTRIBUTION OF NIRMAL VERMA IN THE EVOLUTION OF HINDI PROSE

शोध-निर्देशक

डॉ० रमण प्रसाद सिन्हा

शोधार्थी

संदीप कुमार जायसवाल

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2012

शोध–सार

विषय	:	**हिन्दी गद्य साहित्य के विकास में निर्मल वर्मा का योगदान** (CONTRIBUTION OF NIRMAL VERMA IN THE EVOLUTION OF HINDI PROSE)
शोध–निर्देशक	:	डॉ० रमण प्रसाद सिन्हा
शोधार्थी	:	संदीप कुमार जायसवाल
केन्द्र	:	भारतीय भाषा केन्द्र
संस्थान	:	भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान
जमा करने की तिथि	:	

संदीप कुमार जायसवाल	**डॉ० रमण प्रसाद सिन्हा**	**प्रो० राम बक्ष जाट**
शोधार्थी	शोध–निर्देशक	अध्यक्ष

अधिष्ठाता

शोध-सार

निर्मल वर्मा हिन्दी साहित्य के महत्वपूर्ण गद्यकार हैं। इनकी विशेष ख्याति नई कहानी के कहानीकार के रूप में ही अधिक है। पर इन्होंने गद्य की कई प्रमुख विधाओं में लिखा है जिनमें उपन्यास, निबंध, यात्रा-संस्मरण, पत्र, डायरी आदि उल्लेखनीय हैं। इन विभिन्न विधाओं के माध्यम से उन्होंने अपनी अनूठी भाव-संवेदना एवं भाषा का परिचय दिया है। निर्मल वर्मा के सम्पूर्ण गद्य की प्रकृति संवेदना एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से कैसी है? उनका विशिष्ट गद्य अपने पूर्ववर्ती और समकालीन गद्यकारों से कैसे अलग है? किस तरह से वह भारतेन्दु, प्रेमचंद, आदि की गद्य-परम्परा को तोड़कर अपने लिए एक नई राह चुनते हैं? हिन्दी गद्य को उन्होंने 'नया' क्या दिया है जिसके कारण उनके गद्य को अति विशिष्ट कहा जाता है। एक अच्छे गद्य की कसौटी क्या हो? और स्वयं एक अच्छे गद्य के प्रतिमानों के आधार पर निर्मल वर्मा के गद्य का मूल्यांकन कैसे हो? इन सब बिन्दुओं को आधार बनाकर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में निर्मल वर्मा के सम्पूर्ण गद्य का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है।

गद्य आधुनिक युग के साहित्य की प्रमुख विधा है। आधुनिक साहित्य गद्य के विभिन्न रूपों में स्वयं को अभिव्यक्त कर रहा है। सामान्यतः गद्य का अर्थ है - छंदमुक्त रचना, जो यति, गति और मात्रा के नियमों से मुक्त है। पद्य की तरह लय इसमें भी होता है पर यह अनियत होती है। इसमें स्पष्ट संप्रेषण की भावना निहित होती है। वैचारिकता की प्रधानता होती है और जो बोलचाल एवं व्यावहारिक आवश्यकताओं के लिए प्रयुक्त होती है।

निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी, पत्र आदि गद्य की प्रमुख विधाएँ हैं।

आधुनिक हिन्दी गद्य का विकास विभिन्न देशभाषाओं और बोलियों के मेल से हुआ है। इसने संस्कृत, उर्दू, दक्खिनी हिंदी, ब्रज, मैथिली, राजस्थानी, अवधी आदि के सम्मिलित प्रभावों से अपना रूप ग्रहण किया। हालांकि अपने विकास क्रम में वह क्षेत्रीय बोलियों के प्रभाव से मुक्त होती गई पर उस पर संस्कृत और उर्दू का प्रभाव बना रहा जिसका उदाहरण विभिन्न युगों के गद्य लेखकों की शैलियों पर दिखाई देता है।

भारतेंदु युग से हिन्दी गद्य की अविच्छिन्न परंपरा का सूत्रपात होता है। हालांकि भारतेंदु से पहले भी खड़ी बोली हिन्दी गद्य में रचनाएँ होती रहीं जिनमें 'राम प्रसाद निरंजनी', सदल मिश्र, इंशा अल्ला खां, मुंशी सदासुख लाल, राजा लक्ष्मण सिंह एवं शिवप्रसाद सितारे हिंद की रचनाएँ प्रमुख हैं। इन सभी रचनाकारों की भाषा में क्षेत्रीय बोलियों का पुट और व्याकरणिक अशुद्धियों की भरमार मिलती है।

भारतेंदु और उनके युग के अन्य रचनाकारों – प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवास दास, जगमोहन सिंह आदि ने भाषा को सामान्य जन की भाषा से जोड़ा। इनके गद्य में जिंदादिली और आत्मीयता मिलती है। खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को निखारने में इनका महत्वपूर्ण योगदान है। फिर भी इस युग के लेखकों में व्याकरणिक अशुद्धियों को दूर करने को लेकर कोई गंभीर प्रयास नहीं दिखता।

हिन्दी गद्य का वास्तविक निर्माण बीसवीं शताब्दी में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के द्वारा हुआ। द्विवेदी जी और उनके सहयोगियों ने भाषा का मार्जन और परिष्कार करके उसका साहित्यिक रूप स्थिर किया। इस युग के गद्य पर संस्कृत का विशेष प्रभाव है। इस गद्य में सादगी और इतिवृत्तात्मकता मिलती है।

1920–1936 के कालखण्ड में हिन्दी गद्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। हिन्दी गद्य ने द्विवेदीयुगीन नीरसता, इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति छोड़कर भावात्मकता, लालित्य और रवानी की ओर रुख किया। इस कालखण्ड में प्रसाद ने हिन्दी गद्य को काव्यात्मक बनाया तो प्रेमचंद ने गद्य को बोलचाल की लय दी। वहीं आचार्य शुक्ल ने गंभीर चिंतन को सर्जनात्मक भाषा में ढालकर प्रस्तुत किया।

सन् 1936 के बाद हिंदी गद्य में काफी विविधता देखने को मिलती है। एक ओर प्रगतिशील लेखकों – यशपाल, राहुल सांस्कृत्यायन, रांगेय राघव, उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृत राय का यथार्थवादी गद्य है जिसमें भाषा की सादगी, सहजता और सरलता मिलती है। इन सभी लेखकों की अपनी विशिष्ट शैलियाँ हैं जिनसे हिंदी गद्य समृद्ध हुआ है। दूसरी ओर

अर्न्तजगत की गुत्थियों को खोलता जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, हजारी प्रसाद द्विवेदी का भावात्मक-काव्यात्मक गद्य है। इनके गद्य पर संस्कृत के लालित्य का प्रभाव है।

सन् 1950 के बाद का गद्य संक्रमणकालीन यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए अपने लिए नयी भाषा का आविष्कार करता है। इस गद्य में संश्लिष्टता और जटिलता देखने को मिलती है। अपने समय के जटिलतर यथार्थ को व्यंजित करने के लिए लेखकों ने प्रतीकों, बिंबों का सहारा लिया है। यहाँ वर्णन-कला से मुक्ति है। उसकी जगह सूक्ष्मता ने ले ली है। इसी समय आंचलिक कथाकारों की भी एक पीढ़ी सामने आती है जिनके द्वारा हिन्दी गद्य को आंचलिक भाषा के रूप में एक नयी भंगिमा प्राप्त होती है।

इस तरह हिंदी गद्य ने अपनी विकास यात्रा में कई मंजिलें तय की हैं। विभिन्न शैलियों और प्रवृत्तियों के विकास से वह खूब समृद्ध हुई है।

प्राय: गद्य की श्रेष्ठता का मूल्यांकन काव्यशास्त्रीय मापदण्डों के आधार पर ही किया जाता रहा है। हिन्दी में अब तक गद्य के मूल्यांकन का कोई शास्त्र तैयार नहीं किया जा सका है। हमने अपने शोध-प्रबंध में इसी बिन्दु पर विचार किया है।

गद्य पर काव्यात्मक प्रभाव होना नि:संदेह अच्छा है, पर काव्यात्मकता का प्रभाव इतना भी न हो कि वह 'गद्य-काव्य' में बदल जाये। गद्य में कविता का गुण उसे सूचनात्मक-इतिवृत्तात्मक गद्य से अलगाता है। गद्य में कविता का गुण भाषा की व्यंजना शक्ति से आता है। यहाँ सृजनात्मक कल्पना के वैभव से प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता और बिंबों का प्रयोग होता है। लय इस भाषा की आंतरिक प्रवृत्ति होती है। उपमा और बिंबों के प्रयोग से विचार भी दृश्य में मूर्त हो जाते हैं। लेकिन गद्य में अलंकरण एक सीमा तक ही होनी चाहिए क्योंकि अन्तत: गद्य का प्रधान लक्ष्य है संप्रेषण और इसके लिए भाषा का सहज होना जरूरी है।

गद्य में विभिन्न विधाओं का समावेश यथार्थ की जटिलता को समग्र रूप से अभिव्यक्त कर पाता है। गद्य के विभिन्न रूपों - डायरी, निबंध, कहानी, संस्मरण, यात्रावृत्त

आदि में संश्लेष के कारण विचार, वर्णन और अनुभव सही अनुपात में व्यंजित होते हैं। यह संश्लेष गद्य को नीरस होने से बचाता है। उदाहरण के लिए निबंध जैसी विचारपूर्ण विधा में कहानी जैसी अनुभूति प्रधान विधा का संश्लेष उसे तरलीकृत करता है और विचार सहज रूप से ग्राह्य होते हैं। गद्य में वाक्य-विन्यास का केन्द्रीय महत्व है। वाक्य-विन्यास में प्रयोगशीलता उसे रूढ़ता से मुक्त करती है। वाक्य में शब्दों का क्रम, उनकी आवृत्ति, एक वाक्य का दूसरे वाक्य से सम्बन्ध, विराम चिन्हों का प्रयोग, यह सभी युक्तियाँ गद्य को लयात्मक बनाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। क्रिया पदों का कम प्रयोग और अव्ययों का उचित प्रयोग भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। गद्य में वर्णन करने में आत्मसंयम रखने से वह बोझिल होने से बचता है। अनावश्यक विस्तार गद्य की लय को बाधित करता है। वर्णन न करके वर्णन को व्यंजित कर देने की क्षमता गद्य का एक प्रतिमान है। इसके लिए मितकथन, सांकेतिकता का सधा हुआ प्रयोग महत्वपूर्ण है। पर यहाँ यह ध्यान रहे इससे भाषा पर अमूर्त्तन न हावी होने पाये क्योंकि गद्य का प्रधान लक्ष्य संप्रेषण ही है। इसके लिए भाषा का स्पष्ट होना आवश्यक है। संक्षेप में मितकथन, सांकेतिकता, बिम्बात्मकता के साथ भाषा का संप्रेषणीय होना गद्य का एक श्रेष्ठ प्रतिमान है।

गद्य की यह सारी विशेषताएँ निर्मल वर्मा के गद्य-साहित्य में मिल जाती हैं। इस दृष्टि से उनका साहित्य स्वयं श्रेष्ठ गद्य का एक प्रतिमान है। निर्मल ने अपनी अनूठी भाव संवेदना और उसको व्यंजित करती जादुई भाषा से हिन्दी गद्य को अविस्मरणीय रूप से समृद्ध किया। उन्होंने अपने गद्य-साहित्य द्वारा हिन्दी गद्य को एक नई ऊँचाई दी। यह अपने आप में अभूतपूर्व है।

निर्मल ने गद्य की लगभग सभी प्रमुख विधाओं में लिखा है - कहानी, उपन्यास, निबंध, यात्रा-संस्मरण, डायरी, पत्र आदि विभिन्न विधाओं में उन्होंने अपनी संवेदना को व्यंजित किया है।

निर्मल ने अपने कथा-साहित्य में स्मृति, प्रकृति, मृत्यु, नियति, प्रेम, अकेलापन, आत्मनिर्वासन को मुख्य विषय-वस्तु बनाया है। यह सारे ही प्रसंग मनुष्य के जीवन में

केन्द्रीय अर्थ रखते हैं। निर्मल के कथा-साहित्य में इन विषयों को काफी संवेदनशीलता से व्यंजित किया गया है। निर्मल की कथा में अकेलापन एक दु:स्वप्न की तरह छाया हुआ है। उनके उपन्यास और कहानियों के पात्र अकेलेपन का दंश भोगते हुए अपनी क्रूर नियति का सामना करते हैं। वह अपने अकेलेपन को दूर करना चाहते हैं पर नियति है कि उन्हें बार-बार अकेला कर देती है। यहाँ अकेलापन उनके अस्तित्व की अपरिहार्यता बन गयी है। नियति का तीखा दंश उनके पात्रों को असाधारण रूप से कारुणिक बना देता है। उनके पात्र एक दूसरे से मिलते हैं, कुछ पल का संग-साथ होता है और फिर वे लौट आते हैं अपने शाश्वत अकेलेपन में। कहीं भवितत्वयता का बोध, कहीं मृत्यु, कहीं प्रेम का अधूरापन अलग-अलग शक्लों में अकेलापन यहाँ मौजूद है। 'परिंदे' की लतिका हो, या 'मायादर्पण' की तरन अथवा 'लालटीन की छत' की काया यह सभी अलग-अलग कारणों से अकेलेपन में जीने को विवश हैं। फिर भी वह अपने अकेलेपन को दूर करने का पूरा प्रयास करते हैं। 'वे दिन' का नैरेटर जानता है रायना का साथ कुछ ही दिनों का है फिर भी वह एक सुलगते क्षण में अँधेरे के बीच आत्मीयता की 'ताप' को पकड़ने की पूरी कोशिश करता है। अकेलेपन से मुक्ति की आकांक्षा उनकी कई कहानियों में व्यंजित है। इस दृष्टि से उनकी 'बुखार', 'दूसरी दुनिया', 'माया का मर्म', 'एक दिन का मेहमान' और उनके सारे ही उपन्यास महत्वपूर्ण हैं। निर्मल के साहित्य में स्मृति का तत्व बहुत प्रबल है। वह उनकी रचनाओं का मूलाधार है। निर्मल के पात्र जब भी अकेलेपन में भटकते हैं, स्मृति के पास चले जाते हैं। स्मृति उन्हें उनके आत्मनिर्वासन से बचाती है। स्मृति में जाना आत्म के पास जाना है। अपनी परम्परा, अपने पुरखों, अपनी जड़ों के पास जाना है। स्मृति के सहारे वह अपने अकेलेपन से लड़ते हैं। मृत्यु के कारण पैदा हुए शून्य को 'परिंदे' की लतिका और 'जाले' कहानी के पात्र स्मृति के जरिए भरते हैं। इन पात्रों के लिए स्मृति घर की तरह है। इस घर में आत्मनिर्वासन की धूप-ताप से निर्मल के पात्र अपने को बचाते हैं।

निर्मल के कथा साहित्य में मृत्यु-बोध के भी कई रूप देखने को मिल जाते हैं। कहीं वेदना, कहीं निर्वेद, कहीं विस्मय - विभिन्न रूपों में मृत्यु का विमर्श उनके साहित्य में दिखता है। 'अंतिम-अरण्य' में मृत्यु से साक्षात्कार की कथा है। 'लालटीन की छत' में

किशोर जीवन का विस्मय और भय है। 'ज़िंदगी यहाँ और वहाँ', 'कव्वे और काला पानी', 'जाले', कहानियों में पुरखों की छायाएँ हैं। 'डायरी का खेल', 'किसी अलग रोशनी में' में जिजीविषा का भाव आकर्षित करता है। और भी बहुत से प्रसंग हैं उनके कथा-साहित्य में। बेरोजगारी की यातना को लेकर लिखी गयी 'लंदन की एक रात', 'दूसरी दुनिया', 'माया का मर्म' कहानियाँ अपनी संवेदनशीलता के कारण महत्वपूर्ण हैं। आपातकाल के भयावह परिदृश्य को 'रात का रिपोर्टर' उपन्यास अभिव्यक्त करता है। 'एक चिथड़ा सुख' उपन्यास में सुख की सम्पूर्णता के तलाश में भटकते हुए कुछ अभिशप्त चरित्रों की मार्मिक कथा है।

निर्मल के गद्य-साहित्य में प्रकृति की विशिष्ट उपस्थिति है। कथा से लेकर कथेतर तक में प्रकृति की बहुवर्णी छवियाँ अंकित हैं। कहानी और उपन्यासों के चरित्र प्रकृति के दृश्यों में अपने खोए हुए समय की तलाश करते हैं। वह उनके अकेलेपन की साथी है। पत्तों का उड़ना, नदी का शोर, चीड़ों पर फिसलती चाँदनी, झरते हुए बर्फ़, पहाड़ पर बिखरी हुई धूप इन सबसे निर्मल के पात्रों का बहुत आत्मीय संबंध है। कथा-साहित्य ही नहीं, निर्मल के पत्र, डायरी और यात्रा-वृत्त में भी प्रकृति की महत्वपूर्ण उपस्थिति है। उसके हर एक परिवर्तन को, मौसम के एक-एक रंग को उन्होंने उसकी सूक्ष्मताओं को दिखाते हुए व्यंजित किया है। उनके सम्पूर्ण साहित्य में शिमला, नारकण्डा, अमरकंटक, प्राग, विएना, आइसलैंड आदि विभिन्न जगहों के भूगोल और मौसम के बहुत सजीव और अन्तरंग विवरण मिलते हैं।

प्रकृति से यह गहरा लगाव उनके निबंधों में एक अलग ही शक्ल में मिलता है। निर्मल अपने निबंध साहित्य में बार-बार 'समग्र परिवेश की पवित्रता', 'आत्म और अन्य की संकल्पना' और 'संलग्नता के सर्वव्यापी बोध' की बात उठाते हैं। दरअसल प्रकृति के राग ने ही उन्हें आत्म से अन्य के एकत्व का अनुभव कराया है। प्रकृति मनुष्य को उसके आत्म से जोड़ती है। उसके उपादान मनुष्य की परम्परा, स्मृतियों को सुरक्षित रखते हैं। भारतीय सभ्यता में मनुष्य और प्रकृति दो विरोधी सत्ताओं में बंटे न होकर एक ही अद्वैतिक चेतना में

अन्तर्निहित हैं। यहाँ सब जीव और प्राणी एक दूसरे से अन्तर्गुम्फित हैं। यहाँ 'अन्य' मनुष्य का विरोधी नहीं बल्कि उसका सहचर है उसका ही प्रतिरूप है। इसीलिए भारत ने कभी 'अन्य' को अपने शत्रु के रूप में नहीं देखा। कभी प्रकृति पर शासन नहीं किया। बल्कि उससे एक जीवंत रिश्ता बनाया। भारत का काल-बोध भी बहुत विशिष्ट है। यहाँ इतिहास का आतंक नहीं मिलता। यहाँ स्मृति का राज्य है जिसमें सब कुछ को एक साथ देखा जा सकता है। काल की अनिवार्यता से मुक्त है - यह स्मृति का राज्य। इसी कारण भारत में परम्परा कभी संग्रहालय की वस्तु नहीं बनी। परम्परा एक शाश्वत बोध है जो हर भारतीय की स्मृति में लगातार जीवित है।

निर्मल अपने साहित्य में स्मृति की बहुआयामी भूमिका को लक्षित करते हैं। स्मृति से ही रचना जन्म लेती है। स्मृति मनुष्य को उसके स्वप्नों से जोड़ती है। वह उसके पहचान का क्षण है। स्मृतिहीनता मनुष्य के आत्मनिर्वासन का कारण बनती है। कला और साहित्य में मनुष्य की स्मृतियाँ सुरक्षित हैं। कला स्मृति के द्वारा मनुष्य के समग्र से उसके रिश्ते को मजबूत बनाती है। कला मनुष्य को आत्मविस्मृति से उबारती है। निर्मल कला का सत्य ही मनुष्य को उसकी स्मृतियों से जोड़ने में देखते हैं। निर्मल अपने साहित्य में कला और साहित्य की स्वायत्तता का प्रश्न प्रमुखता से उठाते हैं। वह किसी भी कलाकृति को उसके आंतरिक तत्वों के आधार पर परखने की बात करते हैं। वह इस बात पर क्षोभ प्रकट करते हैं कि आलोचक अपने पूर्वग्रहों के आधार पर कलाकृति का मूल्यांकन करता है। कला क्या कहती है वह उसे अनसुना कर देता है। वह मानते हैं लेखक को किसी खास विचारधारा का गुलाम नहीं होना चाहिए। कला के प्रति स्वयं की अन्तर्दृष्टि विकसित करनी चाहिए जो किसी भी तरह के पूर्वग्रहों से मुक्त हो।

इस तरह निर्मल ने अपने कथेतर साहित्य में जीवन, प्रकृति, कला, संस्कृति आदि के प्रश्नों पर अपना मूल्यवान चिंतन प्रस्तुत किया है।

निर्मल के साहित्य में उनकी अनुभूतियाँ बहुत जीवंत लगती हैं। यह संभव हुआ है उनके जादुई भाषा-शिल्प के द्वारा। निर्मल का गद्य 'बोलते हुए शब्दों का गद्य' है। इस

मायने में निर्मल का गद्य अपने समकालीनों से बिल्कुल अलग है। उनका गद्य हिन्दी गद्य के विकास की एक नयी मंजिल है। निर्मल का गद्य न तो तत्समता का भावात्मक गद्य है न वर्णन का विचारपूर्ण गद्य। यह संगीतात्मकता का गद्य है। लयात्मकता और आत्मीयता इसका प्रधान गुण है। निर्मल का सम्पूर्ण गद्य ही संगीतधर्मी है। इस दृष्टि से उनका कथा और कथेतर गद्य एक जैसा है। उनमें कोई द्वैत नहीं। संगीतिक गुणों के कारण निबंध का विचारपूर्ण गद्य भी बहुत आत्मीय लगता है। निर्मल के गद्य की सांगीतिकता पैदा हुई है उसकी लयात्मकता के कारण। उनके यहाँ शब्दों का चुनाव राग की दृष्टि से किया गया है। स्वर और व्यंजन का प्रयोग संवेदना के अनुरूप है। इन ध्वनियों को वह वाक्य की संरचना में इस तरह गूंथते हैं कि वह लयात्मक प्रभाव पैदा करती है। उन्होंने कभी भी भारी भरकम शब्दों का प्रयोग नहीं किया। खड़ी बोली हिन्दी के सामान्य शब्द ही प्रयोग किये हैं। हिन्दी के अलावा अन्य भाषाओं के उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है जो वाक्य के प्रवाह में सहज ढंग से खप गये हैं। लय की सृष्टि उनके यहाँ वाक्य के विशिष्ट संयोजन द्वारा भी की गई है। एक वाक्य का दूसरे वाक्य से संबंध उनमें यति और गति का उचित प्रयोग, शब्दों की, वाक्यांशों की आवृत्ति और आरोह-अवरोह का प्रयोग लय पैदा करने की युक्तियाँ हैं। उनके यहाँ वाक्यों का क्रम एक जैसा नहीं है। वाक्य एक जैसी प्रवृत्ति के नहीं हैं। एक ही अवतरण में कहीं बिल्कुल छोटे वाक्य हैं। फिर थोड़ा बड़े। फिर छोटे। फिर एकदम से बड़े। किसी-किसी अवतरण में वाक्य पानी में उठती तरंगों की तरह लगातार बड़े होते जाते हैं। वाक्य की लय संवेदना के अनुरूप भी चलती है। हल्के-फुल्के मूड में छोटे-छोटे वाक्य हैं। भावों की सघनता लम्बे-लम्बे वाक्यों द्वारा प्रकट हुई है। निर्मल का गद्य संगीतात्मक होने के साथ-साथ आत्मीय भी है। निर्मल का गद्य समूह को लक्ष्य करके कहा गया गद्य नहीं है। वह अपने निकट आत्मीय से संवाद स्थापित करता हुआ गद्य है। उनके यहाँ बात को कहने का ढंग कुछ ऐसा है जैसे कोई बहुत आत्मीय उनके पास बैठा है और वह बहुत हल्के स्वर में उससे कुछ कह रहे हैं। यहाँ हल्कापन ही भाषा को बहुत सहज बनाता है। सुनने वाले को भी ऐसा लगता है यह बात केवल उसी से कही जा रही है और वह निर्मल की अनुभूतियों से अन्तरंगता स्थापित कर लेता है। निर्मल के निबंध साहित्य में गद्य की

आत्मीयता और संवादधर्मिता के कारण वैचारिक तेजस्विता भी बहुत शांत और संयत ढंग से अभिव्यक्त हुई है।

निर्मल के यहाँ अनुभूतियाँ जीवंत लगती हैं तो अपनी बिम्बात्मकता के कारण। बिम्बों ने ही विचार तक को दृश्य में मूर्त कर दिया है। निर्मल के साहित्य में देखना बहुत है। वह बिंबों के द्वारा एक-एक दृश्य को हूबहू साकार करते हैं। ध्वनि, वर्ण, गंध, स्पर्श आदि के विभिन्न ऐन्द्रिय बिंब कहानियों, यात्रा-वृत्तान्तों के दृश्यों और घटनाओं को सजीव रूप में आंकते हैं। बिंब ही नहीं विशेषण और उपमाएँ भी उनके यहाँ खूब है। कोई भी वस्तु या दृश्य साधारण दृश्य नहीं होते। धूप, चाँदनी, पहाड़, बारिश, सांझ सब के हजारों रंग हैं। यथा मैली धूप, पीली धूप, गुलाबी धूप, कच्ची धूप, गुलाबी बादल, गुदगुदा-सा अँधेरा, नीला अँधेरा, उज्ज्वल आलोक, धूमिल छाया, पतझर का हरा आलोक, साँवला-सा मैलापन, ठिठुरती धूप आदि। वह इन सब के बहुत बारीक वर्णन करते हैं। उपमाओं, विशेषणों और बिंबों का इतने बड़े कैनवास पर चित्रण हिंदी गद्य साहित्य में दुर्लभ है। इसके अलावा उनकी भाषा, संकेतों और प्रतीकों में भी खूब बात करती है। इससे उनकी भाषा को सूक्ष्म अर्थवत्ता प्राप्त हुई है और वह वर्णन के अनावश्यक विस्तार से अपने को बचा सकी है। निर्मल के शिल्प की यह सारी विशेषताएँ उनके सम्पूर्ण गद्य में देखी जा सकती हैं। कथा शिल्प जैसी समृद्धि उनके कथेतर शिल्प में भी है। उपमाएँ, बिंब, विशेषण, सूक्तियाँ, लय आदि सब कुछ निर्मल के कथेतर शिल्प में मिल जाती हैं।

निर्मल के यहाँ कथानक की संरचना भी अपने पूर्ववर्ती कथाकारों से भिन्न है। यहाँ काल की एकरेखीय गति का उल्लंघन है। इनके यहाँ प्रेमचंद जैसी कथा संरचना नहीं मिलती। प्रेमचंद के उपन्यासों में कथानक की निर्मिति एक भवन की तरह होती है। एक ईंट के बाद दूसरी ईंट। आदि मध्य और अन्त। इस तरह वह कथानक को पूर्णता की ओर ले जाते हैं। जब कि निर्मल के उपन्यासों में घटनाओं की क्रमबद्धता नहीं है। वह वर्तमान से अतीत और अतीत से वर्तमान में आवाजाही करती रहती हैं। उनके यहाँ घटनाएँ स्मृतियों के फ्रेम में घटती हैं जहाँ सब कुछ को एक साथ देखा जा सकता है।

इसके अलावा निर्मल ने अपने कथा-शिल्प में घटनाओं से अधिक अनुभूतियों को महत्त्व दिया है। उनके यहाँ कथात्मक सम्बद्धता की जगह भावात्मक सम्बद्धता मिलती है। कथा में आद्यन्त एक संवेदना विद्यमान होती है। उनके यहाँ उदासी, स्मृति, अकेलापन आदि का पूरा भाव बोध एक लहर की तरह चरित्र और परिवेश से सम्पृक्त होकर सामने आता है।

इस तरह निर्मल ने हिन्दी गद्य साहित्य को अपनी अनूठी भावसंवेदना और रचना विधान द्वारा एक नया आयाम दिया। उनका गद्य हिन्दी गद्य साहित्य के संसार में अलग से पहचाना जा सकता है। वह बिल्कुल अलग ही मिज़ाज का गद्य है जिसका परिचय हमने यहाँ उपसंहार में दिया है। अंत में निर्मल के ही शब्द उधार लेकर कहूँ तो वह 'ओस में नहाया, धूप में चकता हुआ' गद्य है।

हिन्दी गद्य के विकास में निर्मल वर्मा का यह योगदान निश्चय ही अविस्मरणीय है।